ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन

(A Critical Study Of The Philosophical Hymns In Ṛgveda)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता
मुरलीमनोहर पाठक
प्राध्यापक,
संस्कृत - प्राध्ययनकेन्द्र,
विक्रम - विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म. प्र.)

निर्देशक
डॉ. हरिशङ्कर त्रिपाठी
रीडर,
संस्कृत - विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद (उ. प्र.)

संस्कृत - विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
1994

किञ्चिद् वाचिकम्

त्रिवेणीसङ्गमे पुण्ये यत्र स्नातोऽस्मि विद्यया ।
प्रयागं तीर्थराजं तं सन्नतः प्रणमाम्यहम् ।।
सैषोज्जयिनी पूज्या देवो यत्रास्ति महाकालकलः ।
कृष्णस्य पाठभूमिः सान्दीपनिसङ्गता धन्या ।।

बाल्यावस्था में पूज्य पितामह आचार्यप्रवर पण्डित जयराम पाठक के उत्सङ्ग में क्रीडापूर्वक "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" प्रभृति जिन वाक्यों को मैंने हृदयङ्गम किया था, उनके परिणामस्वरूप प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करते हुए मुझे चैतसिक आनन्दानुभूति हो रही है । गहन, गभीर वेदसागर को पार करते समय सुकल्प प्लवकल्प मेरे गुरु महान् वेदविद् पूज्य डॉ. हरिशङ्कर त्रिपाठी जी का निरन्तर स्नेह एवं साहाय्य प्राप्त होता रहा । उनकी कृपा तथा मार्गदर्शन के अभाव में यह कार्य सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं था । इन क्षणों में विनम्र प्रणतिपूर्वक उनके आशीराशि की अपेक्षा करता हूँ । संस्कृत–विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अवकाशप्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष, गुरुवर डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव तथा साम्प्रतिक अध्यक्ष पूज्य प्रो. डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे का स्नेह सदैव प्राप्त होता रहा है । इनके अतिरिक्त अन्य विभागीय गुरुओं – डॉ. राजेन्द्र मिश्र (सम्प्रति आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत–विभाग, शिमला विश्वविद्यालय), डॉ. राजकुमार शुक्ल, स्व. डॉ. महावीर प्रसाद लखेड़ा तथा डॉ. चन्द्रभूषण मिश्र प्रभृति के प्रति आभार–कुसुमाञ्जलि अर्पित करता हूँ ।

प्रबन्धपूर्त्ति में नानाविध सहयोग प्रदान करने वाले अपने दार्शनिक मित्र डॉ. अशोक कुमार पाण्डेय के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना उनके असीम स्नेह एवं सौहार्द को अस्वीकार करना होगा । दर्शन–विभाग के ही अपने मित्र (डॉ.) दीपनारायण यादव का स्नेह भी मैं भुला नहीं सकता । मेरे अनुज आनन्द ने प्रारम्भ से ही पुस्तकें एकत्र करने तथा कार्यालयीय कार्यों में प्रभूत सहयोग किया है। उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध अनेक कारणों से प्रयाग में निवास करते समय पूर्ण नहीं हो सका था । उज्जैन के संस्कृत–प्राध्ययन केन्द्र में प्राध्यापक होने के बाद अध्ययन–अध्यापनादि में व्यापृत रहने के कारण यह कार्य स्थगित हो गया । उज्जैन आने के साथ ही परम पूज्य आचार्य डॉ. बच्चूलाल जी

अवस्थी तथा संस्कृत–प्राध्ययन केन्द्र के आचार्य एवं अध्यक्ष (सम्प्रति अवकाशप्राप्त) प्रो. श्रीनिवास रथ ने शोधपूर्त्ति–हेतु सतत प्रेरित करते हुए उत्साहवर्द्धन किया । इन दोनों आचार्यों, का मैं श्रद्धापूर्वक अभिवादन करता हूँ । संस्कृत–प्राध्ययन केन्द्र के मेरे वरिष्ठ सहयोगियों – डॉ. केदारनारायण जोशी, डॉ. सोमनाथ नेने तथा डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र "विनय" ने निरन्तर, शोध पूर्ण करने के लिए प्रोत्साहित किया है । डॉ. नेने ने तो टङ्कण के पूर्व प्रायः सम्पूर्ण प्रबन्ध की पाण्डुलिपि देखकर अनेक आवश्यक सुझाव दिये । डॉ. मिश्र ने भी यथासमय अपेक्षित सहयोग किया । इन सबके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ । मेरठ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में रीडर श्रद्धेय डॉ. सुधाकराचार्य जी त्रिपाठी समय–समय पर उत्साहित करते रहे हैं । मुझे विश्वास है, मेरे कार्य की पूर्णता जानकर वे अवश्य प्रसन्न होंगे ।

प्रारम्भ में इस शोध–प्रबन्ध को अंग्रेजी माध्यम से लिखने की इच्छा थी, किन्तु मेरे श्वसुर स्व. श्री सभानन्द उपाध्याय ने हिन्दी में लिखने–हेतु प्रेरित किया । मेरे पूज्य पिता स्व. गौरहरि श्री मदनमोहन पाठक सदैव शोध–पूर्त्ति–हेतु प्रोत्साहित किया करते थे । उक्त दोनों गुरुजनों को नमोवाक् पूर्वक स्मरण कर रहा हूँ ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा कनिष्ठ एवं वरिष्ठ अध्येतावृत्ति प्राप्त करते रहने से मुझे किसी भी प्रकार के आर्थिक सङ्कट का सामना नहीं करना पड़ा । एतदर्थ मैं आयोग को धन्यवाद देता हूँ । संस्कृत–बहुल प्रबन्ध को टङ्कित करने में श्री अतुल सोहळे ने दत्तचित्त होकर कठिन परिश्रम किया, अतः वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं । अन्ततः विस्तरभय से अपने जिन मित्रों, सहयोगियों तथा शुभेच्छुओं का नाम नहीं ले पाया हूँ, उन्हें भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हुए "किञ्चिद् वाचिकम्" को विराम देता हूँ ।

सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ।

मुरलीमनोहर पाठक

(मुरलीमनोहर पाठक)

अ नु क्र म णि का

प्ररोचना

वेद न केवल भारतीय, अपितु विश्व–साहित्य के अनुपम एवं अक्षय कोश हैं । वेद का वेदत्व इसी में है कि जो ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणों के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सके, उसे वेद द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है ।[1] "वेद" शब्द की निष्पत्ति सामान्यत:अदादिगण में पठित ज्ञानार्थक "विद्" धातु से करण के अर्थ में "घञ्" प्रत्यय के योग से मानी जाती है । इस दृष्टि से वेद, ज्ञान के साधन के रूप में प्रतिष्ठित हैं । भाव के अर्थ में "घञ्" प्रत्यय करने पर वेद साक्षात् ज्ञानस्वरूप हैं । गीता के अनुसार वेदों का प्रतिपाद्य परमात्मतत्त्व ही है ।[2]स्वामी दयानन्द सरस्वती ने "वेद" शब्द को ज्ञान, विचार, सत्ता तथा लाभ – इन चारों अर्थों में पठित "विद्" धातु से निष्पन्न माना है । उनके अनुसार जिनसे सभी मनुष्य सत्य विद्या को जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं, अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान् होते हैं अथवा सत्यविद्या की प्राप्ति–हेतु जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं ।[3] चाहे किसी भी अर्थ वाले "विद्" धातु से "वेद" शब्द को निष्पन्न माना जाए, इससे इसकी महत्ता में कोई न्यूनता नहीं आती है ।

आपस्तम्ब ने वेद के अन्तर्गत मन्त्र तथा ब्राह्मण का ग्रहण किया है ।[4] ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चार संहिताएँ मन्त्रात्मक वेद के रूप में हैं । जिनमें मन्त्रों की व्याख्या तथा यज्ञ की विधि इत्यादि का निर्देश होता है, उन्हें ब्राह्मण के नाम से जाना जाता है । ब्राह्मण के ही तीन भाग – ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं । उपासनाकाण्ड को आरण्यक तथा ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं । इस प्रकार वेद (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वेद के रूप में माने जाते रहे हैं । कालान्तर में "वेद" शब्द का व्यवहार केवल संहिता भाग के लिए किया जाने लगा । ब्राह्मण,

---

1. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
   एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।। सायण – ऋग्वेदभाष्य–भूमिका
2. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । श्रीमद्भगवद्गीता 15.15.
3. विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते, लभन्ते, विन्दन्ति, विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः ।
   सरस्वती, स्वामी दयानन्द–ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका.
4. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । आपस्तम्बपरिभाषा 1.33.

आरण्यक और उपनिषद् आदि वेद की मर्यादा के अन्तर्गत होते हुए भी मूल वेदों से पृथक् माने गए । आचार्य सायण ने स्वयं मन्त्रात्मक वेद को ब्राह्मणों से प्रधान माना है ।[1] यद्यपि इससे ब्राह्मणादि के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती है, क्योंकि इनके सम्यक् अध्ययन के बिना संहिताओं को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है ।

चारों संहिताओं में ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है । यह विश्व-साहित्य की प्राचीनतम कृति है । इसे भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन के मूल स्रोत के रूप में माना जाता है । अपनी प्राचीनता एवं वैशिष्ट्यों के कारण यह न केवल हिन्दुओं या भारतीयों की वस्तु है, अपितु सम्पूर्ण विश्व के ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक निधि के रूप में प्रतिष्ठित है । तैत्तिरीय संहिता में ऋग्वेद का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है - "साम तथा यजुष् के द्वारा किया गया याज्ञिक अनुष्ठान शिथिल होता है, किन्तु ऋक् द्वारा किया गया दृढ़ होता है ।[2] डॉ. राधाकृष्णन् किसी भी भारतीय विचारधारा के सही ज्ञान के लिए ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन आवश्यक मानते हैं ।[3] लुई रेनु ने भी ऋग्वेद को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है ।[4]

शाब्दिक व्युत्पत्ति (अर्च्यते ऋच्यते अनया सा ऋक्) के अनुसार "ऋक्" उस मन्त्र को कहते हैं, जिससे स्तुति की जाती है । निरुक्तकार यास्क भी ऋचाओं को शंसनात्मक या स्तुतिपरक मानते हैं ।[5] जैमिनि के अनुसार अर्थवशात् व्यवस्थित पादों वाली रचना ऋक् है ।[6] इससे ऋक् की छन्दोबद्धता प्रमाणित होती है । उव्वटाचार्य का भी यही मन्तव्य है ।[7] विषय की दृष्टि से विचार करने पर ऋग्वेद के सूक्तों में मुख्यतः श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक की गई देवताओं की स्तुतियाँ ही दृष्टिगत

---

1. यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानस्वरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः । सायण - तैत्तिरीयसंहिता की भाष्य-भूमिका.
2. यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तत्, यद् ऋचा तद् दृढमिति ।
तैत्तिरीय संहिता 6.5.10.3.
3. राधाकृष्णन्, डॉ. सर्वपल्ली - इण्डियन फिलॉसॉफी (हिन्दी अनुवाद) भाग 1, पृष्ठ 66.
4. रेनु लुई - वैदिक इण्डिया, पृष्ठ 2.
5. ऋग्भिः शंसन्ति । निरुक्त 13.7.
6. तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । जैमिनीयसूत्र - 2.1.35.
7. नियताक्षरपादावसाना ऋक् । उव्वट - शुक्ल यजुर्वेद-संहिता 1.1.

होती हैं । अतः इसके विषय को मूलतः धर्म एवं अध्यात्म द्वारा अनुप्राणित कहा जा सकता है । स्तुत्यात्मक होने से ऋग्वेद का यज्ञों के साथ गहरा सम्बन्ध है । विभिन्न यज्ञों में ही देवताओं का आह्वान कर उनकी स्तुति करने का विधान है । इस प्रकार के आह्वानयोग्य देवताओं में अग्नि, सूर्य, उषा, इन्द्र, मरुत्, पर्जन्य, यम, पृथिवी, द्यौः, बृहस्पति, वाक्, सोम इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं । अनेक सूक्तों में विभिन्न देवताओं को "विश्वेदेवाः" के रूप में एक साथ आहूत कर उनकी स्तुति की गई है । वस्तुस्थिति यह है कि ये देवता न केवल देव हैं, अपितु किसी न किसी रूप में प्राकृतिक पदार्थ या दृश्य के मूर्त्त रूप हैं । इन देवताओं के कुछ निजी वैशिष्ट्य भी हैं । उदाहरणार्थ – अग्नि को मुख्यतः प्रकाशक, गृहपति तथा यज्ञ में हवन किये गए हविष्य को देवताओं तक प्रेषित करने वाला माना गया है । इन्द्र को शक्ति, युद्ध, वज्रपात तथा असुरों का नाश करने वाले देव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । इसी प्रकार पर्जन्य वृष्टि का तथा वरुण दण्ड का देवता है । गुणों की दृष्टि से प्रायः सभी देवताओं में तेज, शक्ति, दान, दया इत्यादि गुण सामान्य रूप से परिलक्षित होते हैं । इन देवताओं को मानव के रूप में चित्रित किया गया है । इनके विभिन्न अङ्गों, रथ, अस्त्र तथा गृह इत्यादि की सुन्दर कल्पना की गई है । इन देवों का प्रिय भोज्य पदार्थ हविष्य है । ये सोमप्रिय भी हैं । अतः विभिन्न यज्ञों में हविष्य एवं सोम का ग्रहण करके ये यज्ञ–कर्त्ताओं को धन–पुत्रादि प्रदान करते हैं ।

ऋग्वेद में मन से सम्बद्ध कुछ देवों की भी भावना की गई है । इनमें प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, दक्षिणा इत्यादि प्रमुख हैं । अप्सरा, गन्धर्व तथा ऋभु नामक सामान्य या द्वितीय कोटि के देवताओं के नाम एवं स्तुतियाँ भी ऋग्वेद में उपलब्ध होती हैं । वहाँ आए "दास" या "दस्यु" शब्द से आदिवासियों के सङ्केत प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार शासन–प्रणाली पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राजा का पद उच्च एवं परम्परागत माना जाता था । इन सभी बातों के अतिरिक्त हमें ऋग्वेद में दानस्तुतियाँ, द्यूतक्रीडा से सम्बद्ध सूक्त, कुछ आख्यान, यज्ञ–अवसर पर पूछी जाने वाली पहेलियाँ तथा ग्रामीणों के रोग–निवारणार्थ कुछ विशेष प्रकार के सूक्त भी उपलब्ध होते हैं ।

ऋग्वेद के उक्त प्रतिपाद्यों के आलोक में एक बात स्पष्टतः परिलक्षित होती है कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि अत्यन्त व्यापक एवं स्पष्ट है । उन्होंने जीवन के सार्वभौम सत्यों का साक्षात्कार किया है । यही कारण है कि अन्य संहिताओं में अधिकतर ऋग्वेद की ऋचाओं की पुनरावृत्ति की

गई है । भारतीय चिन्तनधारा में ऋग्वेद का आधारभूत महत्त्व है तथा इसके अध्ययन से मात्र वैदिक ऋषियों की दृष्टि का ही ज्ञान हमें नहीं प्राप्त होता, अपितु परवर्त्ती संहिताओं तथा उपनिषदों के तथ्यों का भी ज्ञान प्राप्त होता है । उपनिषदों की अनेक धारणाएँ वैदिक तत्त्वों के क्रमिक विकास के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं । यदि इनका सम्यक् परिशीलन किया जाए, तो हमें इनकी गम्भीरता का अवबोध होता है । ऋग्वेद की, आदिम मानव के व्यक्त विचारों, अथ च प्राकृतिक दृष्टि से की गई व्याख्या से इसकी गम्भीरता एवं परिनिष्ठित बौद्धिकता का परिज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता । अतः इसकी तात्त्विक समीक्षा की आवश्यकता है । आधुनिक युग में अनेक विद्वानों ने इसका तत्त्वपरक परिशीलन किया है । इस दृष्टि से श्री अरविन्द की आध्यात्मिक व्याख्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसी शृङ्खला में महामहोपाध्याय पण्डित मधुसूदन ओझा जी ने वेद में विज्ञान की सुन्दर उपपत्ति की है । वे वेद को सृष्टिविद्या या सृष्टिविज्ञान के रूप में मानते हैं । उन्होंने याज्ञिक परम्परा की भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है । उनकी मौलिक धारणाओं का पल्लवन हमें महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की रचनाओं में दृष्टिगत होता है । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल सदृश चिन्तकों ने भी वेद–विद्या की समुचित व्याख्या की है । इस दृष्टि से पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक तथा सत्यव्रत सामश्रमी प्रभृति आचार्यों का अवदान भी महत्त्वपूर्ण है ।

शोधकर्त्ता को स्नातक कक्षाओं में प्रथमतः दर्शनशास्त्र तथा वेद के कुछ सूक्तों का अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । पुरुष (ऋग्वेद 10.90), हिरण्यगर्भ (ऋग्वेद 10.121) तथा वाक् (ऋग्वेद 10.125) प्रभृति सूक्तों ने अपनी दार्शनिक महत्ता से विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया । स्नातकोत्तर कक्षा वेद संवर्ग लेकर उत्तीर्ण करते–करते वैदिक दार्शनिकता ने हृदय में अपना स्थान सुनिश्चित कर लिया । परिणामतः "ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का आलोचनात्मक अध्ययन" विषयक शोध–प्रबन्ध लिखने हेतु पञ्जीयन करा लिया गया । अध्ययन के लिए दार्शनिक सूक्तों का चयन करते समय पूरे ऋग्वेद का अवलोकन करने पर यह ज्ञात हुआ कि ऋग्वेद का प्रत्येक सूक्त कोई न कोई रहस्य अवश्य उद्घाटित करता है, अतः सम्पूर्ण ऋग्वेद ही रहस्यात्मक, किंवा दार्शनिक है । ऐसी स्थिति में एक शोध–प्रबन्ध के रूप में पूरे ऋग्वेद की दार्शनिक व्याख्या तथा समीक्षा कर पाना अत्यन्त दुष्कर होने के कारण यह विचार किया गया कि मात्र उन्हीं सूक्तों का चयन किया जाए, जिनका वाच्यार्थ भी दार्शनिक है । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ऋग्वेद के नासदीय (10129), पुरुष (10.90), हिरण्यगर्भ (10.121) तथा वाक् (10.125) सूक्तों को दार्शनिक गम्भीरता, प्रातिभ अनुभूति

तथा नवीन कल्पना के कारण नितान्त प्रसिद्ध माना है ।[1] डॉ.दयानन्द भार्गव भी इन्हीं सूक्तों में दार्शनिक चिन्तन के बीज की उपलब्धि स्वीकार करते हैं ।[2] अतः इन चारों सूक्तों का स्फुट रूप से दार्शनिक होना निर्विवाद है । ऋग्वेद के ही अघमर्षण सूक्त (10.190) में सृष्टिक्रम का स्पष्ट वर्णन किया गया है । इस दृष्टि से प्रकृत शोध-प्रबन्ध के अध्येय सूक्त के रूप में उसका भी ग्रहण किया गया है । इसी प्रकार अस्यवामीय सूक्त (1.164) में सृष्टि विद्या तथा अन्य अनेक दार्शनिक तत्त्वों का पहेली के रूप में उपपादन किया गया है । अतः इस सूक्त को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया गया है । इस प्रकार उपर्युक्त छः सूक्तों में वाच्यार्थ के भी दार्शनिक होने तथा इनकी अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण प्रकृत शोध की सीमा को ध्यान में रखते हुए इनका ही विवेचन करने का प्रयास किया गया है । अध्ययन के सौकर्य-हेतु प्रबन्ध को नव अध्यायों में विभक्त किया गया है । अध्याय-क्रमानुसार इनका प्रतिपाद्य निम्नवत् है –

ऋग्वेद की दार्शनिकता तथा दार्शनिक सूक्तों पर विचार करने के पूर्व दर्शन की सामान्य अवधारणा तथा इसके अन्तर्गत विवेचित किये जाने वाले विषयों का ज्ञान होना परमावश्यक है । अतः प्रथम अध्याय के अन्तर्गत दर्शन एवं दार्शनिक चिन्तन का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सङ्केत करते हुए उसमें पायी जाने वाली विभिन्न देववादी मान्यताओं की समीक्षात्मक व्याख्या की गई है । वस्तुतः ऋग्वेद में अनेक देवताओं की स्तुतियों का निर्देश होते हुए भी उन देवताओं में एक ही देवत्व की प्रतिष्ठा की गई है । कहने के लिए तो देव अनेक हैं, किन्तु उनमें देवत्व की दृष्टि से सर्वथा ऐक्य परिलक्षित होता है । तात्त्विक दृष्टि से ऋग्वेद में त्रितत्त्ववाद की प्रतिष्ठा की गई है ।

तृतीय अध्याय में आधुनिक दार्शनिक तत्त्वों के मूल बिन्दुओं या बीजों का ऋग्वेद में अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है । इस दृष्टि से इस अध्याय को तीन भागों में विभक्त किया

---

1. उपाध्याय, बलदेव – वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 138.
2. विल्सन – ऋग्वेद संहिता (अंग्रेजी-अनुवाद), वाल्यूम 1, सम्पादक – डॉ.दयानन्द भार्गव, एडिटर्स नोट, पृष्ठ 26.

गया है । तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत ऋग्वेद में उपलब्ध जगत्, माया, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष तथा ऋत की धारणाओं का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है । ज्ञानमीमांसा में ऋग्वेद में पाए जाने वाले विभिन्न प्रमाणों के सङ्केतों को प्रस्तुत किया गया है । अन्ततः आचारमीमांसा के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा एवं एकता तथा लोककल्याण की भावनाओं को रेखाङ्कित किया गया है ।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में पाए जाने वाले विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों की गवेषणा तथा उनकी समीक्षात्मक व्याख्या करने के उपरान्त चतुर्थ अध्याय में प्रथम मण्डल के सुप्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त की समीक्षा की गई है । इस सूक्त में उपलब्ध अनेक दार्शनिक बिन्दुओं को, जो पहेली के रूप में हैं, उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है । सूक्त में इतस्ततः विकीर्ण एक भाव वाले मन्त्रों को एकत्र करके उनके प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

पञ्चम अध्याय में "पुरुष–सूक्त" के अध्ययन–प्रसङ्ग में "पुरुष" शब्द का तात्त्विक विवेचन तथा सूक्त का परिचय देते हुए सूक्तस्थ विभिन्न तत्त्वों की समीक्षात्मक व्याख्या की गई है । इसी तारतम्य में सूक्त के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदों की सम्यक् व्याख्या करते हुए उनमें निहित प्रतिपाद्य तथ्यों का उद्घाटन किया गया है ।

षष्ठ अध्याय का सम्बन्ध हिरण्यगर्भ–सूक्त से है । इसके अन्तर्गत प्रथमतः "प्रजापति" के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'हिरण्यगर्भ' का निरूपण किया गया है । इसके पश्चात् दोनों के ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त का परिचय दिया गया है । अन्ततः सूक्त में प्रयुक्त अनेक व्याख्येय पदों की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उनकी तात्त्विकता को प्रकट किया गया है । मन्त्र के वास्तविक भावों को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए कहीं–कहीं एक पद के स्थान पर अनेक पदों या मन्त्रांशों का ही ग्रहण किया गया है ।

सप्तम अध्याय में वाक्सूक्त को अपने अध्ययन का विषय बनाया गया है । इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम वाक् तत्त्व का निरुपण किया गया है । वाक् सूक्त का परिचय देते हुए तृतीय खण्ड में सूक्तस्थ अनेक पदों की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इन पदों की व्याख्या द्वारा सूक्त के मूल भावों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है ।

प्रबन्ध का अष्टम अध्याय "नासदीय सूक्त" से सम्बद्ध है ।इसमें प्रथमतः सूक्त का परिचय

दिया गया है । इसके पश्चात् सूक्तस्थ अनेक पदों की समीक्षा की गई है । अन्ततः इसके अन्दर निहित सृष्टिविषयक दश सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है ।

नवम अध्याय प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय है । इसमें सृष्टि–क्रम के स्पष्ट उद्घाटक अघमर्षण सूक्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । सर्वप्रथम सूक्त का परिचय देते हुए इसके कुछ व्याख्येय पदों की समालोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके बाद सूक्ताभिमत सृष्टि के क्रम का उल्लेख करते हुए अन्य सृष्टिपरक सूक्तों के साथ उसका तुलनात्मक परिशीलन किया गया है ।

उपसंहार में ऋग्वेद के मूल दार्शनिक दृष्टिकोण को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है ।

प्रबन्ध के परिशिष्ट को दो खण्डों में विभक्त किया गया है । प्रथम खण्ड में अधीत दार्शनिक सूक्तों के संहिता पाठ के साथ उनका अविकल हिन्दी–अनुवाद भी दिया गया है । हिन्दी–अनुवाद करते समय यह प्रयास किया गया है कि अनुवाद मौलिक हों तथा वेद–विद्या के पोषक एवं अनुकूल हों । इसके द्वितीय खण्ड में सन्दर्भ तथा सहायक ग्रन्थों की सूची देकर शोध–प्रबन्ध को सम्पन्न किया गया है ।

इस प्रकार जिस भावना से अनुप्राणित होकर प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को लिखने का सङ्कल्प किया गया था, उसी के अनुरूप इसे सम्पन्न करने का भी प्रयास किया गया है । इस प्रयास में शोधकर्त्ता को कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय सुधीजन ही कर सकते हैं ।

अध्याय – 1

दर्शन एवं दार्शनिक-चिन्तन का स्वरूप

(क) 'दर्शन' शब्द की व्याख्या

(ख) दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप

(क) **'दर्शन' शब्द की व्याख्या :**

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है । विचारशीलता उसका अवियोज्य आकस्मिक **गुण है** । वह संसार में जिस किसी पदार्थ अथवा घटना को देखता है उस पर अवश्य ही विचार करता है । यह विचारशीलता ही उसे पशु से भिन्न करती है और दर्शन को जन्म देती है । दर्शन शब्द की निष्पत्ति 'दृश्' धातु से भाव के अर्थ में "ल्युट् च" (अष्टा.3.3.115) इस पाणिनीयसूत्र के द्वारा 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से हुई है । अतः इसका अर्थ देखना हुआ । इसका एक अन्य अर्थ – 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है, होता है । इस प्रकार 'दर्शन' का अर्थ 'देखना' और 'देखने का साधन' दोनों सिद्ध होते हैं ।

दूसरे अर्थ में दर्शन, दृष्टि को कह सकते हैं । महाकवि कालिदास ने इसे इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है । 'चिन्ताजडं दर्शनम्'[1] आचार्य यास्क ने भी 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग दर्शन के अर्थ में किया है ।[2] योगवाशिष्ठ में भी 'दृष्टि' का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है ।[3]

दृष्टि हो जाने के उपरान्त मनुष्य कुछ देखेगा – प्रत्यक्ष करेगा । यही प्रत्यक्षीकरण 'दर्शन' के प्रथम अर्थ को चरितार्थ करता है । इसके भी दो स्वरूप हो सकते हैं – प्रथम, इन्द्रियजन्य तथा द्वितीय, अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभव ।तात्पर्य यह है कि अभीष्ट अर्थ का प्रत्यक्ष चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की सूक्ष्म वृत्तियों से भी हो सकता है । इसी प्रत्यक्षीकरण की क्रिया द्वारा ऋषियों का ऋषित्व प्रमाणित होता है । उन ऋषियों ने स्वयं धर्म का साक्षात्कार कर अन्य लोगों को उसका उपदेश दिया ।[4] यहाँ धर्म का अर्थ धर्मविशेष न होकर जगत् के मूलतत्त्व से है । अब प्रश्न यह उठता है कि ऋषि या सामान्य जन किस तत्त्व का प्रत्यक्ष करते हैं ? वह तत्त्व सार्वभौम होना चाहिए । उसमें अन्य सभी अर्थों का अन्तर्भाव भी होना चाहिए । इस् प्रकार विचार करने से यह प्रतीत होता है कि 'सत्य'

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 4.8
2. एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां दृष्टयो भवन्ति । यास्क, निरुक्त – 7.1.4
3. ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टयः । योगवाशिष्ठ – 2.16
4. ऋषिर्दर्शनात् । यास्क, निरुक्त – 2.11

   साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन सम्प्रादुः । वही – 1.20

ही एकमात्र ऐसा तत्व है, जो ज्ञान का विषय हो सकता है । यह सत्य परमार्थविषयक ज्ञान है, क्योंकि यह ज्ञान सत्य का परम निधान है ।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य को ब्रह्म कहा गया है ।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् भी ऐसा ही कहती है ।[3] एक स्थल पर सत्य को आत्मा भी कहा गया है ।[4] भारतीय मनीषा ने सत्य के द्वारा ब्रह्म का जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं उसके नाश के कारण के रूप में स्पष्ट निर्देश किया है ।[5] श्रीमद्भागवत का मङ्गलाचरण भी सत्योपदेशपरक है ।[6] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मज्ञान सत्य द्वारा ही हो सकता है ।[7] इसी सत्य की गवेषणा एवं आचरण को भारतीय दर्शन में जीवन का लक्ष्य बनाया गया है । मन्त्रों, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में प्रतिष्ठित सम्पूर्ण वैदिक दर्शन इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है । ऋत, यज्ञ और ब्रह्म सत्य के ही स्वरूप हैं ।[8] इसका साक्षात्कार करने के कारण ही वैदिक ऋषियों को ऋतस्पर्शी कहा गया है ।[9] सत्य को ज्ञान का अन्तिम आदेश माना गया है ।[10] ऋषि वामदेव ने तो सम्भवतः उस परम सत्य का साक्षात्कार गर्भावस्था में ही कर लिया था, जैसा कि उन्होंने उसी समय उद्घोष किया था ।[11] सत्य की इस प्रकार की अनुसन्धित्सा आदर्श एवं व्यवहार दोनों में, बौद्धिक रूप में तथा जीवन की सर्वतोमुखी साधना के रूप में भी

---

1. तत्सत्यस्य परमं निधानम् । मुण्डकोपनिषद् – 3.1.6
2. सत्यं ब्रह्म । बृहदारण्यक – 5.5.1
3. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तैत्तिरीय. – 2.1.1
4. तत्सत्यं स आत्मा । छान्दोग्योपनिषद् – 6.8.7
5. ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः । गीता –17.23
6. धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि । श्रीमद्भागवत – 1.1.1
7. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा । मुण्डक . 3.1.5
8. सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोमा मन्त्राः सरस्वती ।
   सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम् ।।
   महाभारत शान्तिपर्व – 199.68
9. बृहस्पते या परमा परावदत आत ऋतस्पृशो निषेदुः । ऋग्वेद – 4.50.3
10. सत्यमेव सौम्य स आदेशो भवतीति । छान्दोग्योपनिषद् – 6.1.6
11. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः । ऋग्वेद – 4.3.26

भारत की सम्पूर्ण चिन्तन–परम्परा को पूर्णतः आवृत कर लेती है । यही परमार्थविषयक गवेषणा और उसे उपलब्ध कराने वाली विद्या हमारे लिए ब्रह्मविद्या, सत्यविषयक विद्या अथवा श्रेष्ठ विद्या है, जो हमारी सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा है ।[1] यह विद्या दर्शनगम्य है । प्रो. सङ्गमलाल पाण्डेय के अनुसार "दर्शन वह विद्या है, जिसको जान लेने से अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है, अविचारित विचारित हो जाता है और अज्ञात ज्ञात हो जाता है ।"[2]

दर्शन के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है – "दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता है । यह आत्मदृष्टि वहीं सम्भव है, जहाँ दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है । इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय में उच्चतम विजय उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने अपने अन्दर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है ।"[3]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दर्शन विविध आयामों में होता हुआ मूलतः सत्य या परमार्थ का ही प्रत्यक्ष है ।

(ख) दार्शनिक-चिन्तन का स्वरूप :

भारतीय दर्शन एक गहरी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित रहा है तथा उसमें मात्र कौतुकवश जगत् के रहस्यों को खोलने की व्यग्रता नहीं दृष्टिगत होती है । वस्तुतः दार्शनिक चिन्तनका मूल, जीव की प्रेरणाओं तथा जगत् के रहस्यों में ही निहित है । मानव जीवन की मूल प्रेरणाओं तथा प्राकृतिक जगत् की व्यवस्थाओं के समान होने के कारण प्रायः सभी देशों के दार्शनिक चिन्तन की समस्याएँ समान हैं । प्रत्येक देश की प्रतिभा, संस्कृति एवं परम्परा में पार्थक्य होने के कारण कहीं–कहीं दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं लक्ष्यों में भी भेद दृष्टिगत होता है । भारत में वेदों को आगम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है । इसके साथ ही स्वतन्त्र चिन्तन को भी प्रोत्साहन दिया जाता रहा है,जिसके परिणाम–स्वरूप अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्भव एवं विकास हुआ । इन सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक मतभेद

---

1. ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् । मुण्डकोपनिषद् – 1.1.1
2. पाण्डेय, सङ्गमलाल । भारतीय दर्शन की कहानी, पृष्ठ 1
3. राधाकृष्णन् सर्वपल्ली, इन्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम – 1 का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 38

होते हुए भी उनकी मूल आत्मा एक है । डॉ.देवराज के अनुसार "जीवन के परमार्थ और उसकी प्राप्ति के साधनों की खोज सभी दर्शनों का समान लक्ष्य है ।"[1]

भारतीय दर्शन में विश्व की बौद्धिक व्याख्या की अपेक्षा आध्यात्मिक सत्य को अधिक महत्व दिया गया है । आध्यात्मिक सत्य ही चरम सत्य है तथा उसी के परिप्रेक्ष्य में जीवन का संस्कार श्रेय है । अधिकांश दर्शनों में आत्मज्ञान को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है । दार्शनिक चिन्तन की परिधि का निर्देश हमें 'कूर्म पुराण' के उस अंश में प्राप्त होता है,[2] जिसमें यह जिज्ञासा की गई है कि यह सब कुछ दृश्यमान क्यों है ? संसरणशील कौन है ? आत्मा और मुक्ति क्या है ? संसार का प्रयोजन क्या है ? संसार का शासक कौन है ? कौन सब कुछ देखता है ? तथा परब्रह्म क्या है ? यद्यपि भारतीय दर्शन में इन सभी तत्वों का पृथक्–पृथक् विवेचन किया गया है, किन्तु मुख्यतः अध्यात्म–विद्या या मोक्षशास्त्र तथा ज्ञान–मीमांसा या प्रमाणशास्त्र से सम्बन्धित विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया है । इनके अन्तर्गत नीतिगत, कलात्मक और आध्यात्मिक सभी तरह के तत्वों या मूल्यों का समावेश हो जाता है ।

भारतीय दर्शन में न केवल सत्य का स्वरूप–निरूपण किया गया है, अपितु उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी बल दिया गया है । उसमें चरम सत्यरूप अध्यात्मतत्त्व की सिद्धि को निःश्रेयस् या मोक्ष माना गया है । मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है । यद्यपि विभिन्न दर्शनों में इस चरम लक्ष्य के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधनों की कल्पना भिन्न–भिन्न रूपों में की गई है, किन्तु सभी भौतिक बन्धनों और लौकिक बाधाओं से आत्मा की मुक्ति को अपना आध्यात्मिक लक्ष्य स्वीकार करते हैं तथा उसकी प्राप्ति में ही जीवन की कृतार्थता मानते हैं । श्री भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार "भारतीय दर्शन के

---

1. डॉ.देवराज, न.कि एवं डॉ.तिवारी, रामानन्द – भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 18
2. किं कारणमिदं कृत्स्नं को नु संसरते सदा,
   कश्चिदात्मा च का मुक्तिः संसारः किं निमित्तकः ।
   कः संसार इतीशानः को वा सर्वं प्रपश्यति,
   किं तत्परतरं ब्रह्म सर्वं नो वक्तुमर्हसि ।।
   कूर्म पुराण उत्तरार्द्ध 1.24.

प्रकृत विषय हैं– परम तत्त्व के दर्शन करना, दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग ढूँढ़ना और उसकी तात्त्विक व्याख्या करना एवं मनुष्यत्व की वास्तविक महिमा का साक्षात्कार करना एवं उसे विस्तारित करना ।"[1]

भारतीय दर्शन के सभी प्रस्थान दु:खमय संसार–चक्र से मुक्ति को ही मोक्ष मानते हैं। सभी दर्शनों के अनुसार अज्ञान दु:ख का मूल है और ज्ञान मोक्ष का साधन है। अज्ञान से अहड्.कार उत्पन्न होता है और अहड्.कार से कर्तृत्व – भावना। इसी कर्तृत्व – भावना के कारण जीव, कर्म–फल का भोक्ता बनता है। अत: अज्ञान को ही सांसारिक बंधन एवं दु:खों का मूल माना गया है। तत्त्व ज्ञान से ही इस दु:खमय संसार – बंधन से मुक्ति मिल सकती है। ज्ञान से अहड्.कार और कर्तृत्व–भाव का नाश होकर जीव को मुक्ति मिलती है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार केवल जड़ पदार्थ (चार महाभूत), जैन दर्शन के अनुसार जीव–अजीव, बौद्ध दर्शनों के अनुसार विज्ञान, शून्य आदि, सांख्य-योग के अनुसार प्रकृति–पुरुष, न्याय वैशेषिक के अनुसार सोलह या सात पदार्थ, मीमांसा के अनुसार पदार्थ, जगत् और आत्मा, अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म तथा विशिष्टताद्वैत के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तत्त्वत: सत्य हैं।

उक्त सभी दर्शनों में ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान मोक्ष के साधनों में अन्यतम है। बौद्ध दर्शन में अविद्या को ही दु:ख का मूल कारण माना गया है तथा ज्ञान द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति स्वीकार की गई है। सांख्य–योग में पुरुष के कैवल्य को मोक्ष तथा प्रकृति–पुरूष के विवेकज्ञान को उसका साधन माना गया है। न्याय–वैशेषिक आत्मा की चेतनातीत अवस्था में आत्यन्तिकी दु:ख–निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं तथा न्याय के सोलह एवं वैशेषिक के सात पदार्थों के लक्षण–साधर्म्य–वैधर्म्य–ज्ञान सहित तत्त्व ज्ञान को उसका साधन स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म–प्राप्ति को मोक्ष माना गया है, जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप–ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। विशिष्टाद्वैत में भक्ति को ही चरम लक्ष्य माना गया है, किन्तु रामानुज की भक्ति भगवान् का ज्ञान-विशेष ही है। प्राय: मीमांसकों का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त यद्यपि कुछ भिन्न प्रकार का है, किन्तु स्वर्ग में दु:ख की निवृत्ति तो वे मानते ही हैं, चाहे वह आत्यन्तिक भले ही क्यों न हों।

---

1. उपाध्याय, भरत सिंह– बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. 102

इस प्रकार भारतीय दर्शन में ज्ञान द्वारा अज्ञान के नाश के साथ–साथ समस्त दुःखों एवं कर्म–बन्धनों का उच्छेद करते हुए मुक्ति को चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय मनीषियों ने ज्ञान एवं जीवन को पृथक्–पृथक् न देखकर उन्हें समग्र रूप में ही देखने का प्रयास किया है। यही कारण है कि भारतीयों के लिए दर्शन बौद्धिक चिन्तन तथा नैतिकता से पर्याप्त ऊपर उठा हुआ एक ऐसा जीवन–पथ है, जो सत्य को वास्तविक रूप में उद्भासित कर देता है।

अध्याय – 2

ऋग्वेद में दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि

(क) सामान्य–प्रवृत्ति

(ख) बहुदेववाद

(ग) एकाधिदेववाद

(घ) एकदेववाद

(ड.) वैदिक अद्वैतवाद

(च) त्रितत्त्ववाद

(क) सामान्य प्रवृत्तिः –

भारत दार्शनिक चिन्तन के लिए प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। विश्व को दार्शनिकता की ओर उन्मुख एवं प्रगतिशील करने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही संस्कृति के क्षेत्र में भी यह अग्रगण्य है। ऋग्वेद विश्व–साहित्य की सबसे प्राचीन रचना है। मानव–मस्तिष्क के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का सबसे प्रथम वर्णन ऋग्वेद में ही उपलब्ध होता है। डॉ. देवराज ने भी भारतीय दर्शन का आरम्भ वेदों से माना है।[1] डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है कि "किसी भी भारतीय विचारधारा की सही–सही व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है।"[2] यदि वेदों को अपरिपक्व रचना माना जाये, तब भी भारतीय आर्यों के उत्तरकालीन धार्मिक क्रिया–कलापों तथा दार्शनिक ज्ञान के आदिस्रोत होने के साथ ही साथ वे परवर्ती विचारधारा को भलीभाँति समझने में भी सहायता करते हैं।

वस्तुतः मनुष्य ने जब से इस पृथिवी पर आँखें खोलकर अपने आस–पास के वातावरण को देखना और जानना प्रारम्भ किया, तभी से उसे अपने ऊपर एक ऐसी शक्ति का ज्ञान होता रहा है, जो विभिन्न रूपों में उसके जीवन में साधक या बाधक की भूमिका निभाती रही है। इस प्रकार उक्त शक्ति को उसने अपने से अधिक समर्थ समझते हुए उसके समक्ष नतमस्तक होकर कृतज्ञता–ज्ञापन किया अथवा उससे सहायता मांगने या उसके क्रोध की शान्ति–हेतु स्तुतियाँ कीं। इस प्रकार स्तोता, स्तुति तथा स्तुत्य की शृङ्खला बन गई।

भारत जैसे प्रभूत प्राकृतिक सौन्दर्यों से परिपूर्ण देश में दर्शन का आरम्भ प्रकृति–काव्य के रूप में होना स्वाभाविक था। आर्यजन उषा–अरुण, दिवा–रात्रि, आकाश–अन्तरिक्ष, पृथ्वी–सागर, सूर्य–चन्द्र, तारा–ग्रह, नदी–पर्वत, तरु–पादप, वायु–मेघ, अग्नि–जल, सभी को देवताओं का स्वरूप देकर उनकी पूजा करते थे। डॉ. वेणीमाधव वडुआ के अनुसार वैदिक युग में "दर्शन" शब्द के लिए "उक्थ" शब्द का प्रयोग होता था और दार्शनिकों के लिए "कवि" शब्द का।[3] इसीलिए ऋषि दीर्घतमा

---

1. डॉ. देवराज, न. कि. एवं डॉ. तिवारी रामानन्द– भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ. 13
2. डॉ. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली– इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग–1 का हिन्दी अनुवाद, पृ. 59
3. डॉ. वडुआ, वेणीमाधव– प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसॉफी, पृ. 5,6. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. 101पर उद्धृत।

तत्त्वज्ञानार्थ कवि से प्रार्थना करते हैं।[1] डॉ.वडुआ ने सन्देह अथवा जिज्ञासा को उक्थ की आत्मा माना है।[2] आगे चलकर दर्शन की प्रवृत्ति को वात्स्यायन[3] तथा वाचस्पति मिश्र[4] ने भी सन्देह में ही स्वीकार किया है। आदि पुरुष की तरह आदि विचार भी कब जन्म लेकर प्रथम बार इस जगत् में आया, इसे किसी ने नहीं देखा। कौन इसे उस विद्वान् से पूछने गया, जो जानता था ?[5]

"एकोऽहं बहु स्याम" इस कामना के रूप में विचार अथवा सङ्‌कल्प द्वारा ही तो यह सृष्टि हो पाई।[6] इस प्रकार इस मौलिक विचार के आदि को जान पाना मानव के लिए सम्भव नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वह स्वयं भी विचार की ही प्रतिकृति है। वस्तुतः भारत किस आदि युग में सर्वप्रथम आध्यात्मिक चिन्तन में प्रवृत्त हुआ, यह निश्चित रूप से बता पाना सम्भव नहीं। डॉ.वडुआ[7] ने दर्शन को मानव-मस्तिष्क की संशयात्मिका या जिज्ञासात्मिका वृत्ति के रूप में आरम्भ की अपेक्षा से रहित एक शाश्वत शास्त्र माना है, किन्तु ज्ञान की एक विशेष शाखा के रूप में या विचार की एक विशेष पद्धति के रूप में उन्होंने उसका आरम्भ दिखाया जाना भी स्वीकार किया है। प्रारम्भिक मानव-समाज में भी भूख, इच्छा और वार्धक्य की समस्याएँ तो रही ही होंगी। मृत्यु ने भी अवश्य ही ध्यान आकृष्ट किया होगा। वियोग की स्थिति अवश्य ही बनी होगी। इन समस्त परिस्थितियों का निराकरण करने के लिए उसने निश्चित रूप से विचार किए होंगे।

भारत के लम्बे इतिहास में ऐसा कोई भी युग दृष्टिगत नहीं होता, जिसमें भारतीयों के मन में प्रकृति, परमेश्वर और जीवन-सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न न हुई हों और इन पर उन्होंने विचार न

----

1. कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। ऋ. 1.164.6
2. प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसॉफी, पृ. 6
3. नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तु सन्दिग्धे। न्याय भाष्य, 1.1.1
4. जिज्ञासया प्रयोजने सूचयति। भामती- 1.1.1
5. क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत्। ऋग्वेद- 1.164.4
6. कामस्तदग्रे समवर्तत। ऋग्वेद- 10.129.4
7. Philosophy as a doubting process of the human mind is eternal. As a structure of thought it has its beginnings.

   डॉ.वडुआ- प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसॉफी, पृष्ठ 2

किया हो। ऋग्वैदिक उपासकों द्वारा इन्द्र का अस्तित्व भी संशय से परे नहीं रह सका।[1] ऋग्वेद में ही हम ऋषियों को सृष्टि के विषय में जिज्ञासा करते देखते हैं– प्रथम भावविकार प्राप्त को किसने देखा है, जिस सावयव को निरवयव ने धारण किया था?[2] कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है?[3] इतना ही नहीं, हम ऋग्वेद में ऋषियों को जीवन के अस्तित्व के विषय में भी कभी–कभी ऐसे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विचार करते हुए देखते हैं, जो आज इतने दार्शनिक विकास के बाद भी नए जैसे प्रतीत होते हैं। क्रान्तदर्शी ऋषियों ने अस्तित्व–रूप से विद्यमान जगत् के बन्धन के कारण को अपनी बुद्धि से हृदय में विचारकर सद्विलक्षण कारण में ढूँढ़ लिया।[4]

इन सुस्पष्ट दार्शनिक विचार–बिन्दुओं के अतिरिक्त वैदिक ऋषियों द्वारा वरुण देवता को समर्पित मन्त्रों में भी हमें कुछ ऐसे तथ्य उपलब्ध होते हैं, जो दार्शनिक पृष्ठभूमि से ओत–प्रोत हैं। ऋषि कहता है– हे भगवान् वरुण। वह मेरा जानकर किया हुआ पाप, प्रवृत्ति में कारण न था। वह दैव–गति ही थी। वह प्रमाद–कारिणी सुरा ही थी। अनर्थ का हेतु क्रोध ही था। वह द्यूत का साधन अक्ष था। मेरा अज्ञान था।[5] ------हे वरुण। आपके लिए की हुई यह मेरी स्तुति आपके हृदय में भलीभाँति प्रवेश करे। हमारे योग और क्षेम में उपद्रवों का शमन हो और हे देवों। सदा शान्ति से हमारी रक्षा करो।[6] इन उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के ऋषि जीवन की विविध समस्याओं से पूर्णतः अवगत थे तथा उनके निदानार्थ वे चिन्तित रहा करते थे।

---

1. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्। ऋ. 2.12.5
2. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। ऋग्वेद– 1.164.4
3. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। ऋ. 10.129.6
4. सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदिप्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋ. 10.129.4
5. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
   अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता।। ऋ. 7.86.6
6. अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृद स्तोम उपश्रितष्चिदस्तु।
   शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। ऋ. 7.86.8

ऊपर ऋग्वेद में इतस्ततः विकीर्ण जिन दार्शनिक तथ्यों की चर्चा की गई है, वे अकस्मात् ऋषियों की विचार–सरणि में नहीं आ गए, अपितु इसके पहले एक ऐसा भी स्वरूप है, जिसके मूल में हमें धार्मिकता के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि धार्मिक विचारों ने ही आगे चलकर दार्शनिकता का रूप ग्रहण कर लिया। यह इससे भी स्पष्ट होता है कि भारत में कोई भी ऐसा धर्म नहीं है, जिसने आगे चलकर दर्शन का रूप न ग्रहण कर लिया हो, अथवा जिसका अपना कोई दर्शन न हो। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में " धर्मविषयक समस्याओं से दार्शनिक भावना को उत्तेजना मिलती है।[1] हिरियन्ना ने भारत में धर्म को दर्शन के रूप में उसी अर्थ में माना है, जिसमें धर्म का लक्षण यह हो कि वह सम्यक् जीवन की प्रगति में सहायक होता है।[2]

पाश्चात्त्य विचारक हेगल ने भी धर्म को दर्शन से सम्बद्ध माना है। उनके अनुसार जब भी दर्शन धर्म को उद्घाटित करता है, वह स्वयं को उद्घाटित करता है तथा अपना उद्घाटन करते समय वह धर्म का उद्घाटन करता है।[3]

इसी प्रकार मूल वैदिक–दर्शन भी धर्म से सम्पृक्त हैं। आमतौर से विभिन्न देववादी प्रवृत्तियों ने ही दर्शन का रूप धारण कर लिया। यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ मौलिक रूप से धर्म से ही सम्बद्ध हैं; तथापि दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में भी इनका कम महत्त्व नहीं है। प्रो.हिरियन्ना के शब्दों में– इनका मूल जो भी रहा हो, ये दर्शन के विद्यार्थी के लिए अत्यधिक महत्त्व रखती हैं, क्योंकि इनमें अधिकांश उत्तरकालीन भारतीय विचारों के अंकुर मिलते हैं।[4]

अनेक आचार्यों ने ऋग्वेद की उक्त देववादी प्रवृत्तियों के विकास–क्रम का सम्यक् निरूपण किया है। डॉ.राधाकृष्णन् इस विकास के क्रम को प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के रूप में स्वीकार करते हैं।[5] प्रोफेसर मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद तथा एकेश्वरवाद के मध्य में एक

---

1. डॉ.राधाकृष्णन्,सर्वपल्ली, इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग–1 का हिन्दी अनुवाद, पृ. 22
2. हिरियन्ना एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 14
3. Philosophy, therefore, only unfolds itself when it unfolds religion, and in unfolding itself it unfolds religion.

   चटर्जी,सतीशचन्द्र, द प्राब्लम्स ऑफ फिलॉसॉफी, पृ. 30 पर उद्धृत।
4. हिरियन्ना एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 36
5. डॉ.राधाकृष्णन् एस., इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग 1, का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 64.

और शृङ्खला के रूप में हीनोथीज़्म या केथेनोथीज़्म को प्रतिपादित किया है।[1] यहाँ इन सभी प्रवृत्तियों की समीक्षात्मक व्याख्या की जा रही है।

(ख) बहुदेववाद (POLYTHEISM)

यह शब्द अंग्रेजी के पोलीथीज़्म (Polytheism)का हिन्दी रूपान्तर है, जिसकी निष्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों– पोलस (Polus) तथा थियोस (Theos) के योग से हुई है। क्रमशः इन दोनों शब्दों का अर्थ – अनेक (Many) तथा ईश्वर (God) होता है।[2] इस प्रकार इसका तात्पर्य अनेक देवताओं को मानते हुए उनकी आराधना करने से है। वस्तुतः यह विचारधारा एकदेववादी प्रवृत्ति का विरोध प्रकट करती है। ऋग्वेद के ऋषियों ने इस जगत् के प्रत्येक कण में दिव्य शक्ति का साक्षात्कार किया था। उस साक्षात्कार के अनन्तर जो उन्होंने स्तुतियाँ कीं, वे उनकी बहुदेववादिता की आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित हुईं।

वैदिक ऋषियों का हृदय विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों की विचित्रताओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। वे मनोहारिणी उषा, उगते हुए सूर्य, चन्द्र और तारों की सुषमा से अभिभूत हो गए थे। इनके अतिरिक्त विद्युत् की दीप्ति,. मेघों की गर्जना इत्यादि भयावह दृश्यों ने उनमें भय भी उत्पन्न कर दिया। परिणामस्वरूप उन्होंने सभी प्राकृतिक दृश्यों में देवत्व की भावना कर के उनसे अपनी रक्षा तथा सुख–समृद्धि की कामना की। ऋषियों द्वारा की गई इस प्रकार की प्रकृति–पूजा को डॉ.राधाकृष्णन् ने वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप स्वीकार किया है।[3]

अब प्रश्न उठता है कि ऋग्वेद में कुल कितने देवताओं को स्वीकार किया गया है? इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के ही एक मन्त्र[4] में 33 देवताओं को मधुपेय–ग्रहण करने हेतु बुलाया गया

---

1. मैक्समूलर एफ., द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इन्डियन फिलॉसॉफी, पृ. 40
2. वर्ब्लोस्की आर.जे.ज्वी., एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम–11, पृ. 436
3. This worship of nature as such is the earliest form of Vedic religion.
   डॉ.राधाकृष्णन् एस., इन्डियन फिलॉसॉफी, भाग–1, पृ. 73
4. आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना। ऋ. 1.34.11

है । अन्यत्र[1] अग्नि से 33 देवों को साथ लेकर आने की प्रार्थना की गई है । ऋग्वेद में ही एक स्थल[2] पर देवताओं को तीन स्थानों पर ग्यारह-ग्यारह संख्याओं में प्रतिष्ठित कर के उनसे यज्ञ को स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है । एक अन्य मन्त्र[3] में अग्नि से सपत्नीक 33 देवताओं को यज्ञ में लाकर उनके साथ सोमरस का आनन्द लेने की प्रार्थना की गई है । इन संख्याओं के विपरीत एक स्थान पर[4] कहा गया है कि 3339 देवताओं ने अग्नि की पूजा की । शकुन्तला ने निम्नलिखित देवताओं को ऋग्वेद में प्रधान रूप से उल्लिखित माना है – इन्द्र, अग्नि, सोम, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, विष्णु, उषा, अश्विनद्वय, पूषा, रुद्र, प्रजापति, यम, पर्जन्य, अर्यमा, मरुद्गण, ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति, सरस्वती, अदिति, आदित्यगण, ऋभुगण, इला, त्वष्टा, सविता, इन्द्राणी, वरुणानी, आग्नेयी, वसुगण, मातरिश्वा, वैश्वानर तथा भारती ।[5] वस्तुतः देवताओं की संख्या चाहे जितनी स्वीकार की जाए, किन्तु एक तथ्य तो सुस्पष्ट है कि ऋग्वेद में बहुत से देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं । इनमें से सभी नहीं तो अधिकांश देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप में प्रतिष्ठित हैं । भारतीय आर्य ऋषियों का इन प्राकृतिक उपादानों को देवत्व प्रदान करना एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी, क्योंकि ऐसे समय में जब वे प्रथमतः सभी दृष्ट भौतिक पदार्थों में अलौकिक शक्ति की भावना कर रहे थे, उनसे किसी एक देवता के अस्तित्व पर विश्वास करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती । किसी भी सभ्यता के विकास के प्रथम चरण में आसपास के पर्यावरण तथा भौतिक पदार्थों एवं शक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनकी आवश्यकता दैनिक जीवन में पड़ती रहती है । कुछ स्थितियों में इनका प्रत्यक्ष भी नहीं किया जा सकता तथा इनकी गति के रहस्य को भी नहीं उद्घाटित किया जा सकता । ऐसी परिस्थिति में

---

1. तान् रोहिदश्व गिर्वणस् त्रयस्त्रिंशतमावह । (ऋ.1.45.2)
2. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
   अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् । (ऋ.1.139.11)
3. ऋ. 3.6.9.
4. त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् । (ऋ.3.9.9)
5. शकुन्तला आर., एस्पिरेशन्स फ्राम ए फ्रेश वर्ल्ड, पृष्ठ 28.

उन्हें दैवी शक्ति मानते हुए उनसे अपने सङ्कट में साहाय्य की याचना करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वैदिक ऋषियों ने प्रातःकाल पूर्वी क्षितिज से सूर्य को निकलते हुए देखा, जो अन्धकार का नाश कर रहा था । इस पर उन्हें अवश्य आश्चर्य हुआ होगा । यही नहीं, उन्होंने सूर्य को बिना किसी पक्षपात के ही सर्वत्र अपनी किरणों को विकीर्ण करते हुए भी देखा । यह क्रम प्रतिदिन चलता था । इसकी गति को रोकने में एक क्षण के लिए भी कोई समर्थ नहीं प्रतीत होता था । ऋषियों ने इन सब वैशिष्ट्यों पर विचार किया । उन्होंने देखा कि सविता स्वर्णिम रथ पर बैठकर कृष्णमय अन्तरिक्ष से होता हुआ, देवताओं तथा मनुष्यों को अपने–अपने कार्यों में प्रवृत्त करता हुआ समस्त लोकों को देखते हुए आ रहा है ।[1] वह अपनी महिमा से तीन बार अन्तरिक्ष के चारों ओर, तीन बार प्रकाशवान् तीनों लोकों के चारों ओर, तीन बार द्युलोक के चारों ओर तथा तीन बार पृथिवी के चारों ओर व्याप्त रहता है ।[2] वह सबसे पहले देवताओं को अमरता, हविः प्रदाता को प्रकाश तथा मनुष्यों को लम्बा जीवन प्रदान करता है ।[3] उन्होंने देखा कि सविता ने यन्त्रों द्वारा पृथिवी को स्थिर किया है तथा बिना स्तम्भ के ही द्युलोक को धारण किया है ।[4] वह प्रभूत धन वाला है तथा जंगम एवं स्थावर दोनों को नियन्त्रित करता है ।[5] इस प्रकार के सविता को ऋषियों ने एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए उससे अपने कल्याणादि की याचना की ।

इसी प्रकार उन्होंने देखा कि जब पर्जन्य अपने जल से पृथिवी की रक्षा करता है, उस समय वृष्टि के लिए हवाएँ चलती हैं, बिजलियाँ गिरती हैं, वनस्पतियाँ अङ्कुरित होती हैं, अन्तरिक्ष जल की बूँदों को टपकाता है तथा भूमि सारे संसार के हित–साधन में समर्थ हो जाती है[6], अतः पर्जन्य

---

1. आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
   हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।। (ऋ.1.35.2)
2. ऋ. 4.53.5.
3. ऋ. 4.54.2.
4. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् । (ऋ. 10.149.1)
5. बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी ।
   स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः ।। (ऋ. 4.53.6)
6. प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।
   इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ।। (ऋ. 5.83.4)

के गुणों से अभिभूत होकर वे उसे देवत्व प्रदान करते हुए उसकी स्तुति करने लगे ।

दैनिक जीवन में अग्नि का बहुत महत्त्व है । वैदिक ऋषि अग्नि के विविध उत्पत्ति-स्थलों से अभिज्ञ थे । एक मन्त्र[1] में उन्होंने उसे यज्ञीय दिवसों में उत्पन्न होने वाला, सर्वत्र दीप्यमान, जलों से वैद्युताग्नि या वडवानल के रूप में उत्पन्न होने वाला, मेघ या पत्थरों से उत्पन्न होने वाला, वनों से दावानल के रूप में उत्पन्न होने वाला तथा औषधियों से वैश्वानर के रूप में उत्पन्न होने वाला कहा है । इस प्रकार उन्होंने अग्नि को भी एक अलौकिक शक्ति के रूप में जाना तथा उसे देवता मानते हुए उसकी स्तुतियाँ की ।

यद्यपि ऋषियों ने विविध प्राकृतिक उपादानों की पूजा की, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि उन्होंने स्थूल रूप से उन उपादानों की पूजा न करके उनके अन्दर निहित शक्तियों को अपनी आराधना का विषय बनाया । उन्होंने न तो सूर्य की किरणों, न वृष्टि करने वाले अन्तरिक्ष, न वेदी में प्रदीप्त अग्नि, न नदी के जलों और न चन्द्रमा के प्रकाश की आराधना की, बल्कि इन सभी के अन्दर निहित शक्ति को पूजा, जिसके द्वारा ये सभी उपादान क्रियाशील होते हैं । प्राकृतिक शक्तियों का ही वैदिक देवता के रूप में मानवीकरण होना उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाता है । इन नामों से एक साथ ही वह विशेष भौतिक पदार्थ तथा उसके अन्दर की निहित अदृष्ट शक्ति, दोनों ध्वनित हो जाते हैं । जैसे – अग्नि एक द्रव्य तथा देवता दोनों का ही नाम है, जिसे ऋषियों ने अदृष्ट शक्ति के रूप में पूजा । इसी प्रकार सूर्य, उषा तथा वायु भी वैदिक देवता तथा भौतिक पदार्थ दोनों के ही नाम हैं ।

(ग) एकाधिदेववाद (HENOTHEISM)

यह शब्द अंग्रेजी के "हीनोथीज़्म" का हिन्दी अनुवाद है । बहुसंख्यक विद्वानों[2] ने इस

---

1. त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यः त्वमश्मनस्परि ।
   त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यः त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ।। (ऋ. 2.1.1)
2. (क) उपाध्याय, बलदेव – वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 484.
   (ख) देवराज, न.कि. – दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 46.
   (ग) शर्मा, गणेशदत्त, ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 7 एवं 86.

शब्द को मूल रूप में ही प्रयुक्त किया है । हिरियन्ना ने इसका अनुवाद "एकाधिदेववाद" किया है ।[1] प्रो.ब्लूमफील्ड ने इसे "अवसरवादी एकेश्वरवाद"[2] (Opportunist-Monotheism) की सञ्ज्ञा दी है, जिसका अनुसरण हिरियन्ना[3] एवं डॉ.देवराज[4] ने भी किया है । हीनोथीज़्म शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों – हीनोस (Henos) और थीयोस (Theos) के योग से हुई है, क्रमशः जिनका अर्थ "एक" और "ईश्वर" होता है ।[5] सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग प्रो.मैक्समूलर ने किया । इसी अर्थ में उन्होंने एक अन्य शब्द कथेनोथीज़्म (Kathenotheism) का भी प्रयोग किया है, जो ग्रीक भाषा के ही कथ हेना (Kath'hena) शब्द से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ, "क्रमशः" (One by one)[6] होता है । वस्तुतः मैक्समूलर ने इसका प्रयोग ऋग्वेद के देवताओं के एक विशेष पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए किया । यह सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होता है कि वेदों में देवताओं को कई नामों से आहूत किया गया है, यथा – अग्नि, सूर्य, उषस्, मरुद्गण, पृथ्वी, आपः नदी इत्यादि । कुछ देवता तो प्रकृति से नितान्त सम्बद्ध हैं, जैसे – वरुण, मित्र, इन्द्र, अदिति इत्यादि । प्रत्येक देवता को सत्य, सर्वोच्च और पूर्ण प्रतिपादित किया गया है । ये देव एक दूसरे के अधिकारों से सीमित नहीं किये गए हैं ।

वैदिक ऋषियों ने किसी भी देवता का आह्वान करते समय उसके गुणगान में तन्मय होकर उसे पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया । जैसे, यदि इन्द्र को ही लिया जाए तो एक स्थल पर ऋषि ने उसे देव तथा मानव जातियों का नायक कहा है।[7] अन्यत्र उसे ही सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र राजा भी बताया गया है ।[8] वह सम्राट् के रूप में भी निरूपित किया गया है ।[9] इसी प्रकार वरुण की स्तुति

---

1. हिरियन्ना, एम. – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 37.
2. डॉ.ब्लूमफील्ड एम. – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 189.
3. हिरियन्ना एम. – भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 37.
4. देवराज, न.कि. – दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 47.
5. यूसा, मिचिको, दि एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 6, पृष्ठ 266.
6. वही, पृष्ठ 266.
7. इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुतपूर्वयावा । (ऋ. 3.34.2).
8. एको विश्वस्य भुवनस्य राजा । (ऋ. 3.46.2)
9. भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः । (ऋ. 4.19.2)

के समय उसे भी सम्पूर्ण संसार के राजा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है ।[1] एक स्थल पर अग्नि को ही विभिन्न स्थितियों में वरुण, मित्र और इन्द्र के रूप में तथा यहाँ तक कि सभी देवताओं को उसमें ही निहित बताया गया है ।[2] यही स्थिति अन्य देवों की भी है ।

ऋग्वेद की उपर्युक्त प्रवृत्ति को ही मैक्समूलर ने "हीनोथीज़्म" कहा है । उनके अनुसार इसका अर्थ है – "कुछ समय के लिए अन्य समस्त देवताओं को भुलाकर इन्द्र, अग्नि एवं वरुण आदि में से किसी भी एक देवता का एकमात्र दिव्य सत्ता के रूप में आह्वान करना ।"[3] उन्होंने अन्यत्र इस शब्द की उपयोगिता सिद्ध करते हुए कहा है कि यह छोटा सा शब्द दो विचारधाराओं के भेद को निश्चित रूप से स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ है, जिनमें प्रथम "मोनोथीज़्म" अर्थात् "एकमात्र देवता की आराधना करना" (The worship of only one God) और द्वितीय "हीनोथीज़्म" अर्थात् "किसी एक देवता की आराधना करना" (Worship of single Gods) है ।[4] उन्हीं के शब्दों में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है – "प्रथम प्रकार का एकत्व वह है, जो बहुत्व की भावना को पृथक् नहीं करता है (हीनोथीज़्म) और दूसरे प्रकार का एकत्व वह है जो बहुत्व की भावना को पृथक् करता है (मोनोथीज़्म) ।[5]

ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं को अन्य देवताओं के अधीन भी निरूपित किया गयाहै । जैसे – वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन हैं ।[6] वरुण और अश्विन् को विष्णु के समक्ष नतमस्तक बताया गया है ।[7] एक अन्य मन्त्र के अनुसार इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा तथा रुद्र, सविता के नियमों का

---

1. तेन् विश्वस्य् भुवनस्य् राजा । (ऋ. 5.85.3)
2. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः ।
   त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ।। (ऋ. 5.3.1)
3. मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ 40.
4. मैक्समूलर – इन्डिया, व्हाट कैन इट टीच अस ? पृष्ठ 146–147.
5. There is one kind of oneness which does not exclude the idea of plurality (i.e.henotheism); there is another which does (i.e.monotheism).
   मैक्समूलर – सेलेक्टेड एसेज ऑन लैंगुएज, माइथोलॉजी एन्ड रिलीजन, भाग 2, पृष्ठ 415.
6. ऋ. 1.101.3.
7. ऋ. 1.156.4.

उल्लंघन नहीं कर सकते ।[1] इस प्रकार वैदिक देवता पूर्णतः स्वायत्त नहीं हैं । इसी आधार पर "हीनोथीज़्म" के अन्तर्गत मैक्समूलर द्वारा किसी विशेष देवता की सर्वोच्चता के प्रतिपादन को मैक्डॉनल ने स्वीकार नहीं किया है । उनके अनुसार हीनोथीज्म केवल देखने में ही लगता है, वह कोई वास्तविकता नहीं है ।[2]

यदि मैक्समूलर की विचारधारा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि "हीनोथीज्म" के अन्तर्गत "मोनोथीज्म" और "पोलीथीज्म" दोनों ही समाहित हैं । जब हीनोथीज्म "देवत्व" को "एक" के रूप में प्रतिपादित करता है, तो वहाँ "मोनोथीज्म" की झलक दिखाई देती है और जब यह "देवत्व" को "ईश्वर" के रूप में प्रतिपादित करते हुए देवी तथा देवताओं के रूप में उनके बहुत्व को प्रतिपादित करता है तो वहाँ "पोलीथीज्म" स्पष्टतः परिलक्षित होता है । यद्यपि इसके अन्तर्गत अनेक देवता दृष्टिगत होते हैं, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक देवता "सर्वोच्च" रूप में प्रतिष्ठित है । "हीनोथीज्म" के इस स्वरूप को मानव–मन की, विभिन्नताओं को समेकित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणाम के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है । यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि यह एकता "एकत्ववादी" है या "एकदेववादी", तथापि चिन्तन को इसका आधार मानने पर इसे "एकत्ववादी" और भक्तिभावना पर आधारित मानने पर "एकदेववादी" कहा जा सकता है । इसमें देवता बदलते रहते हैं । एक के बाद दूसरा देवता आता है और उसका गुणगान होने लगता है । यहाँ तक कि पूर्व में स्तुत देवता के गुण, प्रकृत में भी आरोपित किये जाते हैं । इसके कारण केवल विशेषण के आधार पर कभी–कभी देवताओं को पहचान पाना कठिन हो जाता है । सम्भवतः इसीलिए ब्लूमफील्ड ने "हीनोथीज्म" को परिपक्व "पोलीथीज्म" माना है, जो हमें "आवसरिक एकेश्वरवाद" की ओर ले जाता है, जिसमें प्रत्येक देवता राजपद प्राप्त करता है, किन्तु उनमें से कोई भी इसे लम्बे समय तक धारण नहीं कर पाता ।[3]

---

1. न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः । (ऋ.2.38.9)
2. मैक्डॉनल ए.ए. – वैदिक माइथोलॉजी, पृष्ठ 16–17.
3. It is polytheism grown cold in service, and unnice in its distinctions, leading to an apportunist monotheism in which every god takes hold of the sceptre and none keeps it.
   ब्लूमफील्ड एम., द रिलीजन ऑफ दी वेद, पृष्ठ 199.

इस सम्बन्ध में एक बात और यह कही जा सकती है कि "हीनोथीज्म" कोरी कल्पना या मात्र सम्भावना पर आधारित कोई धुंधला स्वरूप नहीं है, बल्कि यह आराधक ऋषि की किसी देवता की उपस्थिति तथा उसके व्यक्ति-पक्ष की स्पष्ट अनुभूति का परिणाम है, जिसके प्रति वह समर्पित है। आराधक के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अन्य देवताओं को कम मानता है, बल्कि यही कहना उचित है कि वह प्रस्तुत देवता को अपेक्षाकृत अधिक मानता है। डॉ. बोस ने "हीनोथीज्म" को "अनेक में एक का विधान" माना है।[1] सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि "हीनोथीज्म" में "देवत्व" के प्रति एक सामान्य भक्तिभावपूर्ण मानसिकता है और वह देवताओं के बदल जाने पर भी परिवर्तित नहीं होती।

(घ) एकदेववाद (MONOTHEISM)

"एकदेववाद" अंग्रेजी के "मोनोथीइज्म" शब्द का हिन्दी अनुवाद है। यह ग्रीक भाषा के दो शब्दों – "मोनो (Mono) तथा "थीयोस" (Theos) के योग से बना है, जिनका अर्थ क्रमशः 'एक ही' (Single) और "देवता" (God) होता है।[2] यदि "सिंगल" शब्द पर विचार किया जाए तो इसका अर्थ होगा – किसी एक देवता में ही विश्वास करना। यह धर्म तथा दर्शन दोनों से जुड़ा हुआ है तथा इसके अनुसार ईश्वर को एक, पूर्ण, निर्विकार या अपरिवर्तनशील (Immutable), बिना किसी उपादान के ही जगत् का स्रष्टा, जगत् से भिन्न, पूरी शक्ति के साथ जगत् में अन्तर्भूत (Involved), वैयक्तिक तथा समस्त सृष्टों के द्वारा पूज्य माना गया है।[3] इस प्रकार एकदेववाद समस्त देवों की एकता के रूप में एक ऐसे देव की प्रतिष्ठा करता है, जो अपनी इच्छा से सब कुछ उत्पन्न करता है

---

1. "The cult of the One in Many."
   डॉ. बोस, ए. सी. – द कॉल ऑफ दी वेदाज, पृष्ठ 24.
2. लुडविग, थियोडोर एम. – दी एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 10, पृष्ठ 68.
3. वही, पृष्ठ 69.

तथा उस पर शासन करता है । इसके अतिरिक्त यह अनेक देवों के अस्तित्व का निषेध भी करता है। लुडविग[1] के अनुसार "मोनोथीज्म" एक ही देव को सर्वोच्च मानकर सबको इसकी अधीनता में स्वीकार करता है ।

डॉ.ए.सी.बोस[2] ने एकदेववाद के लिए आठ विशेषताओं का होना प्रतिपादित किया है, जो इस प्रकार हैं – एकदेववादी देव एक दैवी पुरुष है । उसे पुंलिङ्ग ही होना चाहिए । सृष्टि से उसका सम्बन्ध पिता के रूप में होना चाहिए । वह न केवल पिता, अपितु पितर या आदिपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए । उसका निवासस्थान स्वर्ग में होना चाहिए । उसे सबका शासक होना चाहिए तथा सबके सम्राट् के रूप में होना चाहिए । किसी आसुरी शक्ति को उसका स्वाभाविक शत्रु होना चाहिए । अन्ततः सबका निर्विवाद रूप से पूर्ण सम्राट् होने के कारण सभी को उसकी इच्छा के बारे में जानकर उसी के अनुसार अपना जीवन–यापन करना चाहिए । अपनी इच्छा को मानव तक सम्प्रेषित करने के लिए वह अपने दूत पृथ्वी पर भेजता रहता है ।

जहाँ तक ऋग्वेद का सम्बन्ध है, उसमें "एकदेववाद" के लिए बताई गई उपर्युक्त बातों में से एक–दो बातें ही मिल सकती हैं । वस्तुतः ये सारी विशेषताएँ यहूदी, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म एवं दर्शन को दृष्टि में रखकर निर्धारित की हुई प्रतीत होती हैं, क्योंकि ऋग्वेद का धर्म एवं दर्शन इन सबसे प्राचीन होने के साथही साथ उन्नत विचारों से मण्डित भी है । उसमें देव-विषयक विचारों की कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची गई है । हर ढंग के विचार भिन्न–भिन्न स्थलों पर दृष्टिगोचर होते रहते हैं ।यहाँ तक कि जिन तत्त्वों को किसी विद्वान् ने "एकदेववादी" माना है, उन्हीं को दूसरों ने एकत्ववादी माना है । जैसे – ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र, "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"[3] को प्रो.हिरियन्ना[4] ने एकदेववाद का उदाहरण माना है, जबकि इसे ही डॉ.राधाकृष्णन्[5] ने

---

1. Monotheism universalizes the power and authority of the one God exclusively. -------- the one God has authority and power over all peoples, friends and enemies alike.
   लुडविग, थियोडोर एम.– दी एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 10, पृष्ठ 72.
2. बोस, ए.सी. – दी कॉल ऑफ दी वेदाज, पृष्ठ 17–21.
3. ऋग्वेद, 1.164.46.
4. हिरियन्ना एम. – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 38.
5. डॉ.राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ 85.

अद्वैतवाद के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । यहाँ कुछ मन्त्रों पर विचार किया जा रहा है, जो मेरी दृष्टि में एकदेवतावादी विचारधारा को अपने अन्दर समाहित किये हुए हैं । ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में विभिन्न देवताओं का अग्नि में ही अन्तर्भाव कर के अग्नि को एकमात्रदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । उसे ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, अर्यमा तथा अंश के रूप में स्वीकारा गया है ।[1] एक अन्य मन्त्र में अदिति को द्युलोक कहा गया है । अदिति को ही अन्तरिक्ष भी कहा गया है । उसे माता, पिता तथा पुत्र के रूप में भी निरूपित किया गया है । इसके अतिरिक्त उसे समस्त देवताओं तथा पञ्चजनों के रूप में भी माना गया है । अन्ततः उसे जाति (जन्म) तथा जनित्व (जनन-परम्परा) के रूप में भी स्वीकार किया गया है ।[2] इस प्रकार अदिति में ही न केवल सारे देव, अपितु समग्र सृष्टि भी अन्तर्भूत है । देवताओं की इस एकीकरण की परम्परा में विश्वकर्मा का भी प्रमुख स्थान है । यह प्रारम्भ में इन्द्र तथा सूर्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु आगे चलकर इसे न केवल एक स्वतन्त्र देव के रूप में ही, अपितु एकमात्र देव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । इसे दो सूक्त[3] समर्पित किये गए हैं । शाब्दिक रूप से भी विश्वकर्मा का अर्थ "सबको बनाने वाला" होता है । वह सर्वद्रष्टा है । उसकी आँखें सब तरफ हैं, उसके मुख सब जगह हैं, उसकी भुजाएँ तथा पैर सब तरफ हैं । वह द्युलोक और पृथिवीलोक को अपनी विशाल भुजाओं तथा पंखों से उत्पन्न करता है ।[4] इस प्रकार वह एकमात्र देव के रूप में प्रतिष्ठित है । एक अन्य मन्त्र में यह कहा गया है कि वह विश्वकर्मा हम सबका रक्षक एवं पिता है । वह सबका स्रष्टा एवं देवताओं को नाम

---

1. (क) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
   त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या ।। (ऋ. 2.1.3)
   (ख) त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ।
   त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयु ।। (ऋ. 2.1.4)
2. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
   विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।। (ऋ. 1.89.10)
3. ऋग्वेद10.81 तथा 82.
4. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
   सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।। (ऋ. 10.81.3)

प्रदान करने वाला है, वह एक है तथा सभी जिज्ञासा शान्त करने हेतु उसके पास जाते हैं ।[1]

ऋग्वेद की एकेश्वरवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत हिरण्यगर्भ का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रजापति के साथ इसकी एकरूपता भी प्रतिपादित की गई है ।[2] वस्तुतः यह प्रकृति की सर्जनात्मक शक्ति का पुरुषीकृत स्वरूप है । उसे प्राणिमात्र का अद्वितीय स्वामी तथा द्युलोक एवं पृथिवी को धारण करने वाला बताया गया है ।[3] आगे चलकर उसे सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है कि – हे प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा देव इन समस्त उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं किया है।[4]

ऋग्वेद का पुरुष सूक्त[5] अपनी दार्शनिक एवं याज्ञिक महत्ता के लिए विश्व–विश्रुत है । उसमें पुरुष को ही समस्त उत्पन्न हो चुके तथा भविष्य में उत्पन्न होने वाले पदार्थों के रूप में देखा गया है । उसे अमरता अर्थात् देवों के स्वामी के रूप में भी स्वीकार किया गया है ।[6] इस प्रकार पुरुष एकमात्र देव के रूप में निरूपित है । वह प्रकृति से अभिन्न है । वह सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है । सम्भवतः पुरुष के इसी स्वरूप के कारण कुछ विद्वानों[7] ने इसे सर्वेश्वरवाद का प्रतीक माना है । ब्लूमफील्ड[8] ने पुरुषसूक्त में एकदेववादी सर्वेश्वरवाद (Monotheistic Pantheism)

---

1. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
   यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ।। (ऋ. 10.82.3)
2. तैत्तिरीय संहिता – 5.5.1.2.
3. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
   स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (ऋ. 10.121.1)
4. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । (ऋ. 10.121.10)
5. ऋग्वेद 10.90.
6. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।। (ऋ. 10.90.2)
7. (क) हिरियन्ना एम. – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 38.
   (ख) उपाध्याय बलदेव – वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 484.
8. ब्लूमफील्ड मोरिस – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 242.

का सिद्धान्त माना है । सूक्त में पुरुष को एक देवता के रूप में प्रतिपादित करते हुए उसे सम्पूर्ण सृष्टि में अनुस्यूत बताया गया है । इसीलिए मैंने इसे एकदेववादी प्रवृत्ति के चरम निदर्शन के रूप में स्वीकार किया है । हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह सूक्त हमें अन्य देवों या सूक्तों की अपेक्षा एकत्ववाद या अद्वैतवाद के अधिक निकट ले जाता है ।

प्रकृत एकेश्वरवादी प्रवृत्ति हमें इन्द्र को समर्पित सूक्तों में भी उपलब्ध होती है । एक स्थान[1] पर कहा गया है कि इन्द्र अपनी शक्तियों के द्वारा नाना रूपों को धारण कर लेते हैं । उन्हीं में समस्त देवता निहित हैं । कुछ सूक्तों[2] में बृहस्पति को भी एकमात्र देव के रूप में स्वीकार किया गया है । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में ही आर्यों ने अपने बहुदेववादी सिद्धान्त को एकदेववाद में परिणत कर लिया था । इसी स्वरूप को मैक्डॉनेल[3] ने बहुदेववादी एकेश्वरवाद (पॉलीथीइस्टिक मोनोथीइज्म) की सञ्ज्ञा दी है । म्योर ने अपनी पुस्तक में एम.पिक्टेट के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है – आर्य धर्म का आरम्भिकतम रूप एकेश्वरवादी था जो बाद में अनेकदेवतावादी बन गया ।[4] वस्तुतः विभिन्न देववादी प्रवृत्तियाँ विकास का प्रतिफल नहीं हैं,बल्कि एक ही समय में भिन्न–भिन्न ऋषियों की पृथक्–पृथक् दृष्टि की परिचायक है । इन सिद्धान्तों में भेद पूर्णता या परिपक्वता की मात्रा के आधार पर न होकर पद्धति के आधार पर है । सभी वाद,विचार की विभिन्न प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

(ङ.) वैदिक अद्वैतवाद (VEDIC ADVAITISM OR MONISM)

ऋग्वेद की चरम देवात्मक प्रवृत्ति को पाश्चात्य विचारकों ने "मोनीज्म" की सञ्ज्ञा दी है । डॉ.राधाकृष्णन्[5] एवं आचार्य बलदेव उपाध्याय[6] ने इसे "अद्वैतवाद" तथा हिरियन्ना[7] ने "एकवाद"

---

1. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । (ऋ. 6.47.18)
2. ऋग्वेद 10.71 तथा 72.
3. मैक्डॉनेल – वैदिक माइथॉलोजी, पृष्ठ 16.
4. म्योर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, वाल्यूम 5, पृष्ठ 412–420.
5. राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन, भाग – 1, पृष्ठ 81 एवं 84.
6. उपाध्याय, बलदेव – वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 484.
7. हिरियन्ना – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 39.

और गणेशदत्त शर्मा[1] ने "एकत्ववाद" कहा है । "मोनीज़्म" शब्द का प्रयोग विचारकों के उस वर्ग अथवा उन दार्शनिक प्रणालियों के लिए किया जाता है, जो सत्य की एकता पर बल देती हैं ।[2] वस्तुतः ऋग्वेद में हमें जो एकत्व दृष्टिगत होता है वह देवताओं को लेकर है । उसके अनुसार एक ही देवता में सभी देवताओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । अर्थात् देवता अनेक हैं, किन्तु उनका देवत्व एक है । उनके माध्यम से स्तोता परम तत्व की स्तुति करता है । आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद में मात्र देवता का ही एकत्व नहीं प्रतिपादित किया गया है, बल्कि उसमें पूरी सत्ता को एक बताते हुए जगत् का मिथ्यात्व निरूपित किया गया है । उसी से भेद बताने के लिए यहाँ "वैदिक अद्वैतवाद" इस सञ्ज्ञा को रखा गया है ।

वैदिक अद्वैत को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है । पहला दृष्टिकोण आत्मगत हो सकता है, इसे हम विषयीगत भी कह सकते हैं । इसमें हम स्तोता ऋषि की मनोवृत्ति पर विचार करते हैं, जिससे पता चलता है कि प्रत्येक ऋक् एक आध्यात्मिक और विनम्र मानसिकता से अनुप्राणित है । यह मनोवृत्ति तथा भावना उस समय भी परिवर्तित नहीं होती, जब कि विषय या देवता बदल जाता है । यही मनोवैज्ञानिक तत्व हमें एकत्व की ओर ले जाता है । दूसरा दृष्टिकोण विषयगत या वस्तुगत हो सकता है । यदि हम स्तोता की मनोवृत्ति पर विचार किये बिना उसके स्तुति के विषयों पर विचार करें तो हमें सामान्य रूप से बहुदेवात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । यहाँ यह भी विचारणीय है कि देवों के उस बहुत्व में भी उनकी स्तुति–प्रक्रिया भिन्न नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक देवता सद्गुणों से ओतप्रोत है । स्तुतियों में उसे शुभ, हितकारी तथा नैतिक मानदण्डों के अनुसर्ता के रूप में चित्रित किया गया है । अतः इस दृष्टिकोण से विचार करने पर भी हमें एकत्ववाद की ही स्पष्ट प्रतीति होती है, न कि बहुदेववाद की ।

---

1. शर्मा,गणेशदत्त – ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 88.
2. "Monism is a term applied to a group of thinkers or to philosophical systems that emphasize the oneness or unity of reality."
   द एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, वाल्यूम 10, पृष्ठ 57.

वस्तुतः ईश्वर–सम्बन्धी किसी भी विचारधारा के निष्कर्ष के रूप में हमें एकत्ववाद पर जाकर अनिवार्य रूप से रुकना पड़ेगा । इसका मुख्य कारण यह है कि परम सत्ता केवल एक ही हो सकती है । यदि अनेक सत्ताओं को माना जाएगा, तो उसमें से कुछ को किसी के अधीन भी मानना ही पड़ेगा, फलतः एक सत्ता का ही अस्तित्व हमारे समक्ष उपस्थित होगा । ज्यों–ज्यों जगत् की आन्तरिक कार्य–प्रणाली तथा उसके स्वामी ईश्वर के स्वरूप की प्रक्रिया आगे बढ़ती है, अनेक देवता एक ईश्वर में प्रविष्ट हो जाते हैं । ऋग्वेद में ऋत की अवधारणा में जिस एकता के भाव का ज्ञान हुआ, वह भी अद्वैतवादी प्रवृत्ति का ही समर्थन करता है । यदि प्रकृति की अनेकविध और भिन्न–भिन्न घटनाओं के कारण अनेक देवों की कल्पना की जाती है, तो प्रकृति के भीतर स्थित एकता की भावना के आधार पर ही ईश्वर के एकत्व को भी स्वीकार करना चाहिए । इसी दृष्टिकोण से वैदिक ऋषियों का अभिनिवेश विश्व के एक ऐसे आदिकारण का अन्वेषण करने की ओर था, जो एकमात्र स्रष्टा हो, स्वयम्भू हो तथा साथ ही अनश्वर हो । इसी दिशा में विचार करते हुए उन्होंने जिज्ञासा की कि "प्रथम उत्पन्न देव को किसने देखा ? उसे किसने देखा जो स्वयं अस्थिहीन होते हुए भी अस्थिधारियों को उत्पन्न करने वाला है । जानने वाले विद्वान् के पास कौन यह पूछने गया ?"[1]

ऋषियों ने उस आदिकारण को नपुंसकलिङ्ग में रखा तथा सत्–स्वरूप माना । इससे प्रतीत होता है कि परम तत्त्व लिङ्ग की भावना से परे है । यहीं वे एकदेववादी प्रवृत्ति से आगे बढ़ जाते हैं, जिसमें मूल तत्व को एक व्यक्ति या पुरुष के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है । ब्लूमफील्ड ने भी इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि उपनिषदों के पूर्व वैदिक चिन्तन में एकदेववादी प्रवृत्ति ने एकत्ववादी धारणाओं, जैसे – "तत्", "एकम्" इत्यादि के साथ–साथ शान्तिपूर्वक विकास प्राप्त किया ।[2] उन्होंने ऋग्वेद के 1.164.46 तथा 10.129.2 पर टिप्पणी

---

1. ऋग्वेद 1.164.4.
2. "A strong monotheistic tendency which seemed to develop simultaneously and peacefully along with the monistic ideas, such as the "That", the "Only", the "Being".

   ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 270.

करते हुए लिखा है कि इन दोनों मन्त्रों में अद्वैतवाद है, कहीं भी द्वैत नहीं है । यहाँ तक कि ये उपनिषदों के ब्रह्म तथा आत्मा और परवर्ती वेदान्त दर्शन के पूर्व चरण हैं ।[1] इस पर विचार करने हेतु सर्वप्रथम वह सुप्रसिद्ध मन्त्र लिया जा रहा है जिसमें कहा गया है कि लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि कहते हैं तथा वह दिव्य सुन्दर पंखों वाला गरुत्मान् है, विप्र लोग उस एक ही सत् को बहुत प्रकार से कहते हैं, वे इसे अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं ।[2] इस मन्त्र में आए "एकम" तथा "सत्" ये दोनों पद विचारणीय हैं । इन विशेषणों द्वारा उस परम सत्ता को लिङ्गातीत प्रतिपादित किया गया है । वह कुछ भी हो, उसी का तत्त्व अन्य देवताओं में व्याप्त है ।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि विप्र एवं कवि लोग एक ही सुपर्ण को अपनी वाणियों द्वारा अनेक प्रकार से कल्पित करते हैं ।[3] इससे भी यही प्रमाणित होता है कि परम सत्ता एक ही है । सारी अनेकताओं के होते हुए भी यहाँ तत्त्व की एकता प्रतिपादित की गई है ।

आचार्य यास्क ने भी देवताओं की वास्तविक एकता को प्रतिपादित करते हुए कहा है – देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा अनेक प्रकार से स्तुत होता है । अन्य सभी देवता एक ही आत्मा के पृथक्–पृथक् अङ्ग हैं ।[4]

---

1. "They herald monism; they claim that there is but one essence, one true thing: it is but a step from such ideas to the pantheistic, absolute, without a second, Brahman-Atman of the Upnishads and the later Vedanta philosophy."
   ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 211.
2. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। (ऋ. 1.164.46)
3. सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति । (ऋ.10.114.5)
4. माहाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते ।
   एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।। (निरुक्त – 7.4)

वैदिक अद्वैतवाद का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हमें नासदीय सूक्त[1] में उपलब्ध होता है, जिसे "भारतीय विचारधारा का पुष्प" और "विश्व साहित्य की वस्तु" कहा गया है ।[2] इस सूक्त में ऋषि ने दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है । इस सूक्त के अनुसार प्रारम्भ में "असत्" और "सत्" दोनों का निषेध किया गया है । यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था नितान्त "असत्" की नहीं हो सकती, क्योंकि सूक्त में ही कहा गया है कि एक "तत्त्व" अकेले अपनी शक्ति से वायु के बिना भी श्वास ले रहा था ।[3] वस्तुतः "सत्" और असत्" परस्पर अन्योन्याश्रित शब्द हैं, जिनका प्रयोग उस महान् "एक" तत्त्व के लिए नहीं किया गया है, क्योंकि वह सभी प्रकार के विरोधों से परे है । असत् का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि जो इस समय हमारी दृष्टि में वर्तमान है, उस समय उसकी सत्ता प्रकट रूप में नहीं थी । मन्त्र में विद्यमान "तत्" तथा "एकम्" पद विशेष महत्व के हैं। इन दोनों नपुंसक लिङ्.ग में प्रयुक्त पदों से उस परम तत्त्व की भावात्मकता तथा एकात्मकता का प्रतिपादन होता है ।

अब तक जिन उद्धरणों पर विचार किया गया वे सभी ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल से सम्बद्ध हैं, जिन्हें इतिहासविद् अपेक्षाकृत बाद में उपनिबद्ध किया गया बताते हैं । यदि अन्य मण्डलों में भी इस अद्वैती प्रवृत्ति का अन्वेषण किया जाय, तो हमें निराश नहीं होना पड़ेगा । इस दृष्टि से तृतीय मण्डल के उस मन्त्र को उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें यह कहा गया है कि एक ही, जो विश्व अर्थात् सब कुछ है, इस चराचर तथा उड़ने वाले समस्त जगत् का स्वामी है ।[4] इस मन्त्र में भी दो पद – "एकम्" और "विश्वम्" दृष्टि आकृष्ट करते हैं । इनसे यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि वह मूल तत्त्व "एक" भी है तथा "सबकुछ" वही है । इसके अतिरिक्त तृतीय मण्डल में ही एक पूरा 22 मन्त्रों का सूक्त[5] है, जिसमें प्रत्येक मन्त्र के चतुर्थ चरण में यह ध्रुवपद आया है –

---

1. ऋग्वेद – 10.129.
2. हिरियन्ना – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 41–42.
3. आनीदवातं स्वधया तदेकम् । (ऋ. 10.129.2)
4. एजद्ध्रुवं पत्यते विश्वमेकं चरत्पतत्रि विषुणं विजातम् । (ऋ. 3.54.8)
5. ऋग्वेद – 3.55 पूरा सूक्त.

"महद्देवानामसुरत्वमेकम्" । इसका अर्थ है कि देवताओं के अन्दर विद्यमान असुरत्व अर्थात् बल या सामर्थ्य एक ही है । इस प्रकार यह पूरा सूक्त ही देवताओं के एकत्व को प्रतिपादित करता है ।

ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें परम तत्त्व को एक साथ ही – पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग में अभिव्यक्त किया गया है । उदाहरण के रूप में एक मन्त्र को लिया जा सकता है, जिसका अर्थ है – एक ही अग्नि सर्वत्र दीप्त होता है, एक ही सूर्य सर्वत्र प्रादुर्भूत है, एक ही उषा समस्त जगत् को प्रकाशित करती है, अतः एक ही तत्त्व है, जो सबके रूप में अवस्थित है ।[1] यहाँ तत्त्व को "अग्नि" एवं "सूर्य" के रूप में पुंलिङ्ग, "उषा" के रूप में स्त्रीलिङ्ग तथा अन्ततः "एकम्" के रूप में नपुंसकलिङ्ग में व्यक्त किया गया है । इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मूल तत्त्व को नपुंसकलिङ्ग में ही रखना अच्छा है, यद्यपि पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में रखने से भी कोई व्याघात नहीं है । निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि गहन चिन्तन–जन्य अनुभव को किसी भी रूप में व्यक्त किया जा सकता है । मैक्समूलर ने भी सत्ता की "एकता" को ही स्वीकार किया है । उनका कहना है – "ऋग्वेदसंहिता के सङ्ग्रह की समाप्ति का चाहे जो भी काल रहा हो, उस काल के पहले इस विचार के विश्वास की जड़ जम गई थी कि एक ही अद्वितीय सत्ता है, जो न पुरुष है, न स्त्री, एक ऐसी सत्ता जो दैहिक एवं मानुषिक प्रकृति की सब अवस्थाओं और बन्धनों से उन्मुक्त और बहुत ऊँची श्रेणी की है, किन्तु तब भी वही सत्ता इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा और यहाँ तक कि प्रजापति अर्थात् प्राणिमात्र का स्वामी आदि विविध नामों से पुकारी जाती है ।"[2]

डॉ. चन्द्रधर शर्मा ने वैदिक देववाद के विकास–क्रम को अस्वीकार करके केवल एकत्ववाद को माना है । उनके अनुसार "ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र से लेकर अन्तिम उपनिषदों के भाग तक बहुदेववाद, एकदेववाद और अद्वैतवाद का विकास न होकर केवल अद्वैतवाद की उद्भावना की गई

---

1. एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
   एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।। (ऋ. 8.58.2)
2. मैक्समूलर – सिक्स सिस्टम्स ऑफ इन्डियन फिलोसॉफी, पृष्ठ 51, 52.

है ।"[1] यहाँ सूक्ष्म विचार करने से यह ज्ञात होता है कि "देवत्व" एक तत्त्वमीमांसीय बिन्दु है, क्योंकि उसे "एकं सत्" के रूप में नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त किया गया है । वैदिक ऋषियों का यह कोई आकस्मिक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि जैसा कि हम पीछे के विवेचन में देख आए हैं, ऐसी बातें अनेकत्र उपलब्ध होती हैं । वस्तुत यह वैदिक आस्तिकता का तत्त्वमीमांसीय आधार है । सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार की भावना में हम किसी ऐसे सिद्धान्त पर नहीं पहुँचते, जिसमें किसी ऐसे देवता के "एकत्व" की बात की गई हो, जो किसी विशेष स्थान पर रहता है, अपितु एक "दैवी अस्तित्व" के "एकत्व" की बात की गई है, जिसे तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से समझा जा सकता है तथा जो सबको व्याप्त किये हुए है । एक ही तत्त्व को ऋषि तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से बताते हुए नपुंसक लिङ्ग के एकवचन में रखते हैं तथा काव्यात्मक दृष्टि से पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा द्वैत या बहुत्व के रूप में कल्पित करते हैं, जबकि इन भावनाओं में कहीं भी विरोध की स्थिति नहीं बनती । एकदेववाद एक ऐसे देवता की स्थापना करता है, जो सब पर शासन करने वाला है, किन्तु वैदिक अद्वैतवाद इससे भी आगे बढ़कर है, क्योंकि इसमें एक को बहुतों में और बहुतों को एक में समाविष्ट बताया गया है । साधारण दार्शनिक अधिक से अधिक अद्वैतवाद के उस बिन्दु तक पहुँच सकते हैं, जिसमें एक "सत्" तथा अन्य सबकुछ "असत्" बताया गया है, किन्तु वैदिक अद्वैतवाद एक रहस्यात्मक अनुभूति पर आधारित है, जिसमें "एक" तो "सत्" है ही, "अनेक" भी "सत्" हैं । इसके अतिरिक्त "अनेक", उस "एक" में अपनी "एकता" का अनुभव करते हैं । इन भावनाओं को अपने अन्दर रखे हुए अनेक मन्त्रों को पीछे उद्धृत किया गया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में आस्तिकता की भावना मात्र साधारण धार्मिक विचारों तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति से ओतप्रोत है ।

---

1. "There is no development from polytheism through monotheism to monism, but only of monism from the first Mantra portion to the last Upanishadic portion."

   शर्मा, चन्द्रधर – ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ 16.

(च) त्रितत्त्ववाद

वैदिक अद्वैतवाद के अन्तर्गत यह सुस्पष्ट किया गया है कि देवत्व एक है और वही सर्वत्र व्याप्त है । अब प्रश्न जगत् तथा जीवों को लेकर है कि क्या ये सत्य हैं तथा यदि सत्य हैं, तो इनका सम्बन्ध क्या है ? स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार इसके अनतर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति को यथार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है ।[1] वे परमात्मा की सत्ता को शाश्वत और सर्वोत्कृष्ट मानते हुए जीव और जगत् को भी अनादि मानते हैं, अतः ये दोनों भी यथार्थ हैं । "यद्यपि ईश्वर के साथ उनका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, किन्तु किसी भी प्रकार वे अपनी यथार्थता के लिए ईश्वर के आश्रित नहीं हैं ।"[2] ये तीनों तत्त्व अलग-अलग सर्वथा सत्य और यथार्थ हैं ।

ऋग्वेद में हमें कोई ऐसा मन्त्र उपलब्ध नहीं होता,जिसमें जगत् की सत्ता को अस्वीकार किया गया हो । अतः तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर, जीव तथा जगत् तीनों ऋग्वेद के इष्ट प्रतीत होते हैं इस सम्बन्ध में हमें सुप्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त में एक मंत्र उपलब्ध होता है, जिसमें कहा गया है कि दो समान योग वाले, मित्र, सुन्दर पंखों वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर आश्रय ग्रहण किये हुए हैं । इनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल सञ्ज्ञक फल खाता है तथा दूसरा फल न खाते हुए सबको देखता है ।[3] इस मन्त्र में बताए गए दोनों पक्षी वस्तुतः जीवात्मा तथा परमात्मा हैं । अपने कर्मों के अनुसार फल का भोग करने वाला पक्षी जीवात्मा है तथा दूसरा आप्तकाम होने के कारण भोक्तृत्वविहीन पक्षी परमात्मा है । दोनों का आश्रय वृक्ष अर्थात् संसार है । आचार्य सायण[4] एवं आत्मानन्द[5] ने वृक्ष का अर्थ "शरीर" भी किया है । इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद में परमात्मा, आत्मा और जगत् तीनों तत्त्वों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । यह मन्त्र विभिन्न उपनिषदों में उद्धृत है तथा सम्भवतः इसी के आधार पर आचार्य रामानुज ने तीनों तत्त्वों को स्वीकार करते हुए परमात्मा को शेष दोनों से विशिष्ट मानकर विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की ।

---

1. वेदालङ्कार जयदेव - वैदिक दर्शन, पृष्ठ 39.
2. वही, पृष्ठ 87.
3. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। (ऋ. 1.164.20)
4. उपर्युक्त मन्त्र पर सायण भाष्य.
5. उपर्युक्त मन्त्र पर आत्मानन्द भाष्य.

अध्याय – 3

ऋग्वेद में दर्शन के परिनिष्ठित रूप की गवेषणा

(क) ऋग्वेद में तत्त्वमीमांसा

- (1) ऋग्वेद में "जगत्" – विचार
- (2) ऋग्वेद में "माया"
- (3) ऋग्वेद में "आत्मा"
- (4) ऋग्वेद में "ब्रह्म"
- (5) ऋग्वेद में "मोक्ष" और "अमृतत्व"
- (6) ऋग्वेद में "ऋत"

(ख) ऋग्वेद में ज्ञानमीमांसा

- (1) ज्ञानमीमांसा का सामान्य स्वरूप
- (2) ऋग्वेद में "प्रमा" शब्द
- (3) ऋग्वेद में "प्रत्यक्ष", "अनुमान" और "शब्द" प्रमाणों के सङ्केत
- (4) ऋग्वेद में शब्दात्मिका "वाणी" का आविर्भाव

(ग) ऋग्वेद में आचारमीमांसा

- (1) यज्ञीय आचारमीमांसा
- (2) लौकिक आचारमीमांसा
  - (अ) सत्याचरण
  - (ब) अहिंसा
  - (स) एकता एवं लोककल्याण

प्रायः सभी भारतीय एवं पाश्चात्त्य विचारकों ने उत्तरकालीन भारतीय विचारों को ऋग्वेद से ही पल्लवित माना है । यद्यपि उसमें इन दार्शनिक तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन नहीं किया गया है, तथापि कहीं न कहीं इनके निर्देश अवश्य उपलब्ध होते हैं । यहाँ विचारणीय है कि दर्शन के आधुनिक आयामों में विवेचित तत्त्व ऋग्वेद में कहाँ और किस रूप में अवस्थित हैं ? इस दृष्टि से इन्हें तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा की परिधि में निबद्ध कर इनकी समीक्षा की जा सकती है।

(क) ऋग्वेद में तत्त्वमीमांसा :-

तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या की जाती है । भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न तत्त्वों की विवेचना की गई है । यहाँ ऋग्वेद में आए हुए जगत्, माया, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष तथा ऋत की अवधारणाओं पर विचार करना अपेक्षित है ।

(1) ऋग्वेद में "जगत्" - विचार :- ऋग्वेद में विभिन्न विभक्तियों और रूपों में "जगत्" शब्द का 44 बार प्रयोग किया गया है ।[1] जगत् की उत्पत्ति को लेकर लगभग छः सूक्त उपलब्ध होते हैं ।[2] विश्वकर्मा को प्रलयकाल में जगत् का संहारक तथा पुनः सिसृक्षा होने पर इसका कर्त्ता भी कहा गया है ।[3] एक मन्त्र में आया है - विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया, तत्पश्चात् जल में इधर-उधर चलने वाले द्यावापृथिवी को ।[4] इस प्रकार विश्वकर्मा को जगत्स्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90) में आदिपुरुष से ही सारी सृष्टि का उद्भव बताया गया है । उसमें सर्वप्रथम पुरुष का स्वरूप बताकर उससे विराट् की उत्पत्ति बताई गई

---

1. ऋग्वेद-संहिता-पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 220-221.
2. ऋग्वेद 10.81, 82, 90, 121, 129 तथा 190.
3. ऋग्वेद 10.81.1 पर सायण-भाष्य.
4. चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
   यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ।। ऋग्वेद 10.82.1.

है । विराट् से ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव की उत्पत्ति तथा उसके द्वारा पशु, पक्षी, मनुष्यों, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि की सृष्टि का विस्तृत वर्णन किया गया है ।[1] इस सूक्त की दार्शनिक समीक्षा आगे पुरुषसूक्त से सम्बद्ध अध्याय 5 में की गई है ।

ऋग्वेद का "हिरण्यगर्भ सूक्त"[2] सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध सूक्तों में महत्त्वपूर्ण है । इसमें हिरण्यगर्भ को प्राणिमात्र का स्वामी तथा पृथिवी और द्युलोक का धारक बताया गया है ।[3] उसकी उत्पत्ति विशाल जलराशि से बताई गई है ।[4] उसे पृथ्वी, द्युलोक तथा आह्लादकारी जल का स्रष्टा कहा गया है ।[5] इस प्रकार हिरण्यगर्भ से ही सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है । इस सूक्त की समीक्षा अध्याय 6 में की गई है ।

ऋग्वेद में जगत् के सम्बन्ध में दार्शनिक विचारों से मण्डित सुप्रसिद्ध "नासदीय सूक्त"[6] है। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों ने इस सूक्त के अन्तर्गत अनुस्यूत विचारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । इस सूक्त की तीन आरम्भिक ऋचाओं में सृष्टि से पूर्व की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है । उनमें सत्, असत्, अन्तरिक्ष, उसके ऊपर स्थित आकाश, मृत्यु, अमृत, रात-दिन के ज्ञापक चिह्न इत्यादि सभी तत्त्वों के अस्तित्व का निषेध किया गया है ।[7] वस्तुतः नासदीय सूक्त के अभिप्रेत कथ्य को समझना नितान्त दुष्कर है । अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस सूक्त की व्याख्या की है। इसका आलोचनात्मक परिशीलन अध्याय 8 में किया गया है ।

---

1. ऋग्वेद 10.90 पर सायण-भाष्य.
2. ऋग्वेद 10.121.
3. ऋग्वेद 10.121.1.
4. ऋग्वेद 10.121.7.
5. ऋग्वेद 10.121.9.
6. ऋग्वेद 10.129.
7. ऋग्वेद 10.129.1, 2 तथा 3.

ऋग्वेद के अन्तर्गत सृष्ट्युत्पत्ति से सम्बद्ध अन्तिम सूक्त "अघमर्षण सूक्त"[1] है । उसमें कहा गया है – प्रज्वलित तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए । इसके बाद दिन–रात तथा जल से पूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई । समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ तथा ईश्वर ने समस्त प्राणियों की सृष्टि की । पूर्वकाल की सृष्टि के समान ही इसमें भी सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष की सृष्टि हुई ।[2]

इन सूक्तों के अतिरिक्त अन्यत्र भी सविता[3], त्वष्टा[4], धाता[5] इत्यादि को भी जगत् का स्रष्टा कहा गया है । कुछ मन्त्रों में सूर्य को मनुष्यों को उत्पन्न करने वाला बताया गया है ।[6] एक अन्य मन्त्र में अग्नि के लिए कहा गया है कि उसने मानवीय प्रजाओं की सृष्टि की ।[7] इसके अतिरिक्त आकाश और पृथिवी को सबके माता–पिता के रूप में स्वीकार किया गया है ।[8]

इस प्रकार ऋग्वेद में सृष्टि को लेकर अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये गए हैं । अलग–अलग स्थानों पर अन्यान्य देवताओं को जगत् का स्रष्टा कहा गया है । एक

---

1. ऋग्वेद 10.190.
2. ऋतञ्च सत्यं चाभीदात्तपसोऽध्यजायत ।
   ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः । ऋग्वेद 10.190.1.
   समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
   अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।। ऋग्वेद 10.190.2.
   सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
   दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ऋग्वेद 10.190.3.
3. ऋग्वेद 5.81.5, 4.53.3 इत्यादि.
4. ऋग्वेद 3.55.19, 10.10.5, 110.9, 5.31.4 इत्यादि.
5. ऋग्वेद 10.82.2.
6. ऋग्वेद 7.63.2 तथा 3.
7. इमाः प्रजाः अजनयन्मनूनाम् । ऋग्वेद 1.96.2.
8. ऋग्वेद 1.160.1.

सूक्त को तो डॉ.सी.के.राजा ने "सृष्टि की पहेली" ही कहा है ।[1] उस सूक्त के जगत् सम्बन्धी विचारों को चतुर्थ अध्याय में विवेचित किया गया है । वस्तुतः देवों द्वारा जगत् की रचना का विचार ऋग्वैदिक देववाद के साथ ही विकसित होता गया । जैसे – बहुदेववादी युग में सविता, इन्द्र, विष्णु, सूर्य, त्वष्टा आदि को सृष्टिकर्ता माना गया है । एकदेववाद के समय हिरण्यगर्भ या पुरुष को स्रष्टा बताया गया है । आगे चलकर एकत्ववादी प्रवृत्ति होने पर विश्व को परम सत्ता के ही विकसित रूप में स्वीकार किया गया है ।

(2) **ऋग्वेद में "माया"** :– ऋग्वेद में "माया" शब्द विभिन्न विभक्तियों और रूपों में कुल मिलाकर 102 बार प्रयुक्त हुआ है ।[2] यह अनेक अर्थों का अभिधायक है । ऋग्वेद के कई मन्त्रों में "माया" शब्द प्रज्ञा या बुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । एक स्थान पर आए "माया" शब्द की व्याख्या सायण ने बुद्धि के अर्थ में की है ।[3] एक और मन्त्र द्रष्टव्य है, जिसमें "मायिन्" शब्द का प्रयोग "प्राज्ञ" या "प्रज्ञावान्" के अर्थ में किया गया है ।[4] इनके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर यह शब्द प्रज्ञा के अर्थ में ही प्रयुक्त है ।[5]

ऋग्वेद के कई मन्त्रों में "माया" शब्द का प्रयोग शक्ति के अर्थ में किया गया है । एक मन्त्र में कहा गया है – इन्द्र ने माया अर्थात् अपनी शक्ति से अहि को अभिभूत किया ।[6] इसी मन्त्र में आए "मायिन्" का अर्थ आचार्य सायण ने 'कपटवान्' किया है ।[7] इससे यह ज्ञात होता है कि माया

---

1. राजा, डॉ.सी.के. – अस्यवामस्य हिम (दि रिडिल ऑफ द यूनिवर्स), ऋग्वेद 1.164.
2. ऋग्वेद–संहिता–पञ्चम भाग, सूचीखण्ड, पृष्ठ 446–447.
3. मायाविनो ममिरे अस्य मायया । ऋग्वेद 9.83.3.
   माया प्रज्ञा । प्रज्ञावन्तो देवाः अस्य सोमस्य मायया प्रज्ञया ममिरे निर्मान्ति । उक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य.
4. महिषसो मायिनश्चित्रभानवः । ऋग्वेद 1.64.7, द्रष्टव्य-सायण-भाष्य.
5. ऋग्वेद 1.144.1, 151.9, 159.4, 160.3, 2.17.5, 3.27.7, 60.1, 4.30.12, 5.31.7, 48.1, 6.48.14, 7.28.4, 8.76.1, 10.88.6, 147.5 इत्यादि.
6. मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः । ऋग्वेद 5.30.6.
7. उक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य.

का अर्थ "कपट" भी है । एक अन्य मन्त्र में भी यह शब्द कपट के अर्थ में ही प्रयुक्त है ।[1] यहाँ सायण ने "मायिनम्" का अर्थ "नानाविधकपटोपेतम्" और "मायाभिः" का "तत्प्रतिकूलैः कपटविशेषैः" किया है ।[2] एक मन्त्र के भाष्य में सायण ने माया को ज्ञानवाचक मानते हुए इसका अर्थ आत्मीय सङ्कल्प किया है – "मायाभिः । ज्ञाननामैतत् । ज्ञानैः आत्मीयैः सङ्कल्पैः ।"[3]

ऋग्वेद में "आसुरी माया" के अर्थ में भी माया शब्द का प्रयोग किया गया है ।[4] इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थान पर आए हुए माया शब्द का अर्थ भी सायण ने आसुरी माया से किया है – "मायिनां मायोपेतानामसुराणां सम्बन्धिनीः मायाः" ।[5] इसके अतिरिक्त कई अन्य स्थलों पर भी "माया" शब्द का प्रयोग आसुरी माया के लिए किया गया है ।[6]

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में माया शब्द का प्रयोग "कर्म" के अर्थ में किया गया है ।[7] इसके अतिरिक्त दो स्थलों पर इसका प्रयोग जीव के हृदय में मोह उत्पन्न करने वाली त्रिगुणात्मिका शक्ति के अर्थ में किया गया है । प्रथम स्थल[8] पर आचार्य सायण ने इसका अर्थ – 'स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती परांस्तु तथा कुर्वती मायेत्युच्यते" किया है ।[9] दूसरे स्थल[10] पर उन्होंने "मायया"

---

1. मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः । ऋग्वेद 1.11.7.
2. वही, सायण-भाष्य.
3. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । ऋग्वेद 6.47.18, द्रष्टव्य सायण-भाष्य.
4. ऋते सप्तथस्य मायाः । ऋग्वेद 10.99.2.
5. मायिनाममिनाः प्रोत मायाः । ऋग्वेद 1.32.4, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य.
6. ऋग्वेद 1.117.3, 3.20.3, 34.3, 5.2.9, 44.2, 6.18.9, 22.9, 7.1.10, 98.5, 99.4, 8.23.14, 41.8 इत्यादि.
7. वरुणस्य मायया। ऋग्वेद 9.73.9, "वरुणस्य मायया कर्मणा" – सायण-भाष्य, द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.33.10, 8.41.3, 10.53.9 इत्यादि.
8. स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् । ऋग्वेद 5.40.8.
9. वही, सायण-भाष्य.
10. पतंगमक्तमसुरस्य मायया । ऋग्वेद 10.177.1.

का अर्थ "त्रिगुणात्मिकया" किया है । वहीं वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है – माययाक्तं जीवरूपेणाभिव्यक्तमात्मानम् ।[1] इस प्रकार उनका माया का वैकल्पिक अर्थ जीव के रूप में अभिव्यक्त परमात्मा से है ।

इन सभी अर्थों के अतिरिक्त ऋग्वेद में एक स्थान पर "माया" शब्द का प्रयोग "मिथ्या" के अर्थ में किया गया है । उसकी व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है – "ते तव गतिः मायैव । मृषेत्यर्थः ।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में आए "माया" शब्द को भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है । जहाँ तक दार्शनिक क्षेत्र का प्रश्न है, उसमें अन्तिम तीन अर्थ ही सङ्गत हो सकते हैं । यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य शङ्कर के मन में माया की धारणा अन्तिम उद्धृत मन्त्र के आधार पर ही बनी होगी ।

(3) ऋग्वेद में "आत्मा" :– ऋग्वेद में ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं, जो शरीर से भिन्न किसी तत्त्व का निर्देश करते हैं । उनमें से कुछ तो सीधे आत्मा को ही इङ्गित करते हैं तथा कुछ किसी न किसी रूप में आत्म–तत्त्व से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं । कुछ विद्वानों[3] ने असु, प्राण, मनस्, अजोभाग इत्यादि शब्दों द्वारा भी आत्मा का ही निर्देश स्वीकार किया है । यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो आत्मा के ही अर्थ में कुल नव शब्दों का प्रयोग किया गया है । वे इस प्रकार हैं – अजोभाग, असु, सत्य, प्राण, मनस्, सुपर्ण, जीव, त्मन् एवं आत्मन् । इन शब्दों द्वारा अभिप्रेत अर्थों को जानने के लिए प्रत्येक पर विचार करना आवश्यक है ।

(1) अजोभाग :– यह संयुक्त पद है तथा ऋग्वेद में मात्र एक बार[4] प्रयुक्त है ।

---

1. ऋग्वेद 10.177.1, सायण-भाष्य.
2. मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः । ऋग्वेद 10.54.2, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य.
3. (क) मैक्डानेल, ए.ए. – वैदिक माइथोलॉजी, पृष्ठ 166.
   (ख) मूर, जे. – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्टस, वाल्यूम 5, पृष्ठ 313.
   (ग) दासगुप्ता, एस.एन. – ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, वाल्यूम 1, पृष्ठ 26.
4. ऋग्वेद 10.16.4.

इसका पूर्वभाग "अज" आठ बार प्रयुक्त है और प्रायः इसका अर्थ "अनुत्पन्न" किया गया है । ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध "अस्यवामीय सूक्त" के भी एक मन्त्र[1] में यह आया है तथा वहाँ आचार्य सायण ने इसका अर्थ "जननादिरहित"[2] किया है । संयुक्त पद के रूप में आए हुए भी इसका[3] अर्थ सायण ने "जननरहित" किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने "भाग" का अर्थ – शरीर, इन्द्रिय इत्यादि भागों से पृथक् आन्तरिक पुरुष के लक्षण का भाग किया है ।[4] ग्रिफिथ ने प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – 'अज' (बकरा) किया है ।[5] यदि सायण के अर्थ पर विचार किया जाए, तो ज्ञात होता है कि 'अज' का एक भाग मृत्यु होने पर भी नष्ट नहीं होता । इससे यह भी ध्वनित होता है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है और यह प्राणी के शरीर मात्र को नष्ट करता है, अजोभाग (आत्मा) को नहीं, क्योंकि यह न तो जन्म लेता है और न नष्ट होता है । वैदिक ऋषियों की यही भावना आगे चलकर उपनिषत्काल में और प्रौढ़ हुई ।

(2) असु :– ऋग्वेद में "असु" शब्द दस बार स्वतन्त्र रूप से तथा आठ बार संयुक्त रूप से उपलब्ध होता है ।[6] इसका प्रयोग प्रायः "जीवन" या प्राण के अर्थ में किया गया है । पूरे ऋग्वेद में "असु" एवं "मनस्" का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनमें से पहला शारीरिक चेतना का द्योतक है, तो दूसरा विचारणा शक्ति का । ऋग्वेद के एक मन्त्र[7] में कहा गया है कि असुरहित

---

1. अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् । ऋग्वेद 1.164.6.
2. अजस्य जननादिरहितस्य । उपर्युक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य.
3. अजोभागस्तपसा तं तपस्व । ऋग्वेद 10.16.4.
4. अजः जननरहितः शरीरेन्द्रियादिभागव्यतिरिक्तोऽन्तरपुरुषलक्षणो यः भागः अस्ति.....।
   उपर्युक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य.
5. ग्रिफिथ, आर.टी.एच. – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 540.
6. ऋग्वेद 1.113.16, 140.8, 164.4, 182.3, 2.22.8, 10.12.1, 14.12, 15.1, 18.8 इत्यादि स्थलों पर स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त है.
   10.12.4, 15.14, 16.2, 59.5, 59.6, 82.7, 87.14 इत्यादि स्थलों पर संयुक्त रूप से प्रयुक्त है.
7. ऋग्वेद 10.18.8.

व्यक्ति मृत हो जाता है । इसी प्रकार एक अन्य स्थल[1] पर कहा गया है – "उठो हमारा "असु" आ गया है ।" इसका भाष्य करते हुए सायण ने "जीव" को विशेष्य और "असुः" को विशेषण माना है तथा "असुः" का अर्थ "शरीरस्य प्रेरयिता" और "जीवः" का अर्थ "जीवात्मा" किया है ।[2] इसके विपरीत स्कन्दस्वामी ने "जीवः" को विशेषण तथा "असुः" को विशेष्य मानते हुए इसका भाष्य "जीवितस्थानीया असुः" किया है ।[3] उन्होंने "असुः" को प्राण के अर्थ में लिया है । स्कन्दस्वामी के समान ही वेङ्कट माधव ने भी इसका भाष्य "जीवयिता प्राणः"[4] किया है । इन तीनों भारतीय आचार्यों के विपरीत मूर ने दोनों पदों को पृथक्–पृथक् मानते हुए "जीवः" का अर्थ जीवन तथा "असुः" का अर्थ श्वास किया है ।[5] ग्रिफिथ ने भी दोनों को अलग मानकर "असुः" का अर्थ "प्राण" और "जीव" का अर्थ "जीवन" किया है ।[6]

सायण ने एक स्थान पर संयुक्त रूप से आए हुए "असु" का अर्थ "प्रज्ञा" किया है ।[7] यास्क ने "असु" को "प्राण" एवं "प्रज्ञा" दोनों का वाचक माना है ।[8] पुनश्च सायण ने संयुक्त रूप से आए हुए "असुनीतिम्" पद का अर्थ "प्राणों को ले जाना" या "प्राणों को प्रेरित करना" किया है ।[9] इसके अतिरिक्त सम्बोधन के रूप में आए हुए "असुनीते" पद का अर्थ उन्होंने एक जगह "प्राणों को ले जाने वाली" (असूनां नेत्रि)[10] तथा दूसरी जगह प्राणदायिनी (असुनीते प्राणदायिनि)[11] किया है ।

---

1. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात् । ऋग्वेद 1.113.16.
2. ऊपर उद्धृत मन्त्र पर सायण-भाष्य.
3. उक्त मन्त्र पर स्कन्दस्वामी का भाष्य.
4. सन्दर्भित मन्त्र पर वेङ्कट माधव-भाष्य.
5. मूर, जे.– ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 190.
6. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 75.
7. "असुः प्रज्ञा । तया नीयत इत्यसुनीतिः स्तुतिः ।" ऋग्वेद 10.12.4 पर सायण-भाष्य.
8. "असुरिति प्राणनाम"। निरुक्त – 3.8, "असुरिति प्रज्ञानाम"। निरुक्त 10.34.
9. "असुनीतिं प्राणस्य नयनं प्राणप्रेरणम्"। ऋग्वेद 10.16.2 पर सायण-भाष्य.
10. ऋग्वेद 10.59.5 पर सायण भाष्य.
11. ऋग्वेद 10.59.6 पर सायण भाष्य.

ऋग्वेद में ही एक स्थल पर "असुः" और "आत्मा" दोनों पदों को साथ-साथ प्रयुक्त किया गया है ।[1] सायण ने "असुः" को प्राण से उपलक्षित "सूक्ष्म शरीर" तथा "आत्मा" को चेतन तत्त्व के रूप में माना है ।[2]

यद्यपि ऊपर किये गए विवेचन से "असु" तथा आत्मा दोनों पृथक् तत्त्वों के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं, तथापि "असु" "आत्मा" से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । यह जीवन का प्रमुख आधार है ।

(3) सत्य :- ऋग्वेद में "सत्य" शब्द कर्त्ताकारक के रूप में इक्यावन बार तथा करण कारक के रूप में पाँच बार आया है ।[3] इसके अतिरिक्त संयुक्त रूप में भी इसके प्रयोग उपलब्ध होते हैं । आचार्य सायण ने एक मन्त्र[4] में आए हुए "सत्येन" पद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि सत्य का तात्पर्य "ब्रह्मन्" से है । आगे उन्होंने उसे "अनन्तात्मा" का बोधक भी माना है ।[5] विल्सन ने भी सायण का अनुगमन करते हुए उसे ब्रह्मवाचक माना है ।[6] ग्रिफिथ ने इस स्थल पर "सत्य" को "ऋत" का पर्याय माना है, जो इस जगत् के विधान के रूप में है ।[7]

यद्यपि सायण की इस व्याख्या को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है, तथापि सत्य का ब्रह्मपरक अर्थ उपनिषत्काल में तो हमें दृष्टिगोचर होता ही है । अतः इसे असङ्गत नहीं कहा जा सकता । उक्त मन्त्र द्वारा वैदिक ऋषि की यह मनोभावना प्रतीत होती है कि इस जगत् का नियामक सत्य-स्वभाव वाला है । बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ब्रह्म को सत्स्वरूप माना गया है ।[8]

---

1. ऋग्वेद 1.164.4.
2. "असुः प्राणः तदुपलक्षितं सूक्ष्मशरीरम् ।..... आत्मा तैः सम्बद्धः चेतनः ।"
   उपर्युक्त मन्त्र पर सायण भाष्य.
3. ऋग्वेद-संहिता-पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 604-5.
4. "सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।" ऋग्वेद 10.85.1.
5. "सत्येन ब्रह्मणाऽनन्तात्मना । ब्रह्मा खलु देवानां मध्ये सत्यभूतः । ऋ. 10.85.1 सायणभाष्य.
6. विल्सन, एच.एच. - ऋग्वेद संहिता, भाग 6, पृष्ठ 276.
7. ग्रिफिथ - द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 593.
8. बृहदारण्यक उपनिषद् - 2.3.1.

(4) प्राण :- ऋग्वेद में "प्राण" शब्द विभिन्न रूपों में आठ बार प्रयुक्त हुआ है ।[1] एक स्थान पर "प्राणनम्"[2] तथा अन्यत्र "प्राणीत्"[3] प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं । प्रायः इसका अर्थ "प्राणवायु" किया गया है, जो अस्तित्व के लिए अनिवार्य है । यास्क ने भी इसका अर्थ प्राणवायु ही किया है ।[4] सायण ने मात्र दो स्थानों पर इसका अर्थ "चेष्टा" किया है ।[5] ऋग्वेद में ही एक स्थान पर अग्नि का वर्णन करते हुए उसे प्राण के समान साक्षात् आयु के रूप में बताया गया है ।[6] सायण ने अपनी व्याख्या में प्राण को जीवन का आधार माना है ।

इस प्रकार ऋग्वेद में प्राण को एक जीवनदायी तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है । आगे चलकर ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में यह विचारधारा और भी पल्लवित हुई है, यहाँ तक कि इसका सम्बन्ध आत्मा से भी स्थापित किया गया है ।[7]

(5) मनस् :- ऋग्वेद में "मनस्" शब्द दो सौ से भी अधिक बार प्रयुक्त हुआ है ।[8] सामान्यतः इसका प्रयोग "मन" के अर्थ में ही दिखाई देता है । इसके अतिरिक्त कम से कम पाँच बार यह "प्रज्ञा" या "बुद्धि" के अर्थ में प्रयुक्त है ।[9] कहीं-कहीं मन को चित्त[10] एवं हृदय[11] से भी

---

1. ऋग्वेद 1.66.1, 101.5, 3.53.21, 10.59.6, 90.13, 121.3, 125.4, 182.2.
2. ऋग्वेद 1.48.10.
3. ऋग्वेद 10.32.8.
4. निरुक्त 8.22 तथा 10.8.
5. ऋग्वेद 1.48.10 तथा 10.32.8.
6. आयुर्न प्राणः । ऋग्वेद 1.66.1, द्रष्टव्य, इस मन्त्र पर सायण-भाष्य.
7. द्रष्टव्य - बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.1.
8. ऋग्वेद-संहिता - पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 429-30.
9. ऋग्वेद 10.71.2, 121.6, 177.2, 181.3, 183.1.
10. ऋग्वेद 10.191.3.
11. ऋग्वेद 10.10.13.

जोड़ा गया है । आचार्य सायण ने एक मन्त्र[1] की व्याख्या करते हुए मन को शुभ सङ्कल्पों से जोड़ा है ।[2] एक मन्त्र में मन द्वारा दर्शन करने की बात की गई है ।[3]

एक सूक्त[4] में मृतक के विभिन्न स्थानों पर गए हुए मन को वापस लाने की प्रार्थना की गई है । वास्तविकता यह है कि मृत्यु होने पर आत्मा, शरीर छोड़कर चला जाता है । इसी कारण से ग्रिफिथ ने इस सूक्त में आत्मा को पुनः बुलाए जाने की बात कही है तथा "मनः" का अनुवाद स्पिरिट (Spirit) किया है ।[5] इस प्रकार "मनस्", "आत्मा" से भी सम्बद्ध हो जाता है । यह सम्भव है कि जब उपनिषत्कालीन ऋषियों ने आत्मा को "चित्" के रूप में अनुभव किया, तो उन्हें ऋग्वेद में आए हुए "मनस्" के प्रज्ञा या बुद्धि–रूप से प्रेरणा मिली हो, क्योंकि प्रज्ञा का सम्बन्ध चिन्तन से है और चिन्तन कोई चेतन तत्त्व ही कर सकता है । वैदिक ऋषियों का "मनस्" के रूप में स्थित यही चेतन तत्त्व उपनिषदों के युग में आते–आते शुद्ध आत्मतत्त्व बन गया ।

(6) सुपर्ण :– ऋग्वेद में "सुपर्ण" शब्द विभिन्न विभक्तियों में पैंतीस बार से भी अधिक आया है ।[6] प्रायः सायण ने सर्वत्र इसका अर्थ सूर्य की किरणों से लिया है ।[7] एक स्थान[8] पर

---

1. भद्रं नो अपि वातय मनः । ऋग्वेद 10.25.1.
2. भद्रं कल्याणं वातय गमय । अस्माकं मनः शुभसङ्कल्पं कुर्वित्यर्थः ।
   उक्त मन्त्र पर सायण-भाष्य.
3. अपश्यं त्वा मनसा चेकितानम् । ऋग्वेद 10.183.1.
4. ऋग्वेद 10.58.
5. "The hymn is addressed to recall the fleeting spirit of a man at the point of death."
   ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 572.
6. ऋग्वेद–संहिता – पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 644.
7. ऋग्वेद 1.35.7, 1.79.2, 10.73.11 इत्यादि पर सायण-भाष्य.
8. दिव आजाता दिव्या सुपर्णा । ऋग्वेद 4.32.3. 4.43.3
   द्रष्टव्य – सायण-भाष्य.

उन्होंने इसका अर्थ सुन्दर गमन वाला किया है । इसी प्रकार अन्यत्र[1] उन्होंने इसका अर्थ यजमान और उसकी पत्नी या यजमान और ब्रह्मा (पुरोहित) किया है । वहीं पर एक अन्य अर्थ – जीव और परमात्मा भी किया है । इसी प्रकार एक मन्त्र का भाष्य करते समय उन्होंने इसका अर्थ जीव या क्षेत्रज्ञ और परमात्मा किया है ।[2] इस मन्त्र से एक बात और स्पष्ट होती है कि ऋग्वेद के ऋषि यह पूर्णतः जानते थे कि जीवात्मा अपने कृत कर्मों का फल भोगता है, जबकि परमात्मा इस प्रकार के बन्धन से मुक्त है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में सुपर्ण "आत्मा" के लिए भी प्रयुक्त है, चाहे वह जीवात्मा हो या परमात्मा, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

(7) जीव :– ऋग्वेद में "जीव" शब्द विभिन्न विभक्तियों, क्रियापदों, समास इत्यादि में कुल मिलाकर लगभग 93 (तिरानवे) बार प्रयुक्त हुआ है ।[3] इसमें से 23 बार स्वतन्त्र रूप से तथा दस बार समस्त पद के रूप में आया है । आचार्य सायण के अनुसार यह तीन बार "जीवात्मा"[4] के अर्थ में, तेरह बार "जीवन" या "जीवयिता"[5] के अर्थ में, सोलह बार "प्राणिजात"[6] के अर्थ में और दो बार "पुत्र–पौत्रादि"[7] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ग्रिफिथ ने प्रायः सर्वत्र "जीव" का अर्थ "जीवन" या जीवित (लिविङ्ग) किया है ।[8] उक्त सभी सन्दर्भों में से प्रसङ्गानुसार तीन विवेच्य हैं ।

---

1. तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदुः । ऋग्वेद 10.114.3.
   सुपर्णा सुपर्णौ सुपतनौ जायापती यजमानब्रह्माणौ वा ।
   .....यद्वा सुपर्णा सुपर्णौ जीवपरमात्मानौ.....। सायण-भाष्य.
2. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
   ऋग्वेद 1.164.20, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य.
3. ऋग्वेद-संहिता, पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 233–34.
4. ऋग्वेद 1.113.8, 16 तथा 164.30 पर सायण-भाष्य.
5. ऋग्वेद 5.44.5, 78.9, 10.57.5 पर सायण-भाष्य.
6. ऋग्वेद 1.92.9, 4.51.5, 7.77.1, 8.8.23 इत्यादि पर सायण-भाष्य.
7. ऋग्वेद 10.18.4 तथा 8 पर सायण भाष्य.
8. उपरिलिखित सभी सन्दर्भों पर ग्रिफिथ का अनुवाद एवं टिप्पणी.

ऋग्वेद 1.113.8 में कहा गया है कि उषा "जीव" को अर्थात् "जीवात्मा" को जगाकर पुनः उसे चेतन बनाती है ।[1] इसी प्रकार इसी सूक्त के अन्य मन्त्र[2] में जीव को "जीवात्मा" तथा "असु" को शरीर का प्रेरयिता मानते हुए सायण ने यह अर्थ किया है – 'हे मनुष्यों । शयन का परित्याग करके उठ जाओ, हमारे शरीर को प्रेरित करने वाला जीवात्मा आ गया है, अन्धकार दूर चला गया है तथा ज्योति आ रही है ।' इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सारे प्राणी, जो रात में विश्राम कर रहे होते हैं, सूर्योदय होने पर सूर्य की किरणों से प्रेरित होकर जग जाते हैं तथा उनमें जीवन्तता आ जाती है । अतः "जीवो असुर्न आगात्" ऋषि के इस कथन का भाव यही है कि प्रातःकाल की मधुर वेला ने जीव को क्रियाशील बना दिया । यहाँ निश्चित रूप से "जीव" का तात्पर्य शरीर में रहने वाले जीवनदायी क्रियाशील तत्त्व से है । कठोपनिषद् में सम्भवतः इस प्रकार के मन्त्रों के प्रभाव से ही रूपकात्मक शैली में आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ कहा गया है ।[3]

ऋग्वेद में जीवात्मा को अविनाशी माना गया है । इसी आशय के एक मन्त्र[4] में कहा गया है – तीव्रगामी अविनाशी जीवात्मा, श्वास लेता हुआ गृहों के मध्य में निवास करता है । वह अमर्त्य (जीव) मर्त्य (शरीर) के साथ समान उत्पत्ति स्थान वाला होकर "स्वधा" के द्वारा स्वेच्छानुसार विचरण करता है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध में एक ऐसे अमर्त्य तत्त्व का निर्देश किया गया है, जो स्वधापूर्वक दिये गए अन्न से अपना निर्वाह करता है । यहाँ जीव को ही शरीर का जीवनदायी तत्त्व माना गया है । इस मन्त्र की टिप्पणी में ग्रिफिथ ने प्रथम भाग का विषय अग्नि को तथा द्वितीय भाग का विषय सोम को माना है, जो मृतक को दी गई यज्ञीय आहुतियों से प्रवृद्ध होता है ।[5] इसके

---

1. व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती । ऋग्वेद 1.113.8.
   जीवं प्राणिनां जीवात्मानम् उदीरयन्ती शयनादूर्ध्वं प्रेरयन्ती । सायण-भाष्य.
2. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति । ऋ.1.113.16, द्रष्टव्य सायणभाष्य.
3. "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" । कठोपनिषद् – 3.3.
4. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
   जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।। ऋग्वेद 1.164.30.
5. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, उपर्युक्त मन्त्र का अनुवाद एवं पाद टिप्पणी, पृष्ठ 112.

विपरीत सायण ने मन्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों स्थानों पर एक ही पूर्ण तथा परस्पर सम्बद्ध तत्त्व को प्रतिपादित माना है । उनके अनुसार इस मन्त्र में शरीर की असारता तथा उसमें रहने वाले जीव की नित्यता प्रतिपादित की गई है ।[1] इस दृष्टि से पूर्वार्द्ध का तात्पर्य होगा कि जब तक शरीर में जीव था, वह नाना प्रकार के कार्यों को करने में व्यापृत था, किन्तु जीव के चले जाने के बाद वह निष्क्रिय हो गया । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि शरीर का परित्याग करने के बाद जीव स्वधा के द्वारा विचरण करता रहता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने जीवात्मा को न केवल शरीर का नियामक या सारतत्त्व ही माना है, अपितु उन्होंने इसे एक शाश्वत–नित्य तत्त्व माना है, जो शरीर के नष्ट होने पर भी बना रहता है ।

(8) त्मन् :– वस्तुतः "त्मन्", "आत्मन्" शब्द का ही लघु रूप है । यह पूरे ऋग्वेद में विभिन्न विभक्तियों तथा रूपों में अठहत्तर बार प्रयुक्त है ।[2] इसका प्रयोग कहीं निजवाचक सर्वनाम[3] तथा कहीं क्रिया–विशेषण के रूप में किया गया है ।[4] एक स्थान पर सायण ने "त्मनम्" का अर्थ "जीवम्" किया है ।[5] इसके अतिरिक्त यह अन्य स्थलों पर प्रायः आत्मा, प्राण इत्यादि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[6]

(9) आत्मन् :– ऋग्वेद में "आत्मन्" शब्द विभिन्न विभक्तियों तथा रूपों में कुल मिलाकर छब्बीस बार आया है ।[7] इसकी निष्पत्ति "अत्" + मनिन् प्रत्यय के योग से होती है ।[8] निरुक्त में यह दस बार आया है तथा यास्क ने सर्वत्र इसका अर्थ "आत्मा" किया है ।[9] विन्टर नित्ज

---

1. अनेन देहस्य असारता जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते । ऋ. 1.164.30 पर सायण भाष्य.
2. ऋग्वेद–संहिता, पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 261.
3. ऋग्वेद 1.30.14, 41.6, 54.4, 79.6, 104.3 इत्यादि.
4. ऋग्वेद 4.4.9, 9.86.1, 103.7 इत्यादि.
5. त्मनूर्जं न विश्वध क्षरध्यै । ऋग्वेद 1.63.8.
   "त्मनम् आत्मानं जीवम्....." सायण–भाष्य.
6. उद्धृत सभी मन्त्र तथा उन पर सायण-भाष्य.
7. ऋग्वेद–संहिता, पञ्चम भाग, सूची-खण्ड, पृष्ठ 100.
8. आप्टे, वामन शिवराम – संस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 144.
9. यास्क – निरुक्त, 12.29, 30, 32.

ने इसे श्वास लेने के अर्थ वाली "अन्" धातु से निष्पन्न मानते हुए जर्मन शब्द "अथ्मेन" (Athmen) से सम्बद्ध माना है । उनके अनुसार ऋग्वेद में इसका प्रयोग निजवाचक सर्वनाम के रूप में भी हुआ है ।[1] सामान्यतः यह सारतत्त्व, आनन्ददायक, नियामक, प्राणवायु, देह, चेतन सत्ता तथा आत्मभूत या स्वरूपभूत के अर्थ में प्रयुक्त दिखाई देता है ।

ऋग्वेद (8.3.24) में "आत्मा" शब्द का प्रयोग निजवाचक सर्वनाम के रूप में किया गया है ।[2] एक अन्य स्थल पर भी सायण ने इसे इसी रूप में प्रयुक्त माना है ।[3]

सामान्यतः आत्मा किसी वस्तु, विशेष रूप से मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप (सारतत्त्व) को प्रकट करता है । अवान्तरकालीन भारतीय दर्शन–परम्परा के "इदन्ता" शब्द के साथ इसे सम्बद्ध किया जा सकता है । एक स्थल पर कहा गया है कि ओषधियों से यक्ष्म-रोग का आत्मा नष्ट होता है ।[4] यहाँ निश्चित रूप से "आत्मा" शब्द का प्रयोग रोग के सारतत्त्व के लिए किया गया है । सारतत्त्व का अभिप्राय आत्मभूत या स्वरूपभूत तत्त्व से भी लिया जा सकता है । सूर्य को सम्बोधित एक मन्त्र में उसे जङ्गम तथा स्थावर का आत्मा कहा गया है ।[5] यहाँ आचार्य सायण ने आत्मा का अर्थ "स्वरूपभूत" किया है । उसे सबका प्रेरक परमात्मा तथा प्राणिजात का जीवात्मा कहा है ।[6] वस्तुतः जङ्गम तथा स्थावर सबका प्रेरक होने से सूर्य सबका सारतत्त्व है । इसी प्रकार दो स्थलों[7]

---

1. विण्टरनित्ज – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ 249.
2. आत्मा पितुस्तनूः । ऋग्वेद 8.3.24.
3. आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः । ऋग्वेद 9.85.3.
   आत्मा स्वयमेव उत्तमः त्वम् इन्द्रस्य धासिः अन्नं भवसि । सायण-भाष्य.
4. आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा । ऋग्वेद 10.97.11.
5. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 1.115.1.
6. सूर्यः अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकः परमात्मा जगतः जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च आत्मा स्वरूपभूतः ।....... स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्यप्राणिजातस्य जीवात्मा । उदिते हि सूर्ये मृतप्रायं सर्वं जगत् पुनश्चेतनयुक्तं सदुपलभ्यते । सायण-भाष्य.
7. आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः । ऋग्वेद 9.2.10 तथा आत्मा यज्ञस्य । ऋग्वेद 9.6.8.

पर सोम को यज्ञ के आत्मा के रूप में माना गया है । उक्त दोनों स्थानों पर आत्मा का तात्पर्य आत्मभूत तत्त्व या सारतत्त्व ही है ।

ऋग्वेद में हमें "आत्मा" का आनन्ददायक स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है । अग्नि को समर्पित एक मन्त्र में उपमा के द्वारा उससे आत्मा के समान आनन्ददायक तथा सभी के द्वारा धारणीय होने की प्रार्थना की गई है ।[1] आचार्य सायण ने यहाँ परमप्रेमास्पद होने से आत्मा को निरतिशयानन्द स्वरूप मानते हुए उसे सबको सुख देने वाला बताया है ।[2] ग्रिफिथने इसका अनुवाद "श्वास के समान आनन्ददायक" किया है ।[3] सम्भवतः ग्रिफिथ के मत में श्वास को आनन्ददायक मानने का कारण यह है कि उसी से जीवन प्रवर्तित होता है । वस्तुतः यहाँ "आत्मा" का वास्तविक अर्थ ही ग्रहणीय है । विल्सन ने तो इस मन्त्र का अनुवाद करते समय आत्मा को आनन्द का स्रोत माना है ।[4] आगे चलकर उपनिषदों में "निरतिशयानन्दस्वरूपत्व" को आत्मा का स्वभाव माना गया है । इसका बीज हमें उक्त मन्त्र में दृष्टिगत होता है ।

सबके धारयिता के रूप में "आत्मा" ऋग्वेद में मात्र एक बार आया है ।[5] सायण ने उसकी व्याख्या करते हुए कहा है – हे वरुण । तुम्हारे द्वारा अन्तरिक्ष में प्रेरित किया जाता हुआ वायु सभी प्राणियों का आत्मा अर्थात् प्राण के रूप में धारयिता है ।[6] इस प्रकार ऋग्वेद में आत्मा को सबके आधार के रूप में माना जा सकता है ।

---

1. आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत् । ऋग्वेद 1.73.2.
2. परमप्रेमास्पदतया निरतिशयानन्दस्वरूपः आत्मा यथा सर्वान् सुखयति । सायण-भाष्य.
3. Like breath joy - giving. उक्त मन्त्रांश का ग्रिफिथ द्वारा अनुवाद.
4. Like soul, is the source of happiness.
   वही विल्सन का अनुवाद.
5. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् । ऋग्वेद 7.87.2.
6. ते त्वदीयस्त्वयान्तरिक्षे प्रेर्यमाणः वातः वायुः आत्मा सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणरूपेण धारयिता । सायण-भाष्य.

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर "आत्मा" शब्द का प्रयोग श्वास या प्राणवायु के लिए किया गया है । एक मन्त्र में अश्विनों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे रथ के स्वामी अश्विनों। तुम तीन प्रकार की वेदियों में उसी प्रकार जाओ, जिस प्रकार प्राणियों का आत्मभूत प्राणवायु उनके शरीरों में प्रवेश करता है ।[1] एक अन्य मन्त्र में "आत्मा" शब्द को वायु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है ।[2] इसी प्रकार एक स्थान पर वायु को देवताओं का आत्मा कहा गया है ।[3] इन उदाहरणों से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में "आत्मा" शब्द का प्रयोग श्वास या प्राणवायु के अर्थ में भी किया जाता रहा है ।

ऋग्वेद में शरीर के अर्थ में भी "आत्मा" शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है । एक मन्त्र में ऋषि अश्व देवता की स्तुति करते हुए कहता है – हे अश्व, देवताओं के प्रति जाते समय तुम्हें "आत्मा" सन्तप्त न करे ।[4] सायण ने यहाँ "आत्मा" शब्द का अर्थ "देह" किया है ।[5] अगले सूक्त (1.163) में पुनः अश्व को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे अश्व । मैं पृथ्वी से आदित्य की ओर जाते हुए तुम्हारे आत्मा को अपने मन द्वारा दूर से ही जानता हूँ ।[6] यहाँ भी "आत्मा" शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही किया गया है, क्योंकि ऋषि की दृष्टि का विषय अश्व का शरीर ही हो सकता है । पुनश्च एक मन्त्र में, पर्जन्य में जङ्गम और स्थावर सबके "आत्मा" को स्थित बताया गया है ।[7] सायण के अनुसार यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ देह है ।[8] विल्सन ने इसका अर्थ "जीवनशक्ति" (वाइटलिटी)[9], ग्रिफिथ ने जीवन (लाइफ)[10] तथा मूर ने आत्मा (सोल)[11] किया है।

---

1. तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् । ऋग्वेद 1.34.7.
2. आत्मानं वस्यो अभिवातमर्चत । ऋग्वेद 10.92.13.
3. आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः । ऋग्वेद 10.168.4.
4. मा त्वा तपत्प्रिय आत्मापियन्तम् । ऋग्वेद 1.162.20.
5. प्रियः आत्मा भोगायतनत्वात् तव प्रियतरो देहः । सायण-भाष्य.
6. आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् । ऋग्वेद 1.163.6.
7. तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 7.101.6.
8. आत्मा देहो वर्तते । वही, सायण-भाष्य.
9. वही, विल्सन का अनुवाद तथा टिप्पणी.
10. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
11. मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 142.

वस्तुतः पर्जन्य ही वृष्टि द्वारा सबको सिञ्चित करता है, अतः उसी पर सबका शरीर निर्भर है। शरीर भी बिना जीवन या चेतन तत्त्व के नहीं रह सकता, अतः प्रकृत स्थल पर "आत्मा" का अर्थ "शरीर" या जीवन दोनों किया जा सकता है। एक अन्य स्थल पर पुरुष की आत्मा को अपने सामर्थ्यरूपी धन देने की इच्छा वाली ओषधियों द्वारा बल प्रदान करने की बात कही गई है।[1] यह सर्वविदित है कि ओषधियों द्वारा शरीर स्वस्थ होता है। अतः यहाँ "आत्मा" का अर्थ "शरीर" ही है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के यक्ष्मरोगनाशक सूक्त (10.163) में ऋषि रोगी से कहता है – मैं तेरे सम्पूर्ण आत्मा से उस यक्ष्म रोग को पृथक् करता हूँ।[2] सायण ने यहाँ भी "आत्मा" का अर्थ "शरीर" ही किया है[3], जो नितान्त उचित है।

इस प्रकार ऋग्वेद में हमें "शरीर" के अर्थ में "आत्मा" शब्द का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध होता है।

वैदिक ऋषि आत्मा के "चैतन्य" (चिदात्मकता) से परिचित थे। ऋग्वेद के एक सुप्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है – सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले को किसने देखा ? जो अस्थिहीन अस्थिवान् को धारण किए हुए था। पार्थिव, प्राण, शोणित तथा आत्मा कहाँ थे ? इस तथ्य को पूछने के लिए विद्वान् के पास कौन गया ?[4] इस मन्त्र की व्याख्या करते समय आचार्य सायण ने "भूम्याः" का अर्थ पार्थिव स्थूल शरीर, "असुः" का अर्थ प्राण अर्थात् तदुपलक्षित सूक्ष्म शरीर, "असृक्" का अर्थ शोणित और आत्मा का अर्थ इनसे सम्बद्ध चेतन तत्त्व किया है।[5] यहाँ पर यह बात स्पष्टतः परिलक्षित होती है कि

---

1. धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष। ऋग्वेद 10.97.8.
2. यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते। ऋग्वेद10.163.5–6.
3. तं यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनः कृत्स्नादेव ते तव शरीरात् वि वृहामि। वही, सायण-भाष्य.
4. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
   भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्। ऋग्वेद 1.164.4.
5. भूम्याः सम्बन्धि पार्थिवं स्थूलशरीरं असुः प्राणः तदुपलक्षितं सूक्ष्मशरीरं असृक् शोणितम्।...
   आत्मा तैः सम्बद्धश्चेतनः। वही, सायण-भाष्य.

ऋषि स्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त एक सूक्ष्म चेतन तत्त्व से भी परिचित है और उसे "आत्मा" शब्द के द्वारा अभिहित किया है । इस प्रकार इस मन्त्र के आधार पर "आत्मा" को वैदिक ऋषि की दृष्टि में पञ्चभूतात्मक शरीर से सम्बद्ध चेतन तत्त्व के रूप में जाना जा सकता है, जो स्थूल तत्त्वों से सम्बद्ध होते हुए भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ।

ऋग्वेद में कम से एक स्थान पर "आत्मा" को ज्ञाता के रूप में बताया गया है । मन्त्र में कहा गया है – दक्षिणा अन्न प्रदान करती है, जिसके कारण हमारा जो आत्मा है,वह सब कुछ जानते हुए दक्षिणा को कवचयुक्त बनाता है ।[1] इस मन्त्र में आया हुआ "विजानन्" पद महत्त्वपूर्ण है तथा "आत्मा" का विशेषण है । सायण ने भी ऐसा ही माना है ।[2] ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद करते हुए लिखा है – दक्षिणा अन्न प्रदान करती है, जो हमारा जीवन और आत्मा है ।[3] इस प्रकार उन्होंने अन्न को ही "जीवन" या "आत्मा" माना है । डॉ. गणेशदत्त शर्मा ने भी ग्रिफिथ का ही अनुगमन करते हुए अन्न को आत्मा माना है ।[4] विल्सन ने सायण का अनुगमन किया है और "विजानन्" को आत्मा का विशेषण माना है ।[5]

वस्तुतः उक्त मन्त्र में "अन्नम्" को "यः" के साथ जोड़ना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि "अन्नम्" नपुंसक लिङ्ग में है, जबकि "यः" पुंलिङ्ग में होते हुए आत्मा का विशेषण है । मन्त्र के अन्तिम पाद का "कर्त्ता" भी आत्मा ही है, अतः उसका विशेषण "विजानन्" (पुंलिङ्ग) को मानना

---

1. दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् । ऋग्वेद 10.107.7.
2. नः अस्मदीयः यः आत्मा अस्ति सः वर्म विजानन् कवचं यथायुधानां निवारकं तद्वद्दुरितानि वारयतीति कवचमिति विजानन् दक्षिणाम् अश्वादिदानशीलां कृणुते । सायण-भाष्य.
3. Guerdon gives food which is our life and spirit.
   वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
4. शर्मा, गणेशदत्त – ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 96.
5. Our spirit discriminating (all things) puts on Dakshina for armour.
   ऋग्वेद 10.107.7 का अनुवाद.

उचित है । इस प्रकार इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का ऋषि "आत्मा" के "ज्ञातृत्व" से परिचित है, जैसा कि उपनिषत्काल तथा और आगे के दार्शनिक प्रस्थानों में भी आत्मा को "ज्ञाता" के रूप में माना गया है ।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि आत्मा का परिमाण क्या है ? परवर्ती दार्शनिक विचारधारा में आत्मा के दो परिमाण माने गए हैं – अणु और परम महत् । अणु परिमाणात्मक आत्मा सर्वत्र विचरण कर सकता है, किन्तु परममहत्परिमाणात्मक नहीं कर सकता । यद्यपि ऋग्वेद में आत्मा के परिमाण को लेकर कोई चर्चा नहीं दृष्टिगत होती है, तथापि यथाकथञ्चित् कुछ सूत्र उपलब्ध हो सकते हैं । एक मन्त्र में कहा गया है – वह अमर्त्य (जीवात्मा) मरणधर्मा (शरीर) के साथ समान स्थान वाला होकर स्वधा के द्वारा विचरण करता है ।[1] इस मन्त्र में आत्मा को विचरणशील बताया गया है । अतः यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि आत्मा को अणुपरिमाणात्मक मानने के पक्ष में थे ।

आत्मा के स्वरूप पर विचार करने के अनन्तर यह भी जानना प्रसङ्गप्राप्त है कि क्या वैदिक ऋषि आत्मा के पुनर्जन्म को मानते थे ? कुछ पाश्चात्त्य विचारकों का यह मानना है कि "ऋग्वेद" में "पुनर्जन्म" जैसा कोई "प्रत्यय" नहीं है । वस्तुतः आशावादी विचारधारा को मानने वाले ऋषि पुनर्जन्म को नहीं मान सकते । वे अपने वर्तमान जीवन से पूर्णतः सन्तुष्ट थे । उनकी स्तुतियों का प्रयोजन केवल अमरता अथवा स्वर्गप्राप्ति ही नहीं था, अपितु उन्होंने देवताओं से अच्छी प्रजाएँ, वीर पुत्र, धन का स्वामित्व तथा सौ से भी अधिक वर्षों तक अच्छे जीवन की कामना की थी ।[2]

ब्लूमफील्ड ने पुनर्जन्म के बीज को ब्राह्मणकालीन विचारधारा में भारत के आदिवासी तथा

---

1. जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ऋग्वेद 1.164.30.
2. (क) वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम । ऋग्वेद 2.12.15.
   (ख) बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् । ऋग्वेद 4.50.6.
   (ग) पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् । ऋग्वेद 7.66.16.

अनार्य जातियों से आया हुआ माना है ।[1] इस प्रकार वे ऋग्वेद में पुनर्जन्म-सम्बन्धी किसी निर्देश को नहीं मानते । यदि सूक्ष्मता पूर्वक विचार किया जाए, तो निश्चित रूप से हमें ऋग्वेद में भी कुछ ऐसे तत्त्व मिल सकते हैं, जिनके आधार पर आगे चलकर पुनर्जन्म–सम्बन्धी धारणा का पल्लवन हुआ ।

हमें ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मृतक के आत्मा किसी दूसरे लोक में विद्यमान रहते हैं । एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह अपने साथ रहने वाले तुर्वश, यदु, नववास्तु, बृहद्रथ तथा तुर्वीति नामक राजर्षियों को लेकर यहाँ आए ।[2] उन पितरों की तीन श्रेणियाँ भी बताई गई हैं – उत्तम, मध्यम और अधम ।[3] एक मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे अग्नि । इस प्रेत को मत जलाओ । इसे शोकयुक्त मत करो। इसकी त्वचा को इधर–उधर मत फेंको । इसके शरीर को भी इतस्ततः निक्षिप्त मत करो । हे अग्नि। जब तुम इसे भलीभाँति दग्ध कर दोगे, तब पितरों के समीप भेज देना ।[4] ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (10.58) में विभिन्न स्थानों पर गए हुए मन को पुनः जीवन धारण करने के लिए वापस आने को कहा गया है । सायण का कहना है कि इस सूक्त में सुबन्धु के देह से इन्द्रियों के साथ निकले हुए मन को वापस लाने के लिए बन्धु आदि ऋषियों ने प्रार्थना की है ।[5]

---

1. "The germs of the belief in transmigration are very likely to have filtered into the Brahmanical consciousness from below, from popular sources, possibly from some of the aboriginal, non-Aryan tribes of India." ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 254.
2. अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे ।
   अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः ।। ऋग्वेद 1.36.18.
3. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः । ऋग्वेद 10.15.1.
4. मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
   यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितृभ्यः ।। ऋग्वेद 10.16.1.
5. उक्त सूक्त पर सायण-भाष्य की भूमिका तथा पूरा सूक्त.

प्रो. मूर ने यहाँ "मनस्" शब्द को आत्मा के लिएप्रयुक्त माना है ।[1] इनके अतिरिक्त ग्रिफिथ की मान्यता है कि यह सूक्त मृत्यु के समय दूर गए हुए मानव–आत्मा को पुनः बुलाने के लिए सम्बोधित है ।[2] पुनश्च असुनीति को सम्बोधित एक मन्त्र में उन्हीं बन्धु इत्यादि ऋषियों ने मन को पुनः स्थापित करने की प्रार्थना की है ।[3] यहाँ भी ग्रिफिथ ने "मन" का अनुवाद "आत्मा" (Spirit) किया है ।[4] इसी सूक्त के अगले मन्त्र में ऋषियों ने पुनः चक्षु, प्राप एवं भोगों का आधान करने की प्रार्थना की है ।[5]

ऋग्वेद में ही हमें कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि मरने के अनन्तर आत्मा प्राकृतिक तत्त्वों तथा ओषधियों में भी चला जाता है । एक स्थल पर प्रेतात्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – तुम्हारी चक्षु सूर्य में चली जाए तथा आत्मा वायु में चला जाए । तुम अपने सुकृत के द्वारा द्युलोक, पृथिवी अथवा जल में चले जाओ । यदि वहाँ तुम्हारा हित हो, तो अपने शरीर के अङ्‌गों द्वारा ओषधियों में प्रतिष्ठित हो जाओ ।[6] मैकडॉनेल ने इस प्रकार की धारणाओं में पुनर्जन्म का बीज निहित माना है ।[7] इस मन्त्र द्वारा यह भी प्रतिपादित होता है कि वैदिक ऋषि पेड़–पौधों में जीव की स्थिति मानने के पक्ष में थे । इसके अतिरिक्त इस मन्त्र द्वारा कर्म के अनुसार फल भोगने का भी सङ्‌केत प्राप्त होता है ।

---

1. मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 313.
2. "The hymn is an address to recall the fleeting spirit of a man at the point of death."
   उद्धृत सूक्त पर ग्रिफिथ की टिप्पणी.
3. असुनीते मनो अस्मासु धारय । ऋग्वेद 10.59.5.
4. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
5. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् । ऋग्वेद 10.59.6.
6. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
   अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः । ऋग्वेद 10.16.3.
7. मैकडॉनेल – वैदिक माइथॉलोजी, पृष्ठ 166.

एक मन्त्र में गर्भस्थ ऋषि वामदेव ने अपने पूर्वजन्मों का वर्णन किया है – मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ । मैं कक्षीवान् ऋषि हूँ । मैं कुत्स हूँ तथा उशना नामक ऋषि भी मैं ही हूँ ।[1]

ऊपर विवेचित सभी प्रसङ्गों से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि ऋग्वेद के ऋषि पुनर्जन्म के वास्तविक स्वरूप से तो परिचित नहीं थे, किन्तु उनके मन में कहीं न कहीं इस प्रकार के विचार सूक्ष्म रूप में अवश्य विद्यमान थे, जो अवसर प्राप्त करके बाद की दार्शनिक विचारधारा में पल्लवित हुए ।

यहाँ आत्मा की अमरता पर भी विचार करना अपेक्षित है । एक मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे अग्नि ! तुम अपने सेवक मर्त्य को अमर्त्य बनाते हो ।[2] इसी प्रकार मरुतों से अमर बनाने की प्रार्थना की गई है ।[3] मित्र और वरुण से भी अमर बनाने की याचना की गई है ।[4] एक अन्य स्थल पर ऐसा सङ्केत प्राप्त होता है कि मूलतः देवता भी अमर नहीं थे, उन्हें सवितृ ने अमर बनाया ।[5] इसी प्रकार एक दूसरे मन्त्र से यह भाव प्रकट होता है कि देवताओं ने अमरत्व प्राप्त किया, किन्तु कहाँ से पाया ? यह ज्ञात नहीं है ।[6]

ऋग्वेद में "सोम" अमृत पेय के रूप में माना जाता था । एक मन्त्र में कहा गया है – हमने सोम का पान कर लिया है । अब हम अमर हो गए हैं, प्रकाश तक पहुँच चुके हैं । हमने देवताओं को प्राप्त कर लिया है । अब शत्रु हमारा क्या करेंगे ? हे अमर सोम ! मनुष्य का हिंसक भी हमारा क्या करेगा ?[7]

---

1. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
   अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेहं कविरुशना पश्यता मा ।। ऋग्वेद 4.26.1.
2. त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे । ऋग्वेद 1.31.7.
3. उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन । ऋग्वेद 5.55.4.
4. वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे । ऋग्वेद 5.63.2.
5. देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् । ऋग्वेद 4.54.2.
6. सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
   विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ।। ऋग्वेद 10.53.10.
7. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
   किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।। ऋग्वेद 8.48.3.

उक्त सभी सन्दर्भों में या तो अमर होने की प्रार्थना की गई है या अमरता प्राप्त कर लेने का उद्घोष किया गया है । अब प्रश्न यह है कि क्या कुछ लोगों द्वारा अमृततत्त्व प्राप्त कर लेने से सारे आत्मा अमर माने जा सकते हैं ? इसका उत्तर निश्चित रूप से नहीं होगा, किन्तु उन अंशों के आधार पर, जिनमें मृतक के आत्मा को यमलोकादि में निवास करने वाला बताया गया है[1], निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि यह जानते थे कि आत्मा अमर है ।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मृत्यु मानव का अन्त नहीं है, वह केवल भौतिक शरीर को नष्ट करता है तथा आत्मा शरीर के नष्ट होने पर भी बना रहता है और उस शरीरधारी द्वारा कृत कर्मों का फल भोगता है । धर्मात्मा लोगों का आत्मा स्वर्ग में सुख प्राप्त करता है ।[2] वस्तुतः शरीर छोड़ने के बाद आत्मा दूसरे लोक में चला जाता है तथा वहाँ अपने कर्मों का फल भोगने के उपरान्त वह पुनः इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करता है । इस सारी प्रक्रिया के मूल में उसके द्वारा कृत कर्म ही हैं । अन्ततः यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि "आत्मा" के सम्बन्ध में निम्नलिखित धारणाओं एवं विचारों से परिचित थे :-

1. आत्मा शरीर से भिन्न है, तथा इसके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता ।
2. यह अविनाशी है । न तो इसका जन्म होता है और न मृत्यु ।
3. यह शरीर का सारतत्त्व है और इसका नियामक भी है ।
4. यह शरीर द्वारा किये गए कर्म का फल भोगता है ।
5. यह "सत्", "चित्" और "आनन्द" तीनों से युक्त है ।

---

1. इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
   ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ।। ऋग्वेद 10.15.2.
   द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.15.1, 13, 1.36.18, 10.16.1, 59.6, 16.3, 4.26.1 इत्यादि.
2. ऋग्वेद 1.115.2 तथा 154.5.

(4) **ऋग्वेद में "ब्रह्म"** :– आत्मा पर विचार करने के उपरान्त अब "ब्रह्म" पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है । ऋग्वेद में "ब्रह्म" शब्द विभिन्न विभक्तियों तथा रूपों में कुल मिलाकर 354 बार प्रयुक्त है ।[1] इसका प्रयोग पुल्लिँड्.ग तथा नपुंसकलिड्.ग दोनों रूपों में किया गया है । मूर ने नपुंसकलिड्.ग में प्रयुक्त "ब्रह्म" को सूक्त या आत्मा के अर्थ में तथा पुल्लिँड्.ग में प्रयुक्त को उस सूक्त अथवा प्रार्थना के प्रणेता या उसका पाठ करने वाले के अर्थ में माना है ।[2] ड्यूसन ने ऋग्वेद में प्रयुक्त "ब्रह्म" शब्द को ऊपर उठाने वाली तथा आध्यात्मिकता का सञ्चार करने वाली प्रार्थना की शक्ति के अतिरिक्त और किसी अर्थ में नहीं स्वीकार किया है ।[3] भारतीय भाष्यकार आचार्य सायण ने नपुंसकलिड्.ग के रूप में प्रयुक्त "ब्रह्म" शब्द को प्रायः सूक्त अथवा स्तोत्र[4] और पुल्लिँड्.ग के रूप में प्रयुक्त को स्तुतिगायक ब्राह्मण[5] तथा ब्रह्मा नामक पुरोहित[6] का अभिधायक माना है ।

इन अर्थों के अतिरिक्त इस शब्द को कई बार नपुंसकलिड्.ग में अन्न या हविष्[7] तथा महान् या शक्तिशाली[8] और पुल्लिँड्.ग में स्रष्टा या प्रजापति के लिए प्रयुक्त किया गया है ।[9] विल्सन ने भी सायण का अनुगमन करते हुए "ब्रह्म" शब्द को उक्त अर्थों में ही लिया है ।[10] ग्रिफिथ ने

---

1. ऋग्वेद–संहिता–पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 407–408.
2. मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ 241.
3. ड्यूसन – सिस्टम ऑफ वेदान्त, पृष्ठ 49.
4. "नव्यं नूतनं ब्रह्म एतत्सूक्तरूपं स्तोत्रम् अतक्षत्" । ऋग्वेद 1.62.13, सायण-भाष्य. इसके अतिरिक्त ऋग्वेद – 1.75.2, 2.20.5, 34.7, 3.41.3, 4.6.11, 5.29.15, 6.17.3 तथा 10.61.1 इत्यादि मन्त्रों पर सायण-भाष्य. द्रष्टव्य.
5. ऋग्वेद 1.80.1, 4.50.8, 5.40.8, 8.7.20, 9.112.1, 10.85.34 इत्यादि मन्त्रों पर सायण-भाष्य. द्रष्टव्य.
6. ऋग्वेद 2.1.2, 4.9.4, 9.96.6, 10.52.2 तथा 71.11 पर सायण-भाष्य.द्रष्टव्य.
7. ऋग्वेद 1.10.4, 2.41.18, 3.8.2, 4.22.1, 6.16.36, 7.31.11, 8.3.9, 10.4.7 इत्यादि पर सायण-भाष्य. द्रष्टव्य.
8. "मरुतां ब्रह्माणं महान्तम्" । ऋग्वेद 10.77.1 पर सायण-भाष्य.
9. ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि । ऋग्वेद 10.125.5 पर सायण-भाष्य.
   ब्रह्माणं प्रजापतिम् । ऋग्वेद 10.141.3 पर सायण भाष्य.
10. उक्त सभी सन्दर्भों पर विल्सन का अनुवाद.

प्रायः सर्वत्र नपुंसकलिङ्ग में आए "ब्रह्म" शब्द को प्रार्थना तथा पुल्लिंङ्ग में आए हुए को ब्राह्मण या पुरोहित के अर्थ में ही लिया है ।[1]

जहाँ तक दार्शनिक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, उसके अनुसार नपुंसकलिङ्ग में आए "ब्रह्म" शब्द का ही ग्रहण करना उचित है, क्योंकि परमतत्त्व को निर्दिष्ट करने का सबसे अच्छा ढंग उसे लिङ्गातीत रखना ही है । वह पुरुष है या स्त्री इस विवाद में न पड़कर उसे "तत्" पद द्वारा ही गृहीत करना चाहिए । ऋग्वेद में भी परमतत्त्व को "तदेकम्" कहा गया है ।[2]

कुछ स्थलों पर "ब्रह्म" शब्द महत्ता के आधायक के रूप में भी प्रयुक्त है । एक मन्त्र में इन्द्र के लिए कहा गया है – ब्रह्म अथवा स्तोत्र जिस इन्द्र की वृद्धि करता है ।[3] इस मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि इन्द्र की महत्ता "ब्रह्म" या स्तोत्र के कारण ही है । अन्य मन्त्रों में भी इन्द्र के अतिरिक्त अग्नि, सोम, अश्विन् तथा ब्रह्मणस्पति को स्तोत्र द्वारा वृद्धिङ्गत बताया गया है ।[4]

ऋग्वेद में देवताओं को विश्व की महान् शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है । उनसे भी बढ़कर उनकी महत्ता या महिमा है, क्योंकि उसी के प्रभाव से वे सब कुछ करते हैं ।[5] उनकी महिमा भी स्तोत्र के ही अधीन है, क्योंकि यदि उसका ख्यापन न किया जाए तो उस देव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकेगा । एक पूरे सूक्त में इन्द्र की महिमा बताते हुए लोगों को उसकी शक्ति एवं स्वरूप से परिचित कराया गया है ।[6] इस प्रकार देवों की महत्ता के आधायक "ब्रह्म" या "स्तोत्र" को "परमतत्त्व" के अभिधायक बीज के रूप में माना जा सकता है ।

---

1. उद्धृत सभी सन्दर्भों पर ग्रिफिथ का अनुवाद.
2. आनीदवातं स्वधया तदेकम् । ऋग्वेद 10.129.2.
3. यस्य ब्रह्म वर्धनम् । ऋग्वेद 2.12.14.
4. ऋग्वेद 3.34.1, 1.93.5, 6, 5.73.10, 2.24.3, 10.50.4 इत्यादि.
5. यश्चिदापो महिना पर्यपश्यत् । ऋग्वेद 10.121.8.
6. ऋग्वेद 2.12. सम्पूर्ण सूक्त.

ऋग्वेद के एक महत्त्वपूर्ण सूक्त में परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई वाणी ने स्वयं अपनी महत्ता प्रकट की है ।[1] आचार्य सायण ने वाक् को ब्रह्मविदुषी तथा सबका अधिष्ठान माना है ।[2] ग्रिफिथ ने इसे "आत्मा" के प्रतीक "परमात्मा", सर्वोच्च या विश्वात्मा के रूप में भी स्वीकार किया है ।[3] "शतपथ ब्राह्मण" ने तो वाणी को साक्षात् "ब्रह्म" के रूप में ही माना है ।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में यद्यपि "ब्रह्म" शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के लिए तो नहीं किया गया है, तथापि इससे निर्दिष्ट देव स्तोत्र या शक्ति हमें उपनिषत्कालीन "ब्रह्म" की ओर जाने में निश्चित रूप से सहायक प्रतीत होते हैं ।

(5) . ऋग्वेद में "मोक्ष" और "अमृतत्व" :– भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्यभूत चार पुरुषार्थों – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में मोक्ष को चरम लक्ष्य के रूप में निरूपित किया गया है । भारतीय दर्शन में भी मोक्ष उसी प्रकार प्रतिष्ठित है । ऋग्वेद में हमें "मोक्ष" दार्शनिक रूप से विकसित नहीं दृष्टिगत होता, तथापि ऋषियों द्वारा देवताओं से की गई दुःख एवं बन्धनों से मुक्ति की प्रार्थनाओं में इसके बीज देखे जा सकते हैं । पूरे ऋग्वेद में मात्र एक स्थान पर "मुमुक्षु" शब्द का प्रयोग किया गया है ।[5] सायण ने इसका अर्थ "मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा वाली" से ही लिया है ।[6]

ऋग्वेद में भूरिशः आया हुआ "अमृतत्व" शब्द मोक्ष का ही द्योतक प्रतीत होता है । एक मन्त्र में मरुतों से अमर बनाने की प्रार्थना की गई है ।[7] वस्तुतः अमर बनने से जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्ति मिलती है । एक मन्त्र में कहा गया है – हे परमेश्वर । हम आपकी कृपा से मृत्यु के बन्धन से उसी प्रकार मुक्त हो जाएँ, जिस प्रकार खरबूजा पकने पर लता के बन्धन से मुक्त

---

1. ऋग्वेद 10.125.
2. द्रष्टव्य उक्त सूक्त पर सायण-भाष्य.
3. ग्रिफिथ का सन्दर्भित सूक्त पर अनुवाद एवं टिप्पणी.
4. "वाग्वै ब्रह्म" । शतपथ ब्राह्मण – 2.1.4.10.
5. मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते । ऋग्वेद 1.140.4.
6. "मुमुक्ष्वः मुमुक्षवः आहुतिद्वारा यजमानं मोक्तुमिच्छन्त्यः ब्रह्मलोकं प्रापयन्त्यः ।"
   वही, सायण-भाष्य.
7. स्तोता वो अमृतः स्यात् । ऋग्वेद 1.38.4.

हो जाता है, किन्तु हमें अमृत से दूर मत करें ।[1] सायण ने "मामृतात्" की व्याख्या "मा" और "आमृतात्" इस रूप में विच्छेद करते हुए "सायुज्यतामोक्षपर्यन्त" किया है ।[2] उनका भाव यह है कि मोक्ष प्राप्त होने तक हमें मृत्यु या संसार से मुक्त रखें । इसी पद का दूसरा अर्थ उन्होंने "चिरकालीन जीवन या स्वर्ग से दूर मत करें", यह भी किया है ।[3] एक मन्त्र में सोम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है – हे सोम । मुझे उस अमृतलोक में अमर बना दो, जहाँ अविनश्वर प्रकाश है तथा आदित्य नामक ज्योति निहित है ।[4] ऋग्वेद में ही विष्णु के आनन्दमय परमधाम का उल्लेख करते हुए उसे प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की गई है ।[5] विष्णु का परमपद या परमधाम मोक्ष ही हो सकता है । एक अन्य मन्त्र में कहा गया है – मैं विष्णु के उस प्रिय स्थान को प्राप्त करूँ, जहाँ देवकामी जन प्रसन्न होते हैं । विशाल गतिशील विष्णु के परमपद में मधु का निष्यन्द है, इस प्रकार वह सबका बन्धु है ।[6] सायण ने यहाँ "पाथः" का अर्थ "अविनश्वर ब्रह्मलोक" किया है । उन्होंने "परमपद" का वर्णन करते हुए उसे केवल सुखात्मक, भूख–प्यास, जरा–मरण तथा पुनरागमन इत्यादि के भय से रहित और सङ्कल्पमात्र से ही अमृतकुल्यादिभोगों के प्राप्ति–स्थान के रूप में बताया है।[7] विष्णु का प्रिय स्थान विष्णुलोक है, जिसे सायण ने ब्रह्मलोक कहा है । वस्तुतः उन्होंने उस स्थान की जो विशेषताएँ बताई हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त होने के बाद आत्मा वहीं निवास करता है । विष्णु का वह परमपद सबका काम्य है, अतः ऋग्वेदीय युग में उसे प्राप्त करना सबका चरम लक्ष्य रहा होगा । वही चरम लक्ष्य अवान्तरकालीन दर्शन में "मोक्ष" के नाम से अभिहित किया गया प्रतीत होता है ।

---

1. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् । ऋग्वेद 7.59.12.
2. किं मर्यादीकृत्य । आमृतात् । सायुज्यतामोक्षपर्यन्तमित्यर्थः । वही, सायण-भाष्य.
3. अमृताच्चिरजीवितात् स्वर्गादेर्वा मा मुक्षीय । वही, सायण-भाष्य.
4. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
   तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ।। ऋग्वेद 9.113.7.
5. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । ऋग्वेद 1.22.20.
6. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
   उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः । ऋग्वेद 1.154.5.
7. वही, सायण-भाष्य.

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में यद्यपि मोक्ष–सम्बन्धी धारणा उस रूप में उपलब्ध नहीं होती, जैसी परवर्ती दर्शनों में है, तथापि उसके बीज उपर्युक्त मन्त्रों में देखे जा सकते हैं।

(6) **ऋग्वेद में "ऋत"** :– "ऋत" वैदिक ऋषियों की अत्यन्त मौलिक धारणा है । इसके ऊपर सारी सृष्टि–व्यवस्था आधारित है । ऋग्वेद में विभिन्न रूपों तथा विभक्तियों में इसका प्रयोग लगभग छः सौ छियालीस बार किया गया है ।[1] वैदिक ऋषि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि ऋत ही सम्पूर्ण जगत् का आदिकारण है । यह धरती, आकाश, सूर्य, अग्नि इत्यादि सबका उत्पादक एवं नियन्ता है । ऋत अपने इस रूप में परमतत्त्व के समकक्ष या परमतत्त्व ही प्रतीत होता है । इसीलिए इसे "तत्त्वमीमांसा" के अन्तर्गत निविष्ट करके इस पर विचार किया जा रहा है ।

"ऋत" शब्द गत्यर्थक "ऋ" धातु से निष्पन्न है । इसका अर्थ क्रियाशीलता से भी लिया जा सकता है । यास्क ने इसका अर्थ "उदक", "सत्य", "यज्ञ" एवं "रेतस्" किया है ।[2] सायण ने भी प्रायः यास्क का ही अनुगमन किया है ।[3] उन्होंने इसे "कर्मफल", "स्तोत्र" एवं "गति" के अर्थ में भी माना है ।[4] कभी–कभी तो एक ही मन्त्र में दो बार आए हुए "ऋत" का अर्थ उन्होंने भिन्न–भिन्न किया है । एक मन्त्र में "ऋतस्य" का अर्थ "गतस्य"–"पलायितस्य" किया है, उसी मन्त्र के साथ पठित दूसरे मन्त्र में "ऋतस्य यज्ञस्य अन्नस्य वा" ऐसा अर्थ करते हुए उन्होंने भिन्न अर्थ प्रकट किया है।[5] एक अन्य मन्त्र में "ऋत" शब्द चार बार आया है । सायण ने प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ का अर्थ "स्तोत्र" एवं तृतीय बार आए "ऋत" का अर्थ "उदक" किया है ।[6] अगले मन्त्र में भी यह शब्द दो

---

1. ऋग्वेद–संहिता – पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृष्ठ 156 से 158 तक.
2. ऋतमित्युदकनाम । निरुक्त – 2.25.
   सत्यं वा यज्ञं वा । वही, 4.19.
   ऋतशब्देन रेत उच्यते । वही, 4.20.
3. ऋग्वेद 1.2.8, 10.5.2, 5.3, 67.2, 85.1, 92.4 इत्यादि पर सायण-भाष्य.द्रष्टव्य.
4. ऋग्वेद 1.1.8, 68.5, 185.10, 10.5.7 इत्यादि पर सायण भाष्य.द्रष्टव्य.
5. ऋग्वेद 1.65.3–4 पर सायण-भाष्य.
6. ऋग्वेद 5.12.2 पर सायण भाष्य. द्रष्टव्य.

बार आया है, जिनमें प्रथम का अर्थ "उदक" एवं द्वितीय का "सत्य" किया है ।[1] इसी प्रकार एक साथ ही दो बार आए "ऋत" में प्रथम का अर्थ "सत्यरूप अग्नि" तथा द्वितीय का "स्तोत्र" किया है ।[2] एक अन्य मन्त्र में भी युगपत् आए इस शब्द का अर्थ सायण ने क्रमशः "सत्यभूतमण्डल" और "उदक" किया है । "सत्यभूतमण्डल" का तात्पर्य भी "सूर्यमण्डल" से लिया है ।[3] इनके अतिरिक्त मित्रावरुण को सम्बोधित एक सूक्त में उनके विशेषण के रूप में आए हुए "ऋतावृध" और "ऋतावाना" पदों का अर्थ क्रमशः "यज्ञस्योदकस्य वा वर्धयितारौ" और "गमनवन्तौ" किया है ।[4] यहाँ भी प्रथम बार उन्हें "यज्ञ" और "उदक" दो अर्थ तथा द्वितीय बार "गति" अर्थ इष्ट हैं ।

ग्रिफिथ ने ऋग्वेद में आए "ऋत" शब्द को विश्व की व्यवस्था तथा उसके विधान का अभिधायक माना है । उन्होंने सर्वत्र इसका अनुवाद "शाश्वत नियम" (इटर्नल लॉ) अथवा पवित्र नियम (होली आर्डर) किया है ।[5]

मोनियर विलियम्स ने "ऋत" को यज्ञ सम्बन्धी नियम, दैवी नियम तथा दैवी सत्य माना है।[6] रॉथ ने "ऋत" को प्रकृति का एक नियम माना है । उन्होंने यज्ञ–सम्बन्धी नियम तथा मानव–जीवन के व्रत आदि को भी "ऋत" का अभिधायक कहा है ।[7]

डॉ.मङ्गलदेव शास्त्री "ऋत" तथा "सत्य", इन दोनों को एक साथ जोड़ते हुए इन्हें "सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त नैतिक आधार" के रूप में स्वीकार करते हैं ।[8]

---

1. ऋतयन् सर्वप्रापिनां जीवन–हेतुकमुदकं कुर्वन् कया केनापि ऋतेन सत्येन ।
   ऋग्वेद 5.12.3 पर सायण-भाष्य.
2. ऋतं सत्यरूपमग्निम्.....ऋतेन स्तोत्रेण । ऋग्वेद 5.15.2 पर सायण-भाष्य.
3. ऋग्वेद 5.62.1 पर सायण भाष्य.
4. ऋग्वेद 5.65.2 पर सायण भाष्य.
5. द्रष्टव्य – ऋग्वेद के "ऋत" शब्द पर सर्वत्र ग्रिफिथ का अनुवाद.
6. मोनियर, विलियम्स – संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ 223.
7. एनल्स ऑफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग 35, पृष्ठ 27.
8. शास्त्री, डॉ.मङ्गलदेव – भारतीय संस्कृति का विकास, पृष्ठ 393.

विल्सन ने प्रायः सर्वत्र सायण के ही अर्थों का अनुगमन किया है ।[1] ब्लूमफील्ड ने "ऋत" का अर्थ – "ब्रह्माण्डीय नियम" या "विश्व का नियम" किया है ।[2]

श्री अरविन्द के अनुसार – "सब वस्तुओं का सारभूत पदार्थ "ऋत" है, भौतिक से आध्यात्मिक रूप में परिवर्तन का कारण "ऋत" ही है । "ऋत" सूर्य, चन्द्र आदि का नियम दिखाई देता है, किन्तु वस्तुतः यह आचरण का नियम है ।[3] श्री अरविन्द के ही अनुयायी आधुनिक विद्वान् पुराणी ने "ऋत" को "सत्यभूत चैतन्य" (ट्रुथ कान्शसनेस) मानते हुए इसे सम्पूर्ण चेतन प्राणिवर्ग का उत्पत्तिस्थान कहा है ।[4]

विभिन्न विद्वानों की उपर्युक्त धारणाओं से यह स्पष्ट होता है कि "ऋत" इस सृष्टि का प्रवर्तक विधान है । सभी वस्तुएँ ऋत के अधीन हैं तथा यह सम्पूर्ण नैतिक मूल्यों और नियमों काप्रेरक है । ब्लूमफील्ड ने "ऋत" के तीन पहलू स्पष्ट किए हैं – ब्रह्माण्डीय अनुक्रम, देवों की परिनिष्ठित उपासना पद्धति और मनुष्यों का नैतिक आचार ।[5] ब्रह्माण्डीय क्रम या नियम के रूप में ऋत संसार तथा प्रकृति का नियमन करता है । प्रकृति तथा उसके द्वारा नियन्त्रित सम्पूर्ण पदार्थों की सतत गति के निश्चित क्रम का कारण यह "ऋत" ही है ।

ऋग्वेद का सारा धर्म और दर्शन यज्ञों पर आधारित है । जिस प्रकार प्रकृति की सारी व्यवस्था नियमित है, उसी प्रकार देवों की उपासना-पद्धति – यज्ञ भी नियमित हैं । ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद में "ऋत" शब्द पर सर्वत्र विल्सन के अनुवाद एवं टिप्पणियाँ.
2. The word means "Cosmic Order" or "Order of the Universe." ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 12.
3. श्री अरविन्द – वेदरहस्य, पृष्ठ 102 तथा 107.
4. पुराणी, ए.बी. – स्टडीज इन वैदिक इन्टरप्रेटेशन, पृष्ठ 49 तथा 53.
5. It presents itself under the threefold aspect of cosmic order, correct and fitting cult of the gods and moral conduct of man.

   ब्लूमफील्ड – द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ 126.

पुरुष सूक्त[1] में यज्ञ द्वारा ही सारी सृष्टि की कल्पना की गई है । उसमें विभिन्न ऋतुओं को यज्ञीय उपकरणों के रूप में प्रकल्पित किया गया है ।[2]

मनुष्यों द्वारा विधीयमान कार्यों में "ऋत" नैतिक नियम के रूप में प्रवृत्त होता है । यज्ञों में व्रत, अनुष्ठान,सदाचार इत्यादि नियमों का पालन करना आवश्यक था । ये सारी क्रियाएँ "ऋत" द्वारा नियमित होती थी । इसका विपरीतार्थक शब्द "अनृत" उपलब्ध होता है, जो असत्य के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है । वस्तुतः "अनृत", "सत्य" का विलोम बन गया । वरुण को इन दोनों का द्रष्टा अर्थात् निरीक्षक माना गया ।[3] यहाँ तक कि "ऋत" का रक्षक बनने की इच्छा करने वाले अग्नि को भी थोड़ी देर के लिए "वरुण" बनना आवश्यक बताया गया ।[4] "सत्य" और "अनृत" धीरे-धीरे उचित और अनुचित कृत्यों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे । सुप्रसिद्ध यम-यमी सूक्त[5] में यम ने यमी से स्पष्ट शब्दों में कहा है – हम लोग "ऋत" अर्थात् सत्य बोलते हुए अनृत आचरण कैसे करेंगे ?[6] यहाँ "ऋत" का तात्पर्य उचित और "अनृत" का अनुचित से है । वस्तुतः यम कहना चाहता है कि जब हम अपने कार्य को "ऋत" अर्थात् "उचित कार्य" के रूप में प्रतिपादित करेंगे, तो निश्चित रूप से जानबूझकर "अनृत" अर्थात् अनुचित कर्म में प्रवृत्त होंगे । इस प्रकार "ऋत" नैतिकता के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देता है ।

वैदिक ऋषियों ने अग्नि, सूर्य, उषा, मित्र, वरुण एवं बृहस्पति आदि देवताओं को "ऋत" से उत्पन्न कहा है ।[7] एक मन्त्र में अग्नि को ऋत का प्रथम पुत्र कहा गया है ।[8] उसे ऋत को बुलाने वाला भी माना गया है ।[9] उसे "ऋत" का ज्ञाता एवं उसकी (जल की) धाराओं को काटने वाला भी कहा गया है ।[10]

---

1. ऋग्वेद 10.90.
2. ऋग्वेद 10.90.6.
3. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् । ऋग्वेद 7.49.3.
4. ऋग्वेद 10.8.5.
5. ऋग्वेद 10.10.
6. कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं वदेम । ऋग्वेद 10.10.4.
7. ऋग्वेद 1.113.12, 189.6, 2.23.15, 3.54.13, 4.40.5, 7.66.13 इत्यादि.
8. अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य । ऋग्वेद 10.5.7.
9. ऋग्वेद 10.61.14.
10. ऋग्वेद 5.12.2.

द्युलोक की पुत्री उषा "ऋत" के मार्ग का अनुसरण करती है ।[1] उषा और रात्रि को ऋत की माताएँ कहा गया है ।[2] इसका तात्पर्य यह है कि रात्रि और उषा साथ-साथ कार्य करती हुई लोगों में "ऋत" की भावना को उत्पन्न करती हैं । उषा देवी "ऋत" के घर से प्रबुद्ध होकर यात्रा प्रारम्भ करती है ।[3] एक स्थान पर अदिति को "ऋतावरी" कहा गया है ।[4] "ऋत" की स्तुति करके ही बृहस्पति यज्ञ का पद प्राप्त किए ।[5] अङ्गिरसों ने "वल" को "ऋत" की शक्ति से ही नष्ट किया ।[6] सोम बार-बार "ऋत" के मार्ग को बताता है ।[7] वह "ऋत" अर्थात् सत्य वाणी द्वारा पवित्र होता है ।[8] एक मन्त्र में कहा गया है - द्यावापृथिवी ऋत की योनि में एक साथ निवास करते हैं ।[9] समस्त देवता "ऋत" के मार्ग का अनुसरण करते हैं ।[10] एक मन्त्र में देवों में देवतम अग्नि से यह कामना की गई है कि वह "ऋत" के मार्ग से देवताओं के लिए हमारे स्तोत्रों तथा हविष्यों को पहुँचाए ।[11] ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में देवताओं को "ऋतज्ञ" अर्थात् "ऋत" का ज्ञाता कहा गया है।[12] इसके अतिरिक्त उन्हें "ऋतावृध" अर्थात् ऋत को बढ़ाने वाला या ऋत के द्वारा वृद्धिङ्गत भी कहा गया है ।[13] देवता लोग "ऋत" की सहायता के बिना कुछ भी करने में समर्थ नही हैं । एक

---

1. ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु । ऋग्वेद 1.124.3.
2. ऋग्वेद 5.5.6.
3. ऋग्वेद 4.51.8.
4. ऋग्वेद 8.25.3.
5. ऋग्वेद 10.67.2.
6. ऋग्वेद 10.62.2.
7. ऋग्वेद 9.97.32.
8. ऋग्वेद 9.113.2.
9. ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा । ऋग्वेद 10.65.8.
10. ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः । ऋग्वेद 1.65.3.
11. ऋग्वेद 10.70.2.
12. ऋग्वेद 7.35.15, 10.64.16 इत्यादि.
13. ऋग्वेद 10.65.3, 66.1 इत्यादि.

मन्त्र में अङ्गिरसों के लिए कहा गया है कि उन्होंने "ऋत" के द्वारा ही सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया तथा सबका निर्माण करने वाली पृथिवी माता को विस्तृत किया ।[1] मित्रावरुण को सम्बोधित करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है – तुम "ऋत" के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करते हो ।[2] यहाँ तक कि आदित्यों का अस्तित्व ही ऋत पर आधारित बताया गया है ।[3] यहाँ आदित्य का तात्पर्य अदिति के पुत्र समस्त देवताओं से है । एक स्थान पर "ऋत" का पालन करने से मनुष्यों द्वारा भी देवत्व-प्राप्ति की बात कही गई है ।[4]

ऋत सम्पूर्ण प्रकृति में ओतप्रोत है । अनेक मन्त्रों में उषा देवी को "ऋतावरी" कहा गया है ।[5] नदियों को भी "ऋतावरी" कहा गया है, यद्यपि उन स्थलों पर ऋत का अर्थ "उदक" है ।[6] एक स्थान पर सिन्धुओं अर्थात् नदियों को "ऋत" को प्रवाहित करने वाली कहा गया है ।[7] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है – जलरहित पृथिवी "ऋत" के जल से वर्षाकाल में सिक्त होती है ।[8]

ऋग्वैदिक ऋषि वामदेव ने तो एक सूक्त के तीन मन्त्रों में ऋत का महत्त्व प्रतिपादित किया है ।[9] सायण ने उक्त तीनों मन्त्रों का वैकल्पिक देवता "ऋत" को ही माना है । यद्यपि उन्होंने वहाँ "ऋत" का कोई सुनिश्चित अर्थ न करके उसे इन्द्र, आदित्य, सत्य या यज्ञ का वाचक माना है[10], तथापि उससे "ऋत" की महत्ता में कोई व्याघात नहीं होता । ऋषि ने उक्त मन्त्रों में यह बताया है कि ऋत की बुद्धि से पाप नष्ट हो जाते हैं, "ऋत" की स्तुतिरूपा वाणी मनुष्य के बहरे कानों तक चली गई है । "ऋत" के द्वारा स्तोता अत्यधिक अन्न प्राप्त करना चाहते हैं ।

---

1. य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि । ऋग्वेद 10.62.3.
2. ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः । ऋग्वेद 5.63.7.
3. ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति । ऋग्वेद 10.85.1.
4. ऋग्वेद 1.68.3.
5. ऋग्वेद 3.2.13, 61.6, 4.56.2, 7.66.13 इत्यादि.
6. ऋग्वेद 2.41.18, 3.33.5, 6.61.9 इत्यादि.
7. ऋतमर्षन्ति सिन्धवः । ऋग्वेद 1.115.12.
8. ऋग्वेद 3.55.13.
9. ऋग्वेद 4.23.8, 9 तथा 10, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य.
10. अत्र ऋतशब्देनेन्द्रो वादित्यो वा सत्यं वा यज्ञो वोच्यते । वही, सायण-भाष्य.

"ऋत" के द्वारा गाएँ "ऋत" में प्रविष्ट हो गई हैं । "ऋत" (देवता) को स्तुति के द्वारा अपने वश में करने वाला व्यक्ति ऋत को ही प्राप्त कर लेता है । "ऋत" की शक्ति अत्यन्त तीव्र है । विस्तृत तथा गम्भीर द्यावापृथिवी "ऋत" के लिए ही हैं । ये दोनों धेनुरूप में "ऋत" के लिए ही दुग्ध प्रदान करती हैं ।[1]

ऋग्वेदीय ऋषि "ऋत" को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के स्तम्भ के रूप में भी स्वीकार करता है । वह राजा वरुण से "ऋत" द्वारा "अनृत" को दूर कर राष्ट्र का अधिपति बनने की प्रार्थना करता है।[2]

"ऋत" का अनुसरण करने से पाप सर्वथा दूर रहता है और किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता । एक मन्त्र में आदित्यों से "ऋत" पर चलने वाले के मार्ग को सुगम तथा निष्कण्टक करने की प्रार्थना की गई है ।[3] दुराचारी लोग "ऋत" के मार्ग को पार नहीं कर सकते ।[4] इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय सदाचार सबका काम्य था । एक मन्त्र में कहा गया है – "ऋत" का आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए वायु मधुर हो जाता है तथा नदियाँ या समुद्र भी मधुर जल प्रदान करते हैं ।[5] "ऋत" का आचरण करने से न केवल भौतिक उपलब्धियाँ ही प्राप्त होती हैं, अपितु इससे स्वर्ग भी प्राप्त होता है । एक स्थल पर मृत्यु के देवता यम से यह प्रार्थना की गई है कि वह मृतक को स्वर्ग में ले जाय, जहाँ "ऋत" का आचरण करने वाले, ऋतयुक्त और ऋत से उत्कर्ष प्राप्त करने वाले पितर निवास करते हैं ।[6] "ऋत" के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात होती है कि इसके द्वारा अमरता भी प्राप्त की जा सकती है । एक मन्त्र में "ऋत" की नाभि से अमृत की उत्पत्ति बताई गई है ।[7]

---

1. ऋग्वेद 4.23.8, 9 तथा 10.
2. ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि । ऋग्वेद 10.124.5.
3. सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते । ऋग्वेद 1.41.4.
4. ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः । ऋग्वेद 9.73.6.
5. मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । ऋग्वेद 1.90.6.
6. ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
   पितॄन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् । ऋग्वेद 10.154.4.
7. ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते । ऋग्वेद 9.74.4.

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि "ऋत" इस सृष्टि के मूल में विद्यमान तत्त्व है । यह सम्पूर्ण जगत् का आदिकारण है तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सूर्य, अग्नि इत्यादि समस्त तत्त्वों का उत्पादक एवं नियामक है । "ऋत" के अस्तित्व के कारण ही सर्वत्र विषमता के स्थान पर समता तथा अशान्ति के स्थान पर शान्ति प्रतिष्ठित है । यह सतत गतिशील है । अमूर्त होते हुए भी यह पूरी सृष्टि में व्याप्त है । इसकी गतिशीलता इस शब्द की निष्पत्ति के मूल में स्थित "ऋ" धातु में ही निहित है, जो गति तथा क्रियाशीलता की ज्ञापक है । "ऋत" के महत्त्व को इसी के प्रायः समान ध्वनि वाले शब्द "ऋतु" के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है । "ऋतु" भी सदैव गतिशील है । भाष्यकारों द्वारा "ऋत" के किए गए उदक, यज्ञ, कर्मफल आदि अर्थ भी इसकी गतिशीलता को प्रतिपादित करते हैं । "ऋत" का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं । इससे किसी का भी विरोध नहीं है । अतः यदि इसे परम तत्त्व के रूप में भी स्वीकार कर लिया जाय, तो कोई हानि नहीं है । ऋग्वेद में किसी देव-विशेष को सभी ऋषियों ने परमतत्त्व नहीं माना है, बल्कि सबके मत में यह भिन्न-भिन्न है[1], यद्यपि उसकी सत्ता सबने स्वीकार की है । "ऋत" एक ऐसा तत्त्व है, जिसे सबने स्वीकार किया है । इस प्रकार यह सार्वभौम है । ऋग्वेद में "ब्रह्म" की अवधारणा भी स्पष्टतः परमतत्त्व के रूप में नहीं हो पाई है । वह स्तोत्र, स्तोता, ब्रह्मा इत्यादि के रूप में ही प्रायः व्याख्यात है । इसके अतिरिक्त वहाँ किसी भी परमतत्त्व का नामतः उल्लेख नहीं है । जो भी स्तुतियाँ हैं, वे सभी तात्कालिक रूप से तत्तद्देवताओं को समर्पित की गई हैं । अतः सम्भव है कि "तदेकम्"[2] से ऋषि "ऋततत्त्व" की ओर ही सङ्केत कर रहा हो । इसी सूक्त के अगले मन्त्र[3] में "अप्रकेत सलिल" की चर्चा की गई है । इसके साथ "ऋत" का "उदक" अर्थ अनुस्यूत प्रतीत होता है । इसी मन्त्र के अन्तिम चरण में उस परमतत्त्व को "तपस्" की महिमा से उत्पन्न बताया गया है ।[4] "ऋत" भी तपस् द्वारा ही उत्पन्न हुआ ।[5] अतः निश्चित रूप से "ऋत को इस सृष्टि के परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

---

1. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । ऋग्वेद 1.164.46.
2. आनीदवातं स्वधया तदेकम् । ऋग्वेद 10.129.2.
3. तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
   तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।। ऋग्वेद 10.129.3.
4. ऋग्वेद 10.129.3.
5. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ऋग्वेद 10.190.1.

(ख) ऋग्वेद में ज्ञानमीमांसा :-

"वेद" ज्ञानस्वरूप हैं । उनमें अखण्ड ज्ञान निहित है । यहाँ ऋग्वेद में निहित ज्ञान-मीमांसीय तत्त्वों पर विचार करना अपेक्षित है ।

(1) **ज्ञानमीमांसा का सामान्य स्वरूप** :- ऋग्वेद की ज्ञानमीमांसा की चर्चा करने के पूर्व "ज्ञानमीमांसा" को समझना आवश्यक है । भारतीय दर्शन-परम्परा में "ज्ञानमीमांसा" शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । वहाँ इसी अर्थ में "प्रमाण-मीमांसा" का व्यवहार होता रहा है । वस्तुतः "ज्ञानमीमांसा" शब्द अंग्रेजी के एपिस्टेमोलॉजी (Epistemology) का हिन्दी अनुवाद है । पाश्चात्त्य दर्शनों में यह शब्द बहुशः प्रयुक्त है । वहाँ इसका प्रयोग विभिन्न तत्त्वों के सम्बन्ध में दिये गए तर्कों के लिए किया गया है । भारत में प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्राप्त ज्ञान, उसके स्रोत तथा प्रामाण्य-अप्रामाण्य आदि का विवेचन इष्ट रहा है । इस प्रकार भारतीय प्रमाण-मीमांसा ही आधुनिक ज्ञान-मीमांसा के विषयों को ग्रहण करती है । भारतीय दर्शन में इसकी जितनी विशद एवं विस्तृत विवेचना की गई है, अतनी अन्यत्र नहीं की गई है ।

(2) **ऋग्वेद में "प्रमा" शब्द** :- भारतीय दर्शन में "प्रमा", प्रमाण, "प्रमाता" और "प्रमिति" शब्दों का प्रयोग ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत किया गया है । ये सभी शब्द "प्र" उपसर्गपूर्वक "माङ्" धातु से क्रमशः अङ्, ल्युट्, तृच् और क्तिन् प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होते हैं । "माङ्" धातु नापने के अर्थ में होता है, अतः सामान्यतः जो मापे या जिसे मापा जाय वह प्रमा, जिससे मापा जाय, वह प्रमाण तथा जो मापे वह प्रमाता कहलाता है । "प्रमिति" शब्द का प्रयोग प्रायः प्रमा के अर्थ में ही किया जाता है । न्यायदर्शन में यथार्थ अनुभव ज्ञान को प्रमा कहा जाता है ।[1] ऋग्वेद में "प्रमा" शब्द का प्रयोग दो बार किया गया है ।[2] प्रथम बार प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ सायण ने "प्रमाणं" या "इयत्ता" किया है ।[3] द्वितीय बार भी उन्होंने इसे उक्त अर्थ में ही प्रयुक्त माना है ।[4]

---

1. "यथार्थानुभवः प्रमा" - मिश्र केशव - तर्क भाषा, पृष्ठ 16.
2. ऋग्वेद 10.130.3 तथा 7.
3. कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानम् । ऋग्वेद 10.130.3.
   प्रमा प्रमाणम् इयत्ता का कथंभूता आसीत् । सायण-भाष्य.
4. सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः । ऋग्वेद 10.130.7.
   सहप्रमाः । प्रमितिः प्रमा यज्ञस्येयत्तापरिज्ञानम् । सायण-भाष्य.

यदि ऋग्वेद में इसका अर्थ इयत्तापरिज्ञान भी माना जाय, तो इसके अवान्तरकालीन अर्थ से कोई विरोध नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जब तक किसी वस्तु के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं होगा, हम उसकी इयत्ता या सीमा नहीं बता सकते । इस प्रकार दर्शन में प्रयुक्त "प्रमा" शब्द ऋग्वेद से ही लिया गया है ।

ऋग्वेद के ज्ञानसूक्त में भी आपाततः "प्रमा" शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है, किन्तु पदच्छेद करने पर ऐसा नहीं है ।[1] सायण ने "यत् अरिप्रम् आसीत्", इस प्रकार अन्वय करते हुए "अरिप्र" का अर्थ – "पापरहित वेदार्थज्ञान" किया है ।[2] जयदेव वेदालङ्कार ने इस मन्त्र में "प्रमा" शब्द को स्वतन्त्र मानकर इसका अर्थ – "वह ज्ञान का स्वामी सर्वप्रथम वाणी अर्थात् वेद की ऋचाओं में इन प्रमा वाली नाना वस्तुओं के नाम देता है", किया है ।[3] उनके मन्त्रार्थ में कहीं भी "अरि" का अर्थ नहीं दिया गया है, जबकि "प्रमा" को अलग पद मानने पर "यत् अरि–प्रमा आसीत्" इस प्रकार अन्वय और पदच्छेद करना पड़ेगा । अन्य किसी भी विद्वान् ने उक्त मन्त्र में "प्रमा" को पृथक् पद के रूप में स्वीकार नहीं किया है । अतः "अरिप्रम् आसीत्" इस प्रकार का अन्वय करना ही उचित प्रतीत होता है ।

(3) ऋग्वेद में "प्रत्यक्ष", "अनुमान" और "शब्द" प्रमाणों के सङ्केत :– वस्तुतः प्रमाणों का प्रमाणत्व किसी भी वस्तु (पदार्थ) की ज्ञान–प्राप्ति के साधन के रूप में ही है । किसी भी ज्ञान के प्रति साक्ष्य के रूप में प्रत्यक्ष–अनुमानादि प्रमाणों को उपन्यस्त किया जाता है । ऋग्वेद में हमें इन शब्दों का स्पष्ट प्रयोग तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इनका भाव–फल अवश्य ही उक्त अर्थों में ही दृष्टिगत होता है । एक मन्त्र में आया है – प्रथम जायमान को किसने देखा ?[4] मन्त्र में प्रयुक्त क्रियापद "ददर्श" तथा प्रष्टा के भाव से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि ऋषि को न केवल "प्रत्यक्ष" का ही, अपितु "चाक्षुष प्रत्यक्ष" की धारणा का भी स्पष्ट ज्ञान है । इसी प्रकार एक अन्य

---

1. यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः । ऋग्वेद 10.71.1.
2. यत् यच्च अरिप्रं पापरहितं वेदार्थज्ञानम् आसीत् । वही, सायण-भाष्य.
3. वेदालङ्कार, जयदेव – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 337.
4. को ददर्श प्रथमं जायमानम् । ऋग्वेद 1.164.4.

मन्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द तीनों प्रमाणों के बीज निकाले जा सकते हैं ।[1] यमी यम से कहती है – हम दोनों के इस प्रथमतः होने वाले सम्बन्ध को कौन जान सकता है ? कौन इसे यहाँ देख रहा है ? तथा कौन आगे इसे बताएगा ? तात्पर्य यह है कि उनके सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, किसी भी प्रमाण से गम्य नहीं है । मन्त्र में आए "क ईम् ददर्श" से प्रत्यक्ष प्रमाण का बोध होता है । "को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः" से यहाँ अनुमान प्रमाण का सङ्केत प्राप्त होता है । अनुमान की प्रसक्ति व्याप्ति–ज्ञान के पश्चात् ही हो सकती है । व्याप्ति के लिए लिङ्ग तथा लिङ्गी का साहचर्य–ज्ञान आवश्यक है । यह साहचर्य ज्ञान मात्र एक बार दोनों को साथ देखने से उपपन्न नहीं हो सकता । इसके अलए अनेक बार दोनों को एक साथ देखा जाना आवश्यक है । यम–यमी द्वारा क्रियमाण–सम्बन्ध प्राथमिक था, उसे कोई प्रत्यक्ष भी नहीं कर रहा था, अतः अनुमान प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान शक्य नहीं था । शब्द प्रमाण आप्त वाक्यों पर आधारित होता है ।[2] आप्त जन भी प्रत्यक्षादि के आधार पर ही वाक्य प्रस्तुत कर सकते हैं । जब यम–यमी के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा नहीं जाना जा सकता था, तो आप्तों द्वारा वाक्य-रचना भी अशक्य थी । इसी को मन्त्र में आए "क इह प्रवोचत्" द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । प्रस्तुत मन्त्र पर सायण-भाष्य द्वारा भी उक्त प्रमाणों का निर्देश प्राप्त होता है ।[3] एक अन्य मन्त्र में हमें अनुमान प्रमाण का स्पष्ट उपपादन दृष्टिगत होता है ।[4]

(4) ऋग्वेद में शब्दात्मिका "वाणी" का आविर्भाव :– वेद, शब्द प्रमाण के सर्वोच्च निदर्शन हैं । जो तथ्य प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ज्ञात नहीं हो सकते, उन्हें वेद द्वारा जाना जाता है । यही वेद का वेदत्व है ।[5] वेद और ज्ञान अभिन्न हैं । ऋग्वेद के दशम मण्डल का इकहत्तरवां सूक्त

---

1. को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत् । ऋग्वेद 10.10.6.
2. आप्तवाक्यं शब्दः । मिश्र, केशव – तर्कभाषा, शब्द प्रमाण ।
3. प्रथमस्याह्नः सम्बन्धि अस्य इदमन्योन्यसंगमनं कः वेद जानाति । प्रथमेऽहनि यत्क्रियते तदनुमानमाश्रित्य न कश्चिदपि ज्ञातुं शक्नोतीत्यर्थः । इह अस्मिन् प्रदेशे प्रत्यक्षतः क ईम् इदं संगमनं ददर्श पश्यति कः प्रवोचत् प्रख्यापयति । न कोऽपीत्यर्थः । वही, सायण भाष्य.
4. शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण । ऋग्वेद 1.164.43 तथा इस पर सायणभाष्य.
5. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
   एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।। सायण, तैत्तिरीय भाष्य-भूमिका.

"ज्ञानसूक्त" के नाम से प्रसिद्ध है । इसके ऋषि आङ्.गरस बृहस्पति तथा देवता ज्ञान हैं । इसमें वाणी अर्थात् शब्द के प्राकट्य का विवेचन किया गया है । सूक्त के प्रथम मन्त्र में मनुष्यों के प्रेम के कारण उनमें वाणी के आविर्भाव की चर्चा की गई है ।[1] डॉ. मुंशीराम शर्मा के अनुसार इस मन्त्र में वाणी के परा तथा पश्यन्ती रूपों की विवेचना की गई है ।[2] वाणी के चार रूप होते हैं – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[3] पहला परा रूप अचिन्त्य है । सारा ज्ञान उसी में समाविष्ट है, सारे नाम भी वहीं हैं । सृष्टि के प्रसङ्.ग में सर्वप्रथम महत् या बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है । वाणी का परा रूप भी इस बुद्धिरूपी गुहा के साथ पश्यन्ती रूप में प्रकट हो जाता है । बुद्धितत्त्व में सत्त्वगुण प्रधान रहता है अतः वाणी का पश्यन्ती रूप भी सत्त्वप्रधान है । सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण ही मन्त्र में पश्यन्ती वाणी को श्रेष्ठ तथा निष्पाप ज्ञान कहा गया है ।

उद्धृत सूक्त के दूसरे मन्त्र में भी वाणी के उक्त आविर्भाव को पल्लवित किया गया है ।[4] डॉ. शर्मा ने इसमें मध्यमा रूप को उपपन्न किया है ।[5] महत् या बुद्धितत्त्व से अहङ्.कार की उत्पत्ति होती है तथा अहङ्.कार से मन की । वाणी का पश्यन्ती रूप बुद्धितत्त्व में समेकित था, अब अहङ्.कार द्वारा मध्यमा रूप का उदय मन में हुआ । मन के साथ विश्लेषण की क्रिया जुड़ी रहती है। जिस प्रकार चलनी से सत्तू को साफ किया जाता है, उसी प्रकार धीर पुरुष मन में वाणी को परिष्कृत करते हैं । वाणी के सखा यहीं वाणी की मैत्री को पहचान लेते हैं । भद्रालक्ष्मी इनकी वाणी में निहित रहती है । यहाँ लक्ष्मी का तात्पर्य लक्षित कराने वाली शक्ति से है । मध्यमा वाणी में ही अर्थ लक्षित होने लगते हैं । पश्यन्ती रूप में तो अर्थों का दर्शन-मात्र उपलब्ध रहता है । इसीलिए उसमें सख्य नहीं होता । सख्यभाव के लिए द्वैत का होना आवश्यक है । यह पश्यन्ती की सगुणता के पश्चात् मध्यमा के रूप में ही सम्भव है ।

---

1. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
   यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः । ऋग्वेद 10.71.1.
2. शर्मा, मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 203.
3. ऋग्वेद 1.164.45.
4. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
   अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि । ऋग्वेद 10.71.2.
5. शर्मा, मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 204.

सूक्त के तीसरे मन्त्र में पूर्णतः शब्द प्रमाण के उपन्यस्त होने का सड्.केत प्राप्त होता है।[1] डॉ. शर्मा ने इसमें वैखरी वाणी का वर्णन माना है ।[2] वाणी के मध्यमा रूप में जो अर्थ लक्षित हो रहे थे, अब उनके प्रकट होने का समय आ गया । अब वे वैखरी वाणी के रूप में सर्वसुलभ होंगे । वैखरी रूप प्राप्त करने का माध्यम यज्ञ ही है । अतः यज्ञ द्वारा वाणी की इस पदवी को खोजा गया तथा उसे ऋषियों की मनोभूमि में प्रविष्ट पाया गया । उस पवित्रवाणी को सभी तरफ से ग्रहण करके धीर पुरुषों ने अनेक स्थानों में या अनेक रूपों में विभक्त कर दिया । जो वाणी संहित रूप में थी, वह विभक्त हो गई । जो एक तत्त्व था, वह चार भागों में हो गया । ये गायत्री इत्यादि सात छन्द उसी वाणी की स्तुति करते हैं । यही वाणी, शब्दप्रमाण का मूल है । इसी के द्वारा हमें परोक्ष विषयों का भी ज्ञान प्राप्त होता है । वस्तुतः वाणी अर्थात् शब्द और ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानमीमांसा या प्रमाणमीमांसा के बीज भी हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं ।

(ग) ऋग्वेद में आचारमीमांसा :-

आचार शास्त्र को भी दर्शन के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जाता है । आधुनिक युग में इसे नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) के रूप में पढ़ाया जाता है । वस्तुतः जब तक व्यक्ति सदाचार का पालन नहीं करेगा, उसके हृदय में दर्शन के मूल तत्त्वों का उद्‌गम होना सम्भव नहीं है । अतः यह शास्त्र भी दर्शन का अभिन्न अड्.ग है । प्रकृत स्थल पर विचारणीय है कि ऋग्वेद में आचारशास्त्र का क्या स्वरूप है ? इस दृष्टि से इसे दो भागों में विभक्त कर विचार किया जा सकता है ।

(1) यज्ञीय आचारमीमांसा :- इसे कर्मकाण्डीय आचारमीमांसा भी कहा जा सकता है, क्योंकि कर्मकाण्ड यज्ञ का ही क्रियापक्ष है । वस्तुतः यज्ञ या कर्मकाण्ड धर्म का व्यावहारिक रूप है । यह वैदिक विचारधारा की आधारशिला है । यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ - प्रदीप्त अग्नि, आज्य का मधुर सुगन्ध, कुश, पकाया गया हविष्यान्न, निचोड़ा हुआ सोमरस तथा अन्य उपकरण भी यज्ञकर्त्ता

---

1. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषुप्रविष्टाम् ।
   तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ।। ऋग्वेद 10.71.3.
2. शर्मा, मुंशीराम - वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 205.

के मन और शरीर पर पवित्र प्रभाव डालते हैं । इसके अतिरिक्त पुरोहितों द्वारा क्रियमाण विभिन्न क्रियाएँ, मन्त्रों का गायन एवं उनकी सङ्गीतात्मकता तथा यज्ञ के अन्तिम चरण में सबका साथ-साथ भाग लेना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इन सभी तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए ही यज्ञ को इस भुवन की नाभि या केन्द्रबिन्दु कहा गया है ।[1] जहाँ तक यज्ञीय आचारमीमांसा का सम्बन्ध है, यह ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होती । ऋग्वेद में हमें मात्र विभिन्न देवताओं का आवाहन करके उनकी स्तुतियाँ तथा उनसे यज्ञों में उपस्थित रहने की प्रार्थनाएँ ही उपलब्ध होती हैं । यज्ञ का स्वरूप, उसके नियम तथा पुरोहितों एवं यजमानों द्वारा आचरणीय नियमों का सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है ।

[2] **लौकिक आचारमीमांसा** :- ऋग्वेद में आदर्श लौकिक जीवन की उद्भावना की गई है । सूर्य-चन्द्रादि के मार्गों का अनुसरण करने की कामना की गई है । अनेक मन्त्रों में आदर्श पुत्र प्राप्त करने की प्रार्थना इसलिए की गई है कि यज्ञ-परम्परा का उच्छेद न होने पाए ।[2] एक मन्त्र में कहा गया है - जो यजमान इन्द्र के लिए हवि प्रदान करता है, सोम उसे धेनु प्रदान करता है । वह उसे शीघ्रगामी अश्व प्रदान करता है । वह उस यजमान को वीर, कर्मठ, गृहकार्य में दक्ष, यज्ञयोग्य, सभेय तथा पिता को यश प्रदान करने वाला पुत्र देता है ।[3] ऋषियों ने देवों से कल्याणकारिणी बुद्धि की याचना की है, जिससे उनकी अनुकूलता बनी रहे ।[4] उन्होंने कानों से अच्छा सुनने तथा आँखों से अच्छा देखते रहने की प्रार्थना करते हुए देवों की अपने दृढाङ्गों से स्तुति करते हुए उनके द्वारा निर्धारित आयु प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की है ।[5] ऋग्वेद में उपलब्ध लौकिक आचार-संहिता को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है ।

---

1. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः । ऋग्वेद 1.164.35.
2. ऋग्वेद 2.12.15, 8.48.14 इत्यादि.
3. ऋग्वेद 1.91.20.
4. ऋग्वेद 1.89.1.
5. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
   स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। ऋग्वेद 1.89.8.

(अ) सत्याचरण :- ऋग्वेद में "ऋत" और "सत्य" का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । एक मन्त्र में मरुतों के लिए "ऋत" द्वारा "सत्य" को प्राप्त करने की बात कही गई है ।[1] यद्यपि सामान्य रूप से ऋत और सत्य को एक माना जाता है, किन्तु दोनों का अनेक स्थलों पर साथ-साथ प्रयोग होने से इनका पार्थक्य लक्षित होता है । "सत्य" की निष्पत्ति सत्तार्थक "अस्" धातु से होती है, अतः इसका अर्थ हुआ "अस्तित्व या होने का भाव । "ऋत" गत्यर्थक "ऋ" धातु से बनता है, अतः इसका अर्थ हुआ "गतिशीलता" । इसे "सत्य के प्रति गतिशील" भी कह सकते हैं, क्योंकि सत्य स्थित है तथा ऋत क्रियाशील । डॉ. गणेशदत्त शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है कि "ऋत" अपने में एक अलौकिकता एवं दार्शनिक गम्भीरता लिये हुए है और "सत्य" लौकिक एवं व्यावहारिक जगत् का आचार है, यद्यपि एक स्तर पर पहुँचकर सत्य भी दार्शनिक चिन्तन का विषय बन जाता है ।[2] मेरी दृष्टि में तो "सत्य" सदैव दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है । वस्तुतः सत्य का साक्षात्कार ही दर्शन है । भारतीय इतिहास के हर युग में हम चिन्तकों को "सत्य" के पीछे भागते देखते हैं तथा उन्हें इसके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप के अन्वेषण में रत पाते हैं ।

ऋग्वेद में देवताओं को सत्यस्वरूप माना गया है । एक मन्त्र में अश्विनों को सम्बोधित करते हुए उन्हें जोड़कर सत्यभूत तैंतीस देवताओं को यज्ञ में आने के लिए कहा गया है ।[3] ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही अग्नि को सत्य कहा गया है ।[4] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर इन्द्र को भी सत्य कहा गया है ।[5] सत्य की उत्कृष्टता के कारण ही वैदिक युग में आस्तिकता तथा नास्तिकता का द्वन्द्व नहीं था, बल्कि हमें सत्य और असत्य का द्वन्द्व दिखाई देता है । एक मन्त्र में कहा गया है - हम सत्यस्वरूप इन्द्र का स्तवन करें, न कि अनृत का ।[6] एक मन्त्र में ऋषि अग्नि से

---

1. ऋतेन सत्यमृतसाप आयन् । ऋग्वेद 7.56.12.
2. शर्मा, गणेशदत्त - ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व, पृष्ठ 170.
3. युवां देवास्त्रय एकादशासः सत्याः सत्यस्य ददृशे पुरस्तात् । ऋग्वेद 8.57.2.
4. सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । ऋग्वेद 1.1.5.
5. यच्चिद्धि सत्य सोमपा । ऋग्वेद 1.29.1.
6. सत्यमिद्वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम् । ऋग्वेद 8.62.12.

स्पष्टीकरण देता है कि वह अनृतदेव अर्थात् असत्य देवताओं को मानने वाला नहीं है ।[1] सत्यकर्मा सोम से सत्य बोलते हुए इन्द्र के लिए द्रवित होने की प्रार्थना की गई है ।[2] इसी प्रकार हिरण्यगर्भ को भी सत्यधर्मा कहा गया है ।[3] एक मन्त्र में द्यावापृथिवी को सत्य से युक्त होने के लिए कहा गया है ।[4] इस प्रकार देवों के आचार में सर्वत्र सत्य की भावना प्राप्त होती है । देवों में ऐसी भावना के उद्भावक ऋषि भी निश्चित रूप से सत्यमय होंगे,क्योंकि सत्य के व्यापक स्वरूप से उनका उद्देश्य प्राणिमात्र को सत्यमय बनाना प्रतीत होता है ।

वैदिक ऋषियों ने सत्य को इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसे विश्व के नियन्त्रक एवं सञ्चालक के रूप में स्वीकार किया । एक मन्त्र में कहा गया है – सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्थिर की गई है ।[5] इस मन्त्र द्वारा यह ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में सत्य को नैतिक प्रतिमान के रूप में स्वीकार कर लिया गया था । सत्य बोलना उस समय पवित्र कार्य माना जाता होगा । एक मन्त्र में ऋषि ने द्युलोक एवं पृथिवीलोक को भी सत्यवादी बताया है ।[6]

ऋग्वेद में सत्य के महत्त्व–प्रतिपादन के अतिरिक्त उसके प्रति गहरी निष्ठा भी व्यक्त की गई है । एक स्थल पर ऋषि ने अपने विचारों तथा हृदय को सत्ययुक्त होने के लिए कहा है ।[7] वैदिक ऋषि सत्य के प्रति आश्वस्त हैं कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य पराजित हो जाता है। एक मन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् व्यक्ति यह भलीभाँति जानता है कि सत्य तथा असत्य वचन परस्पर स्पर्धा करते हैं । उनमें से जो ऋजुतम, अकुटिल सत्य है, सोमदेव उसकी रक्षा करते हैं तथा असत् को मार देते हैं ।[8] सम्भवतः मुण्डकोपनिषद् के ऋषि को इसी मन्त्र से प्रेरणा मिली होगी, जब

---

1. ऋग्वेद 7.104.14.
2. ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । ऋग्वेद 9.113.4.
3. ऋग्वेद 10.121.9.
4. ऋग्वेद 3.54.3.
5. सत्येनोत्तभिता भूमिः । ऋग्वेद 10.85.1.
6. ऋतावरी रोदसी सत्यवाचः । ऋग्वेद 3.54.4.
7. ऋग्वेद 10.128.4.
8. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
   तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ।। ऋग्वेद 7.104.12.

उसने कहा – सत्य की ही विजय होती है, अनृत (असत्य) की नहीं ।[1]

ऋग्वेद में सत्याचरण द्वारा उत्कृष्ट पद प्राप्त करने के प्रसङ्ग भी दृष्टिगत होते हैं । एक मन्त्र में सत्यधर्माओं को परम व्योम में जाने को कहा गया है ।[2] यहाँ "परमव्योम" अवश्य ही स्वर्गलोक के लिए आया प्रतीत होता है । एक अन्य मन्त्र में सत्यस्वरूप पितरों को इन्द्र के समान रथ धारण करने वाला बताया गया है ।[3]

ऋग्वेद में सत्य की प्रतिष्ठा करने के साथ–साथ असत्याचरण की निन्दा भी की गई है । वैदिक ऋषियों का यह मन्तव्य था कि असत्यवादी तथा पापकर्मा लोग देवों के कृपापात्र नहीं बन सकते । ऐसे लोगों को देव कष्ट पहुँचाते हैं । एक मन्त्र में कहा गया है – सोम राक्षस तथा असत्य बोलने वाले को मार डालता है ।[4] एक अन्य मन्त्र में असत्यवादी व्यक्ति को पापी कहा गया है ।[5]

वस्तुतः नैतिक दृष्टि से सत्य का तात्पर्य इसकी सार्वभौमिकता तथा अखण्डता से है । तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से सत्य यथार्थ को द्योतित करता है और "सत्" बन जाता है । "सत्य" का सम्बन्ध आचरण से है और "सत्" गवेषणा का विषय है । इसी से अनुप्राणित होकर उपनिषद् में कहा गया है – मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ ।[6] यदि किसी व्यक्ति से "सत्" के बारे में जिज्ञासा की जाय, तो वह मौन धारण कर सकता है, जैसा कि गौतम बुद्ध ने परम सत् के बारे में किया था, किन्तु सत्य के विषय में ऐसा नहीं है । यह हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुविद्ध है । स्वयं वैदिक ऋषि ने सत् और असत् से परे स्थिति की कल्पना की है – उस समय न सत् था, न असत्।[7] इसके विपरीत सत्य की परम सत्ता स्वीकार की गई है । ऋषि कहता है – पृथ्वी सत्य के द्वारा ही

---

1. सत्यमेव जयते नानृतम् । मुण्डकोपनिषद् – 3.1.6.
2. सत्यधर्मापा परमे व्योमनि । ऋग्वेद 5.63.1.
3. ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः । ऋग्वेद 10.15.10.
4. हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तम् । ऋग्वेद 7.104.13.
5. पापासः सन्तो अनृता असत्याः । ऋग्वेद 4.5.5.
6. असतो मा सद् गमय । बृहदारण्यकोपनिषद् – 1.3.28.
7. ऋग्वेद 10.129.1.

ऊपर स्थित की गई है ।[1] आगे चलकर सम्पूर्ण परवर्त्ती साहित्य में सत्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है । यजुर्वेद का ऋषि भी यज्ञ करते समय कहता है – यह मैं अनृत से सत्य की ओर जा रहा हूँ ।[2] सत्य के इस साम्राज्य का मूलाधार ऋग्वेद में ही निहित है ।

(ब) अहिंसा :– सत्याचरण के अतिरिक्त अहिंसा का भी लोक में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह अहिंसा की भावना हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होती है । ऋषियों ने पितरों में भी अहिंसा की उपस्थिति स्वीकार करते हुए "अवृक" अर्थात् अहिंसक पितरों से यज्ञ में रक्षा करने की प्रार्थना की है।[3] एक अन्य मन्त्र में भी पूर्वजों को हिंसा से रहित, अनिन्द्य, पापरहित तथा स्तोता बताते हुए स्वयं भी वैसा ही होने की प्रार्थना की गई है ।[4] एक मन्त्र में यज्ञों को भी असुरों से "अदब्ध" अर्थात् अहिंसित होने की प्रार्थना की गई है ।[5] देवताओं की अनुग्रहबुद्धि प्राप्त करने के लिए अहिंसा की भावना से संवलित होना आवश्यक है । एक मन्त्र में ऋषियों ने अहिंसक होते हुए इन्द्र की कल्याणकारिणी बुद्धि में स्थान प्राप्त करने की कामना की है ।[6]

देवताओं से धन की याचना करते समय भी ऋषियों ने यह आदर्श उपस्थित किया है कि उस धन से किसी की भी हिंसा न हो । एक मन्त्र में इन्द्र से ऐसे ही प्रभूत, संयत, कल्याणकारी तथा अहिंसित धन की याचना की गई है, जो शत्रुओं को तारने के लिए हो ।[7] यही नहीं, ऋषियों ने हिंसारहित बुद्धि की भी याचना की है, क्योंकि बुद्धि द्वारा ही सारा व्यवहार सम्पन्न होता है । यदि बुद्धि हिंसायुक्त हो जाएगी तो इससे विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकेगा । इसीलिए अश्विनों को सम्बोधित करते हुए ऋषि ने अपनी बुद्धि को ऋजु, अहिंसित तथा धनाभिलाषिणी बनाने की प्रार्थना की है ।[8]

---

1. ऋग्वेद 10.85.1.
2. इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि । शुक्लयजुर्वेद – 1.5.
3. असुं य ईयुरवृकाः । ऋग्वेद 10.15.1.
4. यथा चित्पूर्वे जरितार आसुरनेद्या अनवद्या अरिष्टाः । ऋग्वेद 6.19.4, द्रष्टव्य-सायणभाष्य.
5. ऋग्वेद 1.89.1.
6. वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ । ऋग्वेद 7.20.8.
7. आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् । ऋग्वेद 6.22.10.
8. ऋग्वेद 7.67.5.

ऋग्वेद में देवयान तथा पितृयान दो मार्गों को बताया गया है । देवयान इन दोनों में श्रेष्ठ है । इसे प्राप्त करने के लिए भी अहिंसा का होना आवश्यक है । एक मन्त्र में ऋषि ने बताया है कि उसने अहिंसित तथा तेजों से संस्कृत देवयान के मार्ग को देख लिया है ।[1] रुद्र उग्रस्वभाव वाला देव माना गया है । वह थोड़ी भी च्युति होने पर क्रुद्ध हो जाता है । ऋषि दो मन्त्रों द्वारा रुद्र की स्तुति करते हुए कहता है – हे रुद्र। आप हममें से न तो वृद्ध, न बालक, न युवक, न गर्भस्थ भ्रूण, न पिता, न माता तथा न तो हमारे प्रिय शरीरों को ही हिंसित करें । हे रुद्र । आप हमारे पौत्र तथा इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्यों, गाय एवं अश्वों को भी हिंसित न करें । आप क्रुद्ध होकर हमारे वीरों को मत मारें । हम सदैव हविष्य से युक्त होकर आपको पुकारते हैं ।[3] इन मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि प्राणिमात्र को भी अहिंसित रखना चाहते थे । जब उनकी हिंसा कोई नहीं करेगा, तो स्वभावतः कोई भी प्राणी हिंस्र कार्यों में लिप्त नहीं होगा । ऋषियों ने देवताओं से हिंसकों को दण्ड देने की प्रार्थनाएँ भी की हैं । एक मन्त्र में अग्नि से, पापों से बचाने तथा हिंसकों को तप्त तेज से जलाने की प्रार्थना की गई है ।[4] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में सोम देवता से हिंसक के विनाश हेतु प्रार्थना की गई है ।[5]

परवर्ती संस्कृत साहित्य में हमें जो भी अहिंसा के आचरण-सम्बन्धी वाक्य मिलते हैं, उन सबके मूल में ऋग्वेद की अहिंसा-भावना ही निहित है । यहाँ तक कि वेदों को न मानने वाले महावीर तथा बुद्ध ने भी सम्भवतः ऋग्वेद के आधार पर ही अहिंसा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की है ।

(स) एकता एवं लोककल्याण :– ऋग्वेद की शिक्षा सङ्कीर्णता से हटकर व्यापकता एवं विच्छेद से परे एकता के रूप में है । एकता की उदात्त भावना के दर्शन हमें ऋग्वेद के अन्तिम

---

1. प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः । ऋग्वेद 7.76.2.
2. ऋग्वेद 2.33.4.
3. मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
   मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ।
   मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
   वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ।। ऋग्वेद 1.114.7-8.
4. ऋग्वेद 7.15.13.
5. ऋग्वेद 9.4.3.

सूक्त में मिलते हैं जिसमें ऋषि का कथन है – हम सभी लोग साथ–साथ चलें, साथ–साथ बोलें तथा सबके मन की बातों को जानें, जिस प्रकार देवता एक होकर अपना यज्ञ भाग ग्रहण करते हैं ।[1] इस मन्त्र में एकता की प्रेरणा देवों से ली गई है । सबके मन की बातों को जानने के बाद अन्तरङ्गता के कारण वैमत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इस सांमनस्य सूक्त का अगला मन्त्र भी परामर्शों, समितियों, मन तथा चिन्तन के साम्य को द्योतित करता है ।[2] ऋग्वेद की अन्तिम ऋचा में भी ऋषि ने इस प्रकार प्रार्थना की है – तुम्हारी आकूति अर्थात् चित्तवृत्ति या अभिप्राय एक समान हो । तुम्हारे हृदय एक समान हों तथा तुम्हारे मन भी समान हो, जिससे तुम्हारे सारे कार्य शोभन ढंग से चलते रहें ।[3] ऋषि द्वारा बार–बार मन को एक समान होने के लिए कहने से यह ध्वनित होता है कि एकता के लिए मन का एक होना परमावश्यक है । "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना के बीज हमें इन्हीं मन्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं । ऋषियों ने देवताओं को सबका मित्र माना है । एक मन्त्र में ऋषि ने अग्नि को मानवमात्र का बन्धु, मित्र, प्रिय एवं सखाओं के लिए अत्यन्त प्रिय कहा है ।[4] एक अन्य सुप्रसिद्ध मन्त्र में द्युलोक को बन्धु कहा गया है ।[5] एक अन्य मन्त्र में देवताओं की मित्रता प्राप्त करने-हेतु प्रार्थना की गई है ।[6] एक स्थल पर अग्नि को उसी प्रकार कल्याणकारी बनने के लिए कहा गया है, जैसे मित्र कल्याण करता है ।[7] इसी प्रकार सोम से भी कहा गया है – तुम वैसे ही पथ प्रदर्शक बनो, जिस प्रकार एक मित्र अपने मित्र को सही मार्ग दिखाता है ।[8] एक मन्त्र में अग्नि से भी कहा गया है – हे अग्ने । तुम हमारे प्रति ठीक वैसे ही उत्तम मन वाले या अभीष्ट

---

1. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।। ऋग्वेद 10.191.2.
2. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् । ऋग्वेद 10.191.3.
3. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। वही, 10.191.4.
4. ऋग्वेद 1.75.4.
5. ऋग्वेद 1.164.33.
6. देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् । ऋग्वेद 1.89.2.
7. ऋग्वेद 1.58.6.
8. सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव । ऋग्वेद 9.104.5.

मन वाले बनो, जैसे मित्र, मित्र के लिए होता है ।[1] भारतीय मनीषियों ने विचारपूर्वक मित्र के लिए "सुहृद्" शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द से "अच्छा मन" और "हृदय" दोनों ही अर्थ सङ्गत होते हैं । उक्त सभी गुणों को एकत्र करने पर मित्र का आदर्श स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है ।

ऋग्वेद में केवल मित्र बनाने पर ही बल नहीं दिया गया है, बल्कि पूर्व मित्रों से सदैव सम्बन्ध बनाए रखने की भावना के भी दर्शन होते हैं । एक मन्त्र में मित्र का परित्याग करने वाले व्यक्ति की कटु आलोचना की गई है ।[2] अच्छा मित्र समय पड़ने पर अपने मित्र की सहायता करता है । इसके विपरीत आचरण करने वाले मित्र की निन्दा करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है – जो मनुष्य सदा साथ रहने वाले तथा सहायतार्थ आए हुए मित्र को अन्नादि नहीं देता है वह सखा कहलाने का अधिकारी नहीं है । ऐसे मित्र को छोड़ देना चाहिए ।[3] उक्त सभी मन्त्रों में मैत्री को अत्यावश्यक बताते हुए आदर्श मित्र की विशेषताओं को निरूपित किया गया है, साथ ही मित्र बने हुए विरुद्ध आचरणकरने वाले व्यक्ति से दूर रहने की बात भी कही गई है ।

विश्व बन्धुत्व तथा मानवमात्र के कल्याण की कामना वैदिक साहित्य की अनुपम देन है । वैदिक साहित्य में पाश्चात्त्य देशों की सङ्कीर्णता एवं एकाङ्गिकता नहीं है । इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय मनीषा कभी–भी देश–काल की सीमाओं में सङ्कुचित होकर नहीं विचार करती है । यह सदैव उदात्तता का आश्रय ग्रहण करती रही है । प्राकृतिक उपादानों में भी इसने सङ्कीर्णता नहीं देखी । सूर्य, पेड़–पौधें, नदियाँ, पर्वत इत्यादि सबको समान रूप से लाभ प्रदान करते हैं । ऋषियों ने इन सभी तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण किया तथा इनसे सबके कल्याण की प्रेरणा ग्रहण की । एक मन्त्र में आया है कि नदियाँ अग्नि से अनुग्रहात्मिका बुद्धि (कल्याण-कारिणी बुद्धि) की याचना करती हुई पर्वत के पास से दूरदेश को प्रवाहित होती हैं ।[4] इसी प्रकार देवताओं द्वारा भी कल्याणबुद्धि की याचना करने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] ऋषियों ने स्वयं भी अग्नि से "प्रमति"

---

1. ऋग्वेद 3.18.1.
2. यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
   यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।। ऋग्वेद 10.71.6.
3. न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः । ऋग्वेद 10.117.4.
4. परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् । ऋग्वेद 1.73.6.
5. वही, 1.73.7.

तथा "सुमति" की याचना की है । सायण ने "प्रमति" का अर्थ "परहितकरणसमर्थ बुद्धि" तथा "सुमति" का अर्थ "शोभन बुद्धि" किया है ।[1] मन्त्र में आए "विश्वजन्याम्" पद से यह ज्ञात होता है कि ऋषि सभी का कल्याण चाहते थे । ऋग्वेद में ही एक व्यक्ति द्वारा दूसरे की रक्षा करने की बात कही गई है ।[2]

ऋग्वेद में न केवल मानवमात्र अपितु प्राणिमात्र की रक्षा एवं कल्याण की कामना की गई है। एक मन्त्र में द्विपाद् एवं चतुष्पाद् प्राणियों के हित की कामना की गई है ।[3] अन्य मन्त्र में भी द्विपाद् तथा चतुष्पाद् के कल्याण के अतिरिक्त नैरुज्य की भी कामना की गई है ।[4] कुछ अन्य मन्त्रों में भी अदिति[5] तथा सोम[6] से पशुओं की दिन–रात रक्षा करने की प्रार्थनाएँ की गई हैं । एक अन्य मन्त्र में भी देवताओं से द्विपाद् तथा चतुष्पाद् सभी प्राणियों के लिए सुख प्रदान करने की याचना की गई है ।[7]

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की स्तुतियों में समष्टि की भावना सर्वत्र विद्यमान है । ऋषिगण व्यष्टि के कल्याणार्थ देवताओं से अनुनय नहीं करते, अपितु वे समष्टि के लिए, प्राणिमात्र के लिए शुभ चाहते हैं । उनकी प्रार्थनाएँ व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व के सुख तथा समृद्धि और कल्याण की भावना से अनुप्राणित हैं । उनका आदर्श "बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय" न होकर "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्" है ।

---

1. तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम् ।
   ऋग्वेद 3.57.6, द्रष्टव्य – सायण-भाष्य.
2. पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः । ऋग्वेद 6.75.14.
3. शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे । ऋग्वेद 7.54.1.
4. ऋग्वेद 1.114.1.
5. ऋग्वेद 8.18.6.
6. ऋग्वेद 10.25.6.
7. अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे । ऋग्वेद 10.37.11.

इस अध्याय में किये गए विवेचन से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि यद्यपि ऋग्वेद शुद्ध दर्शन का ग्रन्थ नहीं है, तथापि परवर्ती दर्शन–परम्परा में आने वाले प्रायः सभी तत्त्व बीजरूप में उसमें विद्यमान हैं । उन्हीं बीजों का पल्लवन आगे चलकर शास्त्रज्ञों ने किया है । इस प्रकार गवेषणा करने पर हमें ऋग्वेद में आधुनिक दर्शन का परिनिष्ठित रूप भी दिखाई देता है ।

अध्याय – 4

"अस्यवामीय सूक्त" (ऋग्वेद 1.164) एवं उसका तात्विक विमर्श

(क) सूक्त का परिचय

(ख) सूक्त की दार्शनिकता

(ग) सूक्तस्य मन्त्रों की परस्पर सङ्गति

(घ) सूक्त में विद्यमान विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा

(1) प्रथम मन्त्रगत भ्रातृत्रय–निरूपण
(2) रथ–निरूपण
(3) प्रथम कारण की जिज्ञासा
(4) कवियों द्वारा देव-स्थान–निरूपण
(5) अजतत्त्व
(6) माता, पिता और सृष्टि
(7) तत्त्वज्ञ–निरुपण
(8) "गो" तथा "वत्स" की अवधारणा
(9) सुपर्णतत्त्व
(10) काव्यतत्त्व
(11) जीवतत्त्व
(12) यज्ञ की अवधारणा
(13) वाणी का स्वरूप

(क) सूक्त का परिचय :-

ऋग्वेद का "अस्यवामीय सूक्त" अपने आकार, विषयवस्तु तथा गम्भीर रहस्यात्मकता के लिए विश्रुत है । "अस्य वामस्य", इन पदों से प्रारम्भ होने के कारण इसे "अस्यवामीय" कहते हैं । पूरे सूक्त में बावन ऋचाएँ हैं ।[1] इसके ऋषि, उचथ्य के पुत्र दीर्घतमा हैं । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की सूक्त संख्या 140 से लेकर 164 तक के (कुल पच्चीस) सूक्त दीर्घतमा ऋषि के हैं । प्रकृत सूक्त प्रथम मण्डल का एक सौ चौसठवां तथा दीर्घतमा ऋषि का अन्तिम सूक्त है । यद्यपि ऋग्वेद का प्रथम मण्डल अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है[2], तथापि डॉ.कुन्हन राजा ने प्रबल तर्कों एवं अनेक साक्ष्यों के आधार पर समग्र प्रथम मण्डल को, किञ्च प्रकृत सूक्त को प्राचीनतर सिद्ध किया है ।[3]

दीर्घतमा ऋषि के जन्म के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है, जो इस सूक्त के आत्मानन्द-विरचित भाष्य के अन्त में, सायण-भाष्य (ऋ.1.125.1 तथा 158.4) में, कात्यायन की सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता (4.11) में भी पाई जाती है। आत्मानन्द ने कथा को वृद्ध शौनक के नाम से उद्धृत किया है।[4]

---

1. सूक्त के मन्त्रों सहित उनका हिन्दी-भाषानुवाद परिशिष्ट "क" में दिया गया है.
2. उपाध्याय, बलदेव - वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृष्ठ 125.
3. राजा, सी.कुन्हन - अस्य वामस्य हिम, भूमिका पृष्ठ 17 से 21 तक तथा 25.
4. उचथ्यदीर्घतमसौ जप्येते स्वाघनुत्तये ।
   तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी दिव्यधीर्दुःसहो मुनिः ।।
   अङ्गिरा ब्राह्मणस्तस्मादुचथ्यो ममतापतिः ।
   तस्मादधीतवेदादीननुज्ञातो बृहस्पतिः ।।
   रिरंसुर्ममतां तां नो लेभे गुरुसुरक्षिताम् ।
   उचथ्यः कारयन् यज्ञं जगाम प्रियवर्मणः ।।
   लब्धावकाशस्तां रन्त्युमारेभेऽथ बृहस्पतिः ।
   हृत्कोणोदरसंस्थोऽपि मुनीशः क्षितिमाप सः ।।
   रेतो यतोऽत्र सङ्कीर्णं निन्दितो गुरुरब्रवीत् ।
   जात्यन्धो भव दुष्ट त्वमित्युक्त्वा तपसे गतः ।।
   पिता ददौ वरं तस्मै ज्ञानचक्षुः शुचिर्भव ।
   अथोपनीतमात्रोऽर्थं चक्रे दीर्घतमा दिवा ।।
   स्त्रीगन्धघायको यक्ष्मदायकोऽनिष्ट योषिति ।
   एवमादि दिवा जातं रात्रौ हरति सूक्ततः ।।
   उद्विग्नैर्मुनिभिः सोऽथ मञ्जूषायां प्रवेशितः ।
   मञ्जूषायां विपाशायां क्षिप्त्वा नद्यां प्रवाहितः ।।
   प्रतिक्षिप्तास्ततोऽङ्गेन गृहीता स्यान्नृपेण सा ।
   तं दीर्घतमसं ज्ञात्वा दत्ता भार्याऽथ च स्वयम् ।।
   अजीजनत् सुतानस्य दास्यामुशिजि चात्मने ।
   पुत्रमुत्पाद्य कक्षीवत्संज्ञं गोधर्ममाचरत् ।। ऋ.1.164, आत्मानन्दभाष्य का अन्तिम अंश.

कथा के अनुसार उचथ्य के गर्भस्थ पुत्र को बृहस्पति ने जन्मान्ध होने का शाप दिया था । इसी से ऋषि के "दीर्घतमाः" नाम की चरितार्थता सिद्ध होती है । नाम का शाब्दिक अर्थ – दीर्घं तमो यस्य सः, अर्थात् "गहन अन्धकार वाला" किया जा सकता है । ऋषि के नाम अथवा उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में चाहे जो भी मतमतान्तर प्रचलित हों, उनके सूक्तों की उत्कृष्टता प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होती है ।

सूक्त के प्रथम मन्त्र से लेकर इकतालीसवें मन्त्र तक के देवता, "विश्वेदेवाः" हैं । पूरे ऋग्वेद के अध्ययन के आधार पर मन्त्रों के वैश्वदेवत्व के तीन आधार प्रतीत होते हैं । प्रथम – जब मन्त्र में देवताओं के सङ्घीय वर्ग को सम्बोधित किया गया हो, द्वितीय – जब अलग–अलग देवताओं को साथ में आहूत किया गया हो और तृतीय – जब देवताओं का स्वरूप स्पष्ट न हो । प्रस्तुत सूक्त के प्रारम्भिक इकतालीस मन्त्रों के देवताओं का स्वरूप स्पष्ट नहीं है अतः "विश्वेदेवाः" को इनके देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । बयालीसवें मन्त्र के प्रथम अर्धर्च की "वाक्" एवं द्वितीय की "आपः" देवता हैं । इसी प्रकार तैंतालीसवें मन्त्र के भी प्रथम अर्धर्च के देवता "शकधूम" तथा द्वितीय के "सोम" हैं । चौवालीसवें के अग्नि, सूर्य और वायु, पैंतालीसवें की वाक्, छियालीसवें तथा सैंतालीसवें के सूर्य, अड़तालीसवें के संवत्सरात्मा काल, उनचासवें की सरस्वती, पचासवें के साध्य, इक्यावनवें के सूर्य, पर्जन्य या अग्नि तथा बावनवें के देवता सरस्वान् या सूर्य हैं । छन्द की दृष्टि से बारहवाँ, पन्द्रहवां, तेईसवां, उन्तीसवां, छत्तीसवां और इकतालीसवां – ये छः मन्त्र जगती में, बयालीसवां प्रस्तारपङ्क्ति में, इक्यावनवाँ अनुष्टुप् में तथा शेष सभी मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध हैं।

प्रस्तुत सूक्त धार्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । सायण ने अपने भाष्य में शौनक द्वारा इसके विनियोग को उपस्थित करते हुए कहा है कि यदि कोई ब्राह्मण मोहवश चोरी भी कर ले, तो तीन रात्रि पर्यन्त उपवास करने के उपरान्त पवित्र होकर इस सूक्त का जप करने से शीघ्र ही वह पापमुक्त हो जाता है ।[1] आत्मानन्द ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण को उद्धृत करते हुए बताया है कि पुष्कर नामक यक्ष ने दशरथ पुत्र श्रीराम को सभी धर्मों का उपदेश दिया । उन्होंने ऋग्विधान, यजुर्विधान,

---

1. स्तेयं कृत्वा द्विजो मोहात् त्रिरात्रोपोषितः शुचिः ।
   सूक्तं जप्त्वास्यवामीयं क्षिप्रं मुच्येत किल्विषात् ।।
   ऋग्वेद 1.164 पर सायण-भाष्य की भूमिका.

सामविधान तथा अथर्वविधान को भी बताया । कुछ सूक्तों का सङ्घात और कल्प भी बताया । उन सबमें अस्यवामीय कल्प को महान् प्रतिपादित किया ।[1] आत्मानन्द ने वृद्ध पराशर के मुख से भी सूक्त की महत्ता प्रतिपादित करते हुए बताया है कि अस्यवामीय सूक्त का जप करने से महान् पाप नष्ट हो जाता है । यही नहीं, ब्रह्महत्यारे को भी पवित्र होने के लिए अस्यवामीय सूक्त का जप करना चाहिए । यदि इस सूक्त के अर्थ पर विचार किया जाय, तो निःसन्देह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है।[2] इस प्रकार अस्यवामीय सूक्त का सर्वविध महत्त्व प्रकट होता है ।

(ख) सूक्त की दार्शनिकता :-

ऋग्वेद का अस्यवामीय सूक्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यही कारण है कि आत्मानन्द ने इसकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है । उनके अनुसार स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, भास्कर आदि विद्वानों ने शौनक, वेदमित्र, बृहद्देवताकार, अनुक्रमणिकाकार तथा विष्णुधर्मोत्तर के मन्तव्यों पर ध्यान न देते हुए सूक्त की व्याख्या की है । उन्होंने स्कन्द इत्यादि की व्याख्या को आधियाज्ञिक तथा निरुक्तानुसारी व्याख्या को आधिदैविक मानते हुए आध्यात्मिक विषय वाली शौनक इत्यादि की पद्धति का आश्रय ग्रहण करते हुए सूक्त की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है ।[3] यहाँ

---

1. अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरे यत्र पुष्करनामा यक्षः श्रीरामं प्रति सर्वधर्मानुक्तवान् । तत्र च ऋग्विधानं यजुर्विधानं सामविधानमथर्वविधानं च उक्तवान् पुष्करः । तत्र च कतिपयानां सूक्तानां संघातः कल्पश्चोक्तः । तत्रापि अस्यवामीय-कल्पो महान् अध्यात्मविषयत्वात् ।
   ऋग्वेद 1.164 के अन्त में आत्मानन्द-भाष्य का अंश.
2. हविष्यान्तं पौरुषं च न तमाह इतीति च ।
   अस्यवामीयकं जप्त्वा महदेनो व्यपोहति ।
   अस्यवामीयसूक्तं च ब्रह्महा शुचये जपेत् ।
   विचारयेत्तदर्थं चेज्जीवन्मुक्तो न संशयः ।। वही.
3. यद्यपीह स्कन्दभाष्यादिषु उद्गीथभास्करादिभिश्च शौनकं च वेदमित्रं च बृहद्देवताकारं च अनुक्रमणिकाकारं च विष्णुधर्मोत्तरं चानादृत्य सूक्तव्याख्या कृता तथापि वयमत्र स्कन्दादिव्याख्या अधियज्ञविषया एव क्वचित्तु निरुक्तानुसारादधिदैवतविषया एवेति निश्चित्य क्वचिदध्यात्मविषयां शौनकरीतिमाश्रित्य अध्यात्मं व्याख्यास्यामः ।
   वही, आत्मानन्दभाष्य का प्रारम्भिक अंश.

तक कि उन्होंने "आत्मा" या परमात्मा को इस सूक्त का देवता माना है ।[1] अनुक्रमणिका में सूक्त को "अल्पस्तव" कहा गया है ।[2] सामान्यतः ऋग्वेद के मन्त्रों में स्तुति का ही बाहुल्य पाया जाता है । इसीलिए सायण ने सूक्त के अल्पस्तवत्व का उपपादन करते हुए कहा है कि इस सूक्त में स्तुत्यों का आधिक्य तथा स्तुतिभाग की न्यूनता होने से यह सूक्त "अल्पस्तव" है ।[3] आत्मानन्द ने दार्शनिक अर्थ लेते हुए कहा है कि अल्प अर्थात् सूक्ष्म ब्रह्म का प्रतिपादन होने से यह सूक्त अल्पस्तव है ।[4]

सर्वानुक्रमणी में कहा गया है कि प्रायः इस सूक्त में संशय उपस्थित किया गया है, इसके अनन्तर प्रश्न किया गया है तथा उत्तर भी प्रस्तुत किया गया है ।[5] दार्शनिक दृष्टि से इन तीनों तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । हम देखते हैं कि ऋषि ने सूक्त के छठे मन्त्र में ही संशय उपस्थापित किया है । इसी प्रकार चौथे, पाँचवे तथा चौंतीसवें इत्यादि मन्त्रों में प्रश्न किया गया है और पैंतीसवें मन्त्र में तथा अन्यत्र भी समाधान प्रस्तुत किया गया है ।

सर्वानुक्रमणी के अनुसार ही प्रस्तुत सूक्त में ज्ञान, मोक्ष और अक्षर की प्रशंसा की गई है ।[6] सायण ने बत्तीसवें मन्त्र को ज्ञानप्रशंसापरक, इकत्तीसवें को मोक्षप्रशंसात्मक तथा बीसवें मन्त्र को अक्षरब्रह्म की प्रशंसा का आधायक बताया है ।[7] आत्मानन्द ने ज्ञान के साधन को "ज्ञान", "मोक्ष" को परमात्मरूप तथा "अक्षर" को जीवात्मस्वरूप मानते हुए "प्रशंसा" का तात्पर्य प्रतिपादन से लिया है । उन्होंने एक वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए ज्ञान से मोक्ष तथा अक्षरत्वप्रतिपादन निष्पन्न किया है और अक्षर को ब्रह्म, जीव तथा अविद्या तीनों का अभिधायक माना है । उनके अनुसार जो व्याप्त हो,

---

1. अस्यवामस्य – इति द्विपञ्चाशन्मन्त्रात्मकमिदं सूक्तं दैर्घतमसं आत्मदैवतम् ।.... एवं च देवता परमात्मैव सूक्तस्येत्युक्तं भवती । ऋग्वेद 1.164. आत्मानन्दभाष्य का प्रारम्भिक अंश.
2. अस्य द्विपञ्चाशदल्पस्तवं त्वेतत् । कात्यायन – सर्वानुक्रमणी, ऋग्वेद 1.164.
3. अत्र स्तुत्यबहुत्वेन स्तुतिभागस्याल्पीयस्त्वादिदं सूक्तमल्पस्तवम् । न सूक्तान्तरवद् बहुस्तवम् इदमेव वैलक्षण्यं तुशब्देन द्योत्यते । ऋग्वेद 1.164, सायण-भाष्य की भूमिका.
4. अल्पस्य सूक्ष्मस्य ब्रह्मणः प्रतिपादनादत्र इत्यर्थः । वही, आत्मानन्दभाष्य-भूमिका.
5. संशयोत्थापनप्रश्नप्रतिवाक्यान्यत्र प्रायेण । वही, सर्वानुक्रमणी.
6. ज्ञानमोक्षाक्षरप्रशंसा च । वही.
7. य ईं चकार 7 इत्यादिना ज्ञानप्रशंसा प्रतिपाद्यते । अपश्यं गोपाम् – इत्यादिना ब्रह्मसाक्षात्कार–रूपस्य प्रशंसा । न क्षरतीत्यक्षरं ब्रह्म । द्वा सुपर्णा – इत्यादिना तस्य प्रशंसा । वही, सायण-भाष्य की भूमिका.

वह अक्षर, ब्रह्म है, जो भोग करे, वह जीवात्मा है तथा जो ज्ञान के बिना नष्ट न हो, वह अविद्या है ।[1] इस प्रकार सूक्त का विनियोग ही इसकी दार्शनिकता का प्रतिपादन करता है ।

वस्तुतः ऋषि दीर्घतमा का यह सूक्त दार्शनिकता से ओतप्रोत है । उन्होंने प्रथम मण्डल में कुल 25 सूक्तों के दर्शन किए हैं ।[2] इस शृङ्खला में "अस्यवामीय सूक्त" अन्तिम है । ऐसा प्रतीत होता है कि जो विचार गत चौबीस सूक्तों में प्रकट नहीं हो पाए, वे इसमें दर्शन की चरम परिणति के रूप में उपस्थित हो गए । यही कारण है कि सूक्त के अधिकांश मन्त्रों को समझ पाना नितान्त दुष्कर कार्य है । सम्भवतः इसीलिए कुन्हन राजा ने पूरे सूक्त को 'विश्व की पहेली" की संज्ञा दी है ।[3] इस सूक्त के अध्ययन से हमें वैदिक संस्कृति के मात्र बाह्य पक्ष का ही पता नहीं चलता है, बल्कि इससे उसका आन्तरिक पक्ष – किंवा वैदिक सांस्कृतिक जीवन का सारतत्त्व ज्ञात हो जाता है । इससे एक बात और यह ज्ञात होती है कि तत्कालीन समाज, सृष्टि की उत्पत्ति-सम्बन्धी विभिन्न गुत्थियों से पूर्णतः अभिज्ञ था । यदि ऐसा नहीं होता, तो ऋषि ने इस प्रकार की प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग नहीं किया होता, जिसे आज भी समझना दुष्कर है । यह सूक्त किसी दार्शनिक पद्धति के विकास की उपज न होकर तत्कालीन समाज में प्रसूत मौलिक चिन्तन का प्रस्तुतीकरण है । प्रस्तुत सूक्त में हमें न तो मात्र दर्शन के कुछ पूर्वाभास या पूर्वानुमान दृष्टिगत होते हैं और न अज्ञानान्धकार में दार्शनिक चिन्तन के कुछ विकीर्ण बिन्दु ही, बल्कि इसमें हमें वैदिक काल के शुद्ध दर्शन के अल्पावशेष प्राप्त होते हैं, जो किसी भी दृष्टि से पूर्ण, गम्भीर, स्पष्ट और सुनिश्चित हैं । ऋषि

---

1. ज्ञायते येन तज्ज्ञानं ज्ञानसाधनम् । मोक्षो निरवद्यं परमात्मरूपम् । अक्षरस्य जीवात्मस्वरूप–स्याक्षरमित्याख्या । तेषां प्रशंसा प्रतिपादनम् । यद्वा ज्ञानेन मोक्षः अक्षरत्व–प्रतिपादनम् । अक्षरशब्देन ब्रह्मणो जीवस्याविद्यायाश्चाभिधानमुक्तम् । अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरं ब्रह्म । अश्नातीति जीवात्मा । न क्षरतीत्यविद्या ज्ञानादृते न क्षरति यतः ।
   वही, आत्मानन्दभाष्य की भूमिका.
2. ऋग्वेद 1.140 से 1.164 तक.
3. "The Riddle of the Universe."
   राजा, सी. कुन्हन – "अस्यवामस्य हिम" नामक पुस्तक का वैकल्पिक नाम.

दीर्घतमा ने अनेक विषयों के अतिरिक्त इस सूक्त में जगत् तथा इसकी उत्पत्ति, वाक् का स्वरूप तथा इसके रहस्य, आत्मा–परमात्मा सदृश विषयों को भलीभाँति निरूपित किया है । ये सभी विषय दर्शन की मौलिक समस्याएँ हैं । ऋग्वेद के इसी सूक्त में हमें वैदिक दर्शन का वह मूल प्राप्त होता है, जिसके अनुसार तीन तत्त्व स्वीकार किये गए हैं – जीव, परमात्मा और जगत् । ऋषि ने दो पक्षियों के रूपक द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया है । दोनों पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं । उनमें से एक अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करके उसका भक्षण करता है । ज्ञातव्य है कि वह अपने कर्मों के फल को स्वादिष्ट मानते हुए ग्रहण करता है । तात्पर्य यह है कि वह संसार में इतना लिप्त हो गया है कि उसे अपने बद्ध होने तक का ज्ञान नहीं है । वहीं दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फल का भक्षण न करते हुए मात्र निरीक्षण करता है । मन्त्र में आए "वृक्ष" पद द्वारा ऋषि ने "जगत्" की ओर सङ्केत किया है ।[1] आगे चलकर इसी मन्त्र के आधार पर उपनिषत्साहित्य में पुष्कल विचार–मन्थन किया गया है । यह मन्त्र अपने मूल रूप में ही अथर्ववेद तथा दो उपनिषदों में गृहीत है ।[2]

सूक्त के चौंतीसवें मन्त्र में ऋषि ने पृथ्वी की पराकाष्ठा, समस्त भूतों की नाभि, आदित्य का कारण तथा वाणी का परम स्थान जानने की इच्छा व्यक्त की है । इसके उत्तरस्वरूप पैंतीसवें मन्त्र में वेदी को पृथ्वी का परमस्थान, यज्ञ को भूतों की नाभि, सोम को आदित्य का रसात्मक कारण तथा ब्रह्मा को वाणी का उत्कृष्ट स्थान बताया है । सूक्त के तीसवें तथा अड़तीसवें मन्त्रों में जीव की स्थिति स्पष्ट की गई है । इन मन्त्रों में यह बताया गया है कि शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जीवात्मा अपनी स्वधा अर्थात् धर्माधर्मसंस्कारों के द्वारा विचरण करता है । इनमें यह भी बताया गया है कि अमरणधर्मा जीवात्मा का सम्बन्ध लोक में मरणधर्मा शरीर से है । इससे आत्मा की अमरता का प्रतिपादन होता है, साथ ही यह भी पता चलता है कि वैदिक ऋषि की दृष्टि में जीव अपने कर्मों के द्वारा ही उन्नत या निम्न स्थान प्राप्त करता है । उन्तालीसवें मन्त्र में जीवात्मा के पारमार्थिक स्वरूप

---

1. ऋग्वेद 1.164.20.
2. (क) अथर्ववेद – 9.9.20.
   (ख) मुण्डकोपनिषद् 3.1.1.
   (ग) श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.6.

को बताते हुए उसे न जानने वाले के लिए वेदज्ञान की निःसारता प्रतिपादित की गई है । इस मन्त्र द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि वेदों का प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान ही है । सूक्त के इकतालीसवें मन्त्र में प्रतिपादित "गौरी वाक्" का स्वरूप ऋषि की परिपक्व दार्शनिक वृत्ति का परिचायक है । तैंतालीसवें मन्त्र द्वारा स्पष्ट रूप से अनुमान प्रमाण का निर्देश प्राप्त होता है । इसमें धूम के दर्शन द्वारा अग्नि के अनुमान की चर्चा की गई है ।

सूक्त का पैंतालीसवाँ मन्त्र वाणी के तात्त्विक स्वरूप को उद्घाटित करता है । व्याकरण-दर्शन के अनुसार वाणी के चार रूप प्रतिपादित किए गए हैं – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[1] "परा" वाणी का स्थान मूलाधार है । वहाँ से यह प्रकट होकर हृदय में पहुँचती है । हृदयस्थल पर पहुँचने के पश्चात् उसका नाम "पश्यन्ती" हो जाता है । वह वाणी हृदय से बुद्धि में प्रवेश करने के पश्चात् "मध्यमा" कही जाती है । बुद्धि से निकलकर वाणी कण्ठ और मुख में प्रकट होती है । इसे ही "वैखरी" कहते हैं । इन चारों प्रकार की वाणियों में परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा, गुहा अर्थात् गुप्त स्थानों पर छिपी हुई हैं, अतः इन्हें मनीषी योगिजन ही जान सकते हैं । चौथी कण्ठस्थानीया वैखरी वाणी को सभी मनुष्य जानते तथा बोलते हैं । प्रस्तुत मन्त्र भी परवर्ती उपनिषत्साहित्य में विवेचित है तथा अपनी दार्शनिकता का प्रमाण प्रस्तुत करता है ।[2]

प्रस्तुत सूक्त की दार्शनिकता का चरम निदर्शन हमें उस मन्त्र में प्राप्त होता है, जिसमें ऋग्वेद की बहुदेववादी प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान किया गया है । वस्तुतः उसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि देवता संख्या में चाहे जितने भी क्यों न हों, उनका देवत्व या उनमें विद्यमान आन्तरिक शक्ति एक ही है । इस मन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मूल तत्त्व को नपुंसकलिङ्ग में अभिव्यक्त किया गया है । मन्त्र का तीसरा चरण इतना प्रसिद्ध है कि प्रायः उच्च शिक्षा प्राप्त और अवेदज्ञ लोगों के मुख द्वारा भी श्रुतिगोचर होता है ।[3] निश्चित रूप से यह मन्त्र अद्वैतवेदान्त का जनक है । इसी प्रकार यदि गहन अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होता है किसूक्त के प्रत्येक मन्त्र में

---

1. द्रष्टव्य – वाक्यपदीय – 1.144 तथा परमलघुमञ्जूषा – पृष्ठ 23.
2. जैमिनीयोपनिषद् – 1.7.4 तथा 1.40.1.
3. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । ऋग्वेद 1.164.46.

दार्शनिकता भरी हुई है । इसके अतिरिक्त ऋषि ने अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका अर्थ जानना नितान्त दुष्कर है । उन प्रतीकात्मक शब्दों का कथ्य विषय ज्ञात होने पर सम्भव है, उस समय प्रचलित किन्हीं और दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा मान्यताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त हो सके ।

(ग) सूक्तस्थ मन्त्रों की परस्पर सङ्गति :-

सामान्यतः ऋग्वेद के सूक्तों में स्तुतियों की बहुलता पाई जाती है । प्रकृत सूक्त इस दृष्टि से भिन्न है । इसमें स्तुतिभाग स्वल्प है । इसके अतिरिक्त इस सूक्त में बावन मन्त्र उपनिबद्ध हैं । यदि ये स्तुतिपरक होते तो इनकी परस्पर सङ्गति बैठाने में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता, किन्तु ऐसा न होने से इनके प्रतिपाद्य के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है । स्थूल रूप से देखने पर सभी मन्त्र असम्पृक्त या छिट-फुट विकीर्ण प्रतीत होते हैं, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो इनमें परस्पर तारतम्य, सामञ्जस्य और ऐक्य प्रतिपादित किया जा सकता है । देवताओं की दृष्टि से प्रथम इकतालीस ऋचाएँ "विश्वेदेवाः" से सम्बद्ध हैं तथा शेष ग्यारह ऋचाओं का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न देवताओं से है । ऐसा होने पर भी हमें प्रस्तुत सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्र से लेकर अन्तिम मन्त्र तक वैचारिक तारतम्य दृष्टिगत होता है । ऋषि ने सूक्त में उन तथ्यों और तत्त्वों का सम्यक् प्रतिपादन किया है, जो जनसाधारण के लिए सरलता पूर्वक बोधगम्य नहीं है । यद्यपि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋषि के काल में सूक्त में वर्णित तत्त्व सभी लोगों के लिए सरलता पूर्वक ग्राह्य रहे होंगे, तभी उन्होंने ऐसी भाषा और शब्दावली का प्रयोग किया है । वर्तमान समय में तत्कालीन प्रतीकों तथा पृष्ठभूमि के नष्ट हो जाने पर सूक्त के सम्पूर्ण स्वरूप तथा प्रतिपाद्य का निरूपण कर पाना सम्भव नहीं प्रतीत होता । सूक्त में अनेक ऐसे शब्द तथा अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, जिन्हें आज समझ पाना नितान्त दुष्कर है । इस दृष्टि से ऋषि द्वारा बार-बार प्रयोग में लाई गई "तीन" तथा "सात" संख्याओं को लिया जा सकता है ।[1] इसी प्रकार "गो" तथा "वत्स" के स्वरूप को भी समझ पाना कठिन है, जिन्हें ऋषि ने अनेक स्थलों पर प्रयुक्त किया है ।[2] इनके अतिरिक्त सूक्त में "पिता" तथा "माता" का उल्लेख भी अनेक बार किया गया है, जिनका स्वरूप समझ पाना दुष्कर है ।[3] यही

---

1. द्रष्टव्य - ऋग्वेद 1.164.1, 2, 3, 5, 9, 11, 12, 24, 36, 44 तथा 48.
2. द्रष्टव्य - वही, 3, 7, 9, 17, 26, 27, 28, 29 तथा 40.
3. द्रष्टव्य - वही, 8, 9, 10 तथा 33.

नहीं, सूक्त को समझने में हमारे सम्मुख अन्य भी कठिनाइयाँ आती हैं । इन सभी कठिनाइयों के बाद भी सूक्त में ही स्थित साक्ष्यों या सड्.केतों के आधार पर उक्त सभी स्थलों के प्रतिपाद्य को समझने का प्रयास किया जा सकता है ।

ऋषि ने सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्र में तीन भाइयों वाले पालक होता की चर्चा की है । अन्तिम मन्त्र में "दिव्य सुपर्ण" की चर्चा की गई है, जो जल प्रदान करके सबको हर्षित करता है । सूक्ष्मता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि सूक्त के प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र में उद्दिष्ट देवता एक ही है । ऋषि ने उसी देवता की पृष्ठभूमि में सम्पूर्ण सूक्त को उपनिबद्ध किया है । प्रथम मन्त्र के प्रारम्भिक दो पद (अस्य वामस्य) सातवें मन्त्र में उपलब्ध होते हैं, जिसमें पक्षी के "पद" को "निहित" बताया गया है । इस प्रकार प्रथम, सप्तम तथा द्विपञ्चाशत्तम मन्त्र एक ही विचार-शृड्.खला की रचना करते हैं । जिस प्रकार सातवें मन्त्र में पक्षी के "पद" को "निहित" बताया गया है, उसी प्रकार अन्य स्थलों पर विभिन्न तत्त्वों को भी "निहित" कहा गया है । कई मन्त्रों में "रथ" की उपमा दी गई है । तृतीय मन्त्र में "गो" के "सात" नामों को रथ में "निहित" बताया गया है । पञ्चम मन्त्र देवताओं के "पद" को "निहित" घोषित करता है, जबकि उन्तालीसवें मन्त्र में देवताओं को ऋचाओं के सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित बताया गया है । यहाँ तक कि उस पद या स्थान को न जानने वाले के लिए ऋचाओं का वैयर्थ्य प्रतिपादित किया गया है । इससे यह ध्वनित होता है कि देवताओं का "पद" या स्थान सर्वसाधारण के लिए सुविज्ञात न होकर "निहित" ही है । आगे चलकर पैंतालीसवें मन्त्र में वाणी के तीन स्वरूपों को भी गुफा में "निहित" बताया गया है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऋषि दीर्घतमा परमतत्त्व को सर्वसुलभ नहीं मानते हैं ।

पूरे सूक्त में "रथ" की कल्पना ऋषि को अभीष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि प्रथम मन्त्र में "होता" की अवतरणिका के पश्चात् वह द्वितीय मन्त्र में ही इसे निविष्ट करता है । रथ में मात्र एक चक्र है । इससे सात घोड़े जोड़े गए हैं, जबकि सात नामों वाला एक ही अश्व उसे वहन करता है । सात अश्वों को सूर्य की सात किरणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त अश्व के सात नामों को तृतीय मन्त्र में निर्दिष्ट "गो" के सात नामों से पृथक् नहीं किया जा सकता है । द्वितीय मन्त्र में आए सात अश्वों की "योजना" तृतीय मन्त्र के प्रारम्भ में भी उपलब्ध है । इन दोनों मन्त्रों (द्वितीय तथा तृतीय) में एक पार्थक्य यह है कि जहाँ द्वितीय मन्त्र में "रथ" को एक ही चक्र

वाला बताया गया है, वहीं तीसरे मन्त्र में उसे सात चक्रों वाला कहा गया है । सूक्त की ग्यारहवीं ऋचा में चक्र को बारह तीलियों वाला प्रतिपादित करते हुए उसे द्युलोक तक चक्कर काटने वाला कहा गया है । इसके अतिरिक्त उसी मन्त्र में सात सौ बीस युग्म पुत्रों की भी चर्चा आई है । ऐसा प्रतीत होता है कि बारह तीलियों का तात्पर्य संवत्सर के बारह महीनों तथा सात सौ बीस युग्म पुत्रों का सम्बन्ध एक वर्ष में आने वाले तीन सौ साठ दिनों के साथ उतनी ही रात्रियों के योग से है । सूक्त के तेरहवें मन्त्र में चक्र को पाँच तीलियों वाला बताते हुए उसमें सम्पूर्ण भुवनों को स्थित कहा गया है । सम्भव है – ऋषि का पाँच तीलियों से तात्पर्य, शरद् तथा हेमन्त को एक ऋतु मानते हुए शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा का योग करके पाँच ऋतुओं से हो । इसके विपरीत बारहवें मन्त्र में चक्र को छः अरों वाला माना गया है । ये छः तीलियाँ तो स्पष्टतः छः ऋतुएँ ही प्रतीत होती हैं । तेरहवें मन्त्र के समान ही चौदहवें मन्त्र में भी सम्पूर्ण लोकों को "चक्र" में स्थित बताया गया है । इन सभी स्थलों पर "चक्र" का तात्पर्य संवत्सर ही प्रतीत होता है । इनमें एक यही वैषम्य दृष्टिगत होता है कि द्वितीय मन्त्र में "रथ" को एक चक्रवाला, तीसरे में सात चक्रों वाला, ग्यारहवें में पुनः एक चक्रवाला, बारहवें में सात चक्रोवाला, तेरहवें में एक चक्रवाला तथा चौदहवें में पुनश्च एक चक्रवाला कहा गया है । इस सम्बन्ध में ऋषि की वास्तविक दृष्टि ज्ञात नहीं हो पाती है, तथापि विषय का तारतम्य प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होता है ।

सूक्त के द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र में "रथ" की चर्चा आरम्भ करने के अनन्तर ऋषि दार्शनिकता की ओर उन्मुख होते हुए चतुर्थ मन्त्र में उस व्यक्ति के बारे में जिज्ञासा करता है, जिसने अस्थियुक्त को धारण करने वाले अस्थिरहित तत्त्व को उत्पन्न होते हुए देखा हो । इस मन्त्र द्वारा माता तथा सन्तान के स्वरूप का निर्देश निकाला जा सकता है । अस्थिरहित तत्त्व जगत् के मूल कारण के रूप में प्रतिष्ठित है । स्त्रीलिङ्ग (अनस्था) में होने के कारण उसे मातृतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है । अस्थियुक्त तत्त्व को "संसार" माना जा सकता है तथा पुंलिङ्ग में होने के कारण वह सन्तान या पुत्र है । पाँचवें तथा छठे मन्त्रों में जिज्ञासा प्रकट की गई है । पाँचवे मन्त्र में कवियों द्वारा सात तन्तुओं की सहायता से काव्य–गुम्फन की चर्चा की गई है । ये सात तन्तु निश्चित रूप से "वाक्" के सात स्वरूप हैं । छठे मन्त्र में विद्वानों से अजन्मा, एकमात्र तत्त्व के बारे में पूछा गया है । सातवें से लेकर दशवें तक चार मन्त्रों में अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त "गो" तथा "वत्स" का निरूपण किया गया है । ग्यारहवें से चौदहवें मन्त्र पर्यन्त "रथ" तथा उसके "चक्र"

और "तीलियों" की चर्चा आई है । पन्द्रहवें मन्त्र में सात तत्त्वों के एक साथ उत्पन्न होने का प्रसङ्.ग आया है । इनमें से एक तत्त्व अकेले उत्पन्न हुआ तथा छः युग्म हैं । इसे भी संवत्सर -चक्र की ऋतुओं तथा अधिकमास से सम्बद्ध किया जा सकता है । प्रकृत मन्त्र की सात संख्या का सम्बन्ध दूसरे मन्त्र के सात नामों, तीसरे की सात बहनों तथा चौबीसवें मन्त्र के वाणी के सात स्वरूपों के साथ स्थापित किया जा सकता है ।

प्रकृत सूक्त के सोलहवें मन्त्र में स्त्रियों को पुरुष के रूप में अभिहित होने की बात की गई है । यह भी बताया गया है कि इसे आँखवाला व्यक्ति ही समझ सकता है, अन्धा नहीं तथा इस तत्त्व को जानने वाला पिता का भी पिता हो जाता है । इसका सम्बन्ध चौथे मन्त्र में स्त्रीलिङ्.ग में वर्णित मूल कारण तथा पुंलिङ्.ग में निर्दिष्ट कार्यरूप जगत् के साथ स्थापित किया जा सकता है । साथ ही उन्तालीसवें मन्त्र में आए, ऋचाओं के परमस्थान के साथ भी इसे सम्बद्ध किया जा सकता है, जिसमें तत्त्व को न जानने वाले के लिए ऋक् की व्यर्थता तथा ज्ञाता के लिए उत्तम स्थान प्राप्त करने का निर्देश किया गया है । मन्त्र संख्या सत्रह से लेकर उन्नीस तक "पर" एवं "अवर" स्थानों का निरुपण किया गया है । उनमें नवीन एवं प्राचीन तथ्यों का भी उल्लेख किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि पूर्व के मन्त्रों में जिस परम तत्त्व की चर्चा करता आया है, प्रस्तुत मन्त्रों में उसके निश्चित स्थान को निर्दिष्ट करने का प्रयास कर रहा हो । इन मन्त्रों में कारण तथा कार्य के परस्पर सम्बन्ध की भी उद्भावना की जा सकती है ।

सूक्त का बीसवां मन्त्र तात्त्विक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ने प्रारम्भिक उन्नीस मन्त्रों में तत्त्वज्ञान हेतु परिनिष्ठित एवं दिव्य दृष्टि की प्रशंसा करने के बाद बीसवें में परम तत्त्व का तात्त्विक स्वरूप निरूपित किया है । इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सदा एक साथ रहने वाले मित्र भावापन्न दो सुन्दर पक्षी एक ही वृक्ष का आलिङ्.गन किए हुए हैं । उन दोनों में से एक उस वृक्ष के स्वादिष्ट फल का भक्षण करता है तथा दूसरा उस फल को न खाते हुए केवल देखता है । यह मन्त्र जीवात्मा तथा परमात्मा को दो पक्षियों के रूप में निरूपित करता है । ये दोनों सदा एक साथ ही रहते हैं और घनिष्ठ मित्र हैं । तात्पर्य यह है कि परमात्मा सदा जीवात्मा के पास ही रहता है और मित्र के समान उसकी सहायता करता है । ये दोनों ही संसार रूपी वृक्ष पर आरूढ़ हैं । इनमें से जीवात्मा रूपी पक्षी जगत् रूपी वृक्ष के फलों को

आसक्तिपूर्वक खाता है तथा दूसरा परमात्मा रूपी पक्षी इस जगत् तथा इसके फलों–भोगों से निर्लिप्त रहते हुए मात्र इस पूरी प्रपञ्च–प्रक्रिया को देखता रहता है । इसी शृड्.खला के इक्कीसवें मन्त्र में संसार रूपी वृक्ष पर अनेक पक्षियों के बैठकर अमृत के "भाग" की स्तुति करने की चर्चा की गई है । इससे जीव–बहुत्व का प्रतिपादन होता है । आगे चलकर बाईसवें मन्त्र में यह बताया गया है कि वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी मधु का पान करते हैं । इस प्रकार ये तीनों मन्त्र (बीस, इक्कीस एवं बाईस) आत्मा, परमात्मा तथा जगत् का निरूपण करते हैं ।

आगे चलकर ऋषि ने तेईसवें मन्त्र से लेकर पच्चीसवें तक काव्य–तत्त्वों का प्रतिपादन किया है । इनमें विभिन्न छन्दों का विधान किया गया है । ऐसाप्रतीत होता है कि उक्त मन्त्रों में सन्दर्भित छन्द परम तत्त्व का ही निरूपण करते हैं । तेईसवें मन्त्रानुसार इन छन्दों के प्रतिपाद्य "पद" को जानने वाले अमृत प्राप्त करते हैं । अतः इन मन्त्रों की सड्.गति भी इसी आशय के सोलहवें, बाईसवें इत्यादि मन्त्रों के साथ बैठायी जा सकती है ।

सूक्त की मन्त्र–सड्.ख्या छब्बीस से लेकर उन्तीस तक "गो" के स्वरूप का निरूपण किया गया है । उसके साथ उसके वत्स की भी उद्भावना की गई है । यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होता है कि ऋषि ने "गो" का प्रयोग बुद्धि के अर्थ में किया है । इस बुद्धि का दोहन विचक्षण दोग्धा ही कर सकते हैं । इन मन्त्रों का सम्बन्ध नवें तथा सत्रहवें मन्त्र के साथ भी परिलक्षित होता है । उन्तीसवें मन्त्र के कथ्य को वास्तविक रूप से समझ पाना दुष्कर है । किस तत्त्व ने "गो" को आवृत किया है ? यह बता पाना कठिन है । सम्भव है, ऋषि सूर्य को ही वह तत्त्व मानता हो । ऐसी स्थिति में सूर्य द्वारा "गो" का आवृत किया जाना उपपन्न नहीं हो पाता । यदि "गो" को सूर्य की किरणों के रूप में भी स्वीकार कर लिया जाय, तो वे सूर्य को आवृत करती हैं, न कि सूर्य उनको ।

तीसवाँ मन्त्र आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करता है । इसके अनुसार जीव शरीर को छोड़कर निकल जाता है । मन्त्र के उत्तरार्ध में यह बताया गया है कि मर्त्य शरीर तथा अमर्त्य जीव, दोनों साथ ही रहने वाले हैं या दोनों का उत्पत्ति–स्थान एक ही है । अड़तीसवें मन्त्र में भी ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है । इकत्तीसवें मन्त्र में ऋषि ने "रक्षक" के दर्शन करने की बात कही है । सम्भवतः वह रक्षक सूर्य है । ऐसा भी हो सकता है कि ऋषि का तात्पर्य "गोपाम्"

पद द्वारा "तत्त्वज्ञान" हो । इस दृष्टि से यदि तीसवें मन्त्र में आए "मृत" शब्द का अर्थ "शारीरिक बन्धनों से मुक्ति" माना जाए, तो यह कहा जा सकता है कि ऋषि को उक्त ज्ञान प्रस्तुत मन्त्र में हो चुका है । इसकी ही घोषणा उसने "अपश्यम्" पद द्वारा की है । बत्तीसवें मन्त्र में ऋषि इस तत्त्वज्ञान को स्रष्टा (पिता) के लिए भी अगम्य प्रतिपादित करता है । इसके लिए उसने माता के गर्भ में वेष्टित तथा सर्वथा अगम्य शिशु की उपमा दी है । तैंतीसवें मन्त्र में द्युलोक को "पिता" तथा "बन्धु" मानते हुए उसे "नाभि" या केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है तथा विशाल पृथ्वी को माता माना गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि तीसवें से लेकर तैंतीसवें मन्त्र तक सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन किया गया है । तैंतीसवें मन्त्र का सम्बन्ध स्पष्टतः सातवें से लेकर दशवें मन्त्र तक वर्णित विषयों से है ।

चौंतीसवें मन्त्र में चार प्रश्न उपस्थित किये गए हैं तथा पैंतीसवें में क्रमशः उनके उत्तर दिये गए हैं । "वेदी" को पृथ्वी का अन्तिम छोर, "यज्ञ" को भुवन की नाभि, "सोम" को प्रजनन का बीज तथा "ब्रह्मा" को वाणी का परम स्थान बताया गया है । स्पष्ट है कि उक्त मन्त्र में यज्ञीय कर्मकाण्ड की प्रशंसा की गई है । संसार के सारे कार्य यज्ञ द्वारा ही सम्पन्न किये जा सकते हैं । ब्रह्मा को वाणी का परम स्थान इसलिए कहा गया है कि वही यज्ञ में वाणी के माध्यम से देवताओं की स्तुति करके उन्हें आहूत करता है ।

सूक्त के छत्तीसवें मन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति के लिए "सात" को बीज के रूप में स्वीकार किया गया है । दार्शनिक दृष्टि से इन सातों को पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश – इन पञ्च महाभूतों तथा मन एवं प्राण के रूप में देखा जा सकता है । वस्तुतः इन सातों के बिना सृष्टि सम्भव ही नहीं है । इन्हें पन्द्रहवें मन्त्र में एक साथ उत्पन्न बताए जाने वाले सात तत्त्वों के साथ भी समेकित किया जा सकता है । ये सात अपनी बुद्धि और मन से सर्वत्र सब कुछ आवेष्टित कर देते हैं । ये सभी विष्णु की आज्ञा से अपने–अपने धर्म में स्थित हैं । इस प्रकार सृष्टि–प्रक्रिया में विष्णु के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है । वैसे जनसाधारण की धारणा के अनुसार ब्रह्मा को स्रष्टा तथा विष्णु को सृष्टि–पालक माना जाता है ।

सूक्त के सैंतीसवें मन्त्र में ऋषि ने अपने ज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख किया है । इसमें उसने सत्य के दर्शन के बाद वाक् के तत्त्व को प्राप्त करने की चर्चा भी की है । वस्तुतः वाणी

के तत्त्व या भाग को प्राप्त करने का तात्पर्य अधिगत ज्ञान को अन्य लोगों तक पहुँचाने की क्षमता होने से है । इसी वाक् तत्त्व के द्वारा ऋषि मन्त्रों के माध्यम से अपना चिन्तन एवं ज्ञान व्यक्त कर रहा है । प्रस्तुत मन्त्र का सम्बन्ध स्पष्टतः इकत्तीसवें मन्त्र के साथ दृष्टिगत होता है, जिसमें रक्षक के दर्शन करने की बात की गई है । अड़तीसवें मन्त्र में ऋषि अपने तत्त्वज्ञान को व्यक्त करते हुए आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करता है । उसके अनुसार लोग मात्र शरीर को जान पाते हैं, आत्मा को नहीं । यह मन्त्र तीसवें मन्त्र में आए जीव तथा शरीर के सम्बन्ध–निरूपण को पुनः प्रदर्शित कर रहा है । इस प्रकार की पुनरुक्तियों का कारण यह है कि मूल तत्त्व बार–बार ऋषि की दृष्टि में आता जा रहा है और वह उसे येन केन प्रकारेण जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास कर रहा है । उन्तालीसवें मन्त्र में ऋषि ने देवताओं के स्थान का निरूपण करते हुए उसे न जानने वाले के लिए ऋचाओं के ज्ञान को निष्फल तथा जानने वाले के लिए उत्तम स्थान प्राप्त करने की बात कही है । इस मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि ऋचाओं के ज्ञान का मुख्य उद्देश्य परम तत्त्व को जानना ही है । चालीसवें मन्त्र में ऋचा को "गो" के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसके माध्यम से ऋचा अथवा काव्यतत्त्व की रक्षा करने की बात कही गई है । इसी शृङ्खला में इकतालीसवां मन्त्र "गौरी वाक्" के विभिन्न पदों का सम्यक् निरूपण करता है । इसके अनन्तर बयालीसवां मन्त्र भी "गो" रूपा वाक् का ही प्रतिपादन करता है ।इस प्रकार ये छः मन्त्र (37, 38, 39, 40, 41 और 42) प्रायः एक ही विषयवस्तु की उपस्थापना करते हैं ।

तैंतालीसवें मन्त्र में दूर से धूम–दर्शन की चर्चा की गई है, जहाँ यज्ञकर्त्ता शक्तिदायक सोम को पका रहे हैं । पहले दूर से धूम तथा फिर पास में उसके कारणभूत अग्नि का ज्ञान प्राप्त करने से हमें प्रकृत स्थल पर अनुमान–प्रमाण का निर्देश प्राप्त होता है । यह मन्त्र सोम–याग को प्राथमिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करता है । इसका सम्बन्ध पैंतीसवें मन्त्र में प्रतिपादित सोमयाग के साथ है, जिसमें सोम को बीज के रूप में माना गया है । चौवालीसवें मन्त्र में परमतत्त्व के तीन स्वरूप प्रतिपादित किये गए हैं । यहाँ उनकी विशेषताएँ भी बताई गई हैं । इस मन्त्र का सीधा सम्बन्ध प्रथम मन्त्र में प्रतिपादित परम तत्त्व के तीन भाइयों के साथ प्रतीत होता है । वहाँ तीनों भाइयों के पृथक्–पृथक् गुण बताए गए हैं, तो यहाँ उन्हें ही दूसरे शब्दों में प्रतिपादित किया गया है । पैंतालीसवें मन्त्र में "वाक्" का सम्यक् निरूपण किया गया है । यह मात्र मनुष्यों तक ही केन्द्रित नहीं है, बल्कि इसके चार भेदों में से एक ही मनुष्यों के लिए बोधगम्य तथा व्यवहार्य है, अन्य तीन "गुफा" में निहित

हैं । इन चारों प्रकारों को मात्र मनीषी ही जानते हैं । इस मन्त्र को इकतालीसवें मन्त्र में प्रतिपादित चतुष्पदी "गौरी वाक्" से सम्बद्ध किया जा सकता हे ।

छियालीसवें मन्त्र तक पहुँचते–पहुँचते हमें ऋषि की देववादी मान्यता का ज्ञान हो जाता है। उसके अनुसार सभी देवताओं का देवत्व "एक" है, भले ही उनके नाम अनेक क्यों न हों । तात्त्विक दृष्टि से सभी देवता एक ही हैं । यहाँ हमें "वैदिक अद्वैतवाद" के दर्शन होते हैं । शङ्कराचार्य के प्रचलित अद्वैतवाद से इसका पार्थक्य इस दृष्टि से है कि जहाँ शङ्कर पूरे ब्रह्माण्ड में एकमात्र "तत्त्व" को स्वीकार करते हैं, वहीं "वैदिक अद्वैतवाद" मात्र देवों के एकत्व को प्रतिपादित करता है । इसीलिए मैंने ऋग्वेद की इस प्रवृत्ति को "देवैकत्ववाद" के रूप में स्वीकार किया है । मन्त्र में तत्त्व को 'दिव्य" और "सुपर्ण" कहा गया है, जो अन्तिम ऋचा में भी प्रतिपादित है ।

अब तक के मन्त्रों में ऋषि ने सृष्टि के विभिन्न उपादानों का निरूपण किया । अब पुनः वह सैंतालीसवें तथा अड़तालीसवें मन्त्र में अपने मुख्य प्रतिपाद्य पर आ रहा है, जिसका निर्देश उसने सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्रों में "रथ" एवं "पक्षी" के रूप में किया था । सैंतालीसवें मन्त्र में ऋषि ने "सुपर्ण" किरणों की चर्चा की है, जो "ऋत" के स्थान से नीचे आकर पृथ्वी का सिञ्चन करती हैं । सम्भव है, ऋषि का तात्पर्य सूर्य की किरणों से हो, क्योंकि वे ही समुद्रादि से वाष्प ग्रहण करके वृष्टि के रूप में परिवर्तित होती हैं ।अड़तालीसवां मन्त्र "रथ" को एक चक्र वाला बताते हुए उसे बारह परिधियों, तीन नाभियों तथा अत्यन्त गतिशील तीन सौ साठ खूँटियों से युक्त प्रतिपादित करता है । यह मन्त्र दूसरे, तीसरे, पाँचवे, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें सदृश मन्त्रों की शृङ्खला में एक कड़ी के समान है ।

मुख्य विषय के प्रतिपादन के अनन्तर ऋषि उन्चासवें मन्त्र में देवी सरस्वती की स्तुति करता है । सरस्वती का स्तन सुखकारक है । वह उससे वरणीय धनों को पुष्ट करती है । तात्पर्य यह है कि सरस्वती द्वारा सर्वविध सुख–सम्पत्ति और उत्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है । इस मन्त्र द्वारा एक बात और ज्ञात होती है कि ऋषि के काल तक सरस्वती देवी का प्रकृत स्वरूप स्पष्ट हो चुका था । उनकी कृपा के बिना मूलतः न तो विद्या (ज्ञान) प्राप्त की जा सकती है और न इसका संरक्षण और प्रकाशन ही किया जा सकता है । यही कारण है कि इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ऋषि ने सरस्वती की साक्षात् स्तुति की है, यद्यपि वह इकतालीसवें, पैतालीसवें सदृश मन्त्रों में

प्रकारान्तर से उनका स्तवन कर चुका है ।

सूक्त का पचासवां मन्त्र यज्ञ–फल का प्रतिपादन करता है । यह अन्यत्र भी उपलब्ध होता है ।[1] उसके अनुसार यज्ञकर्त्ता नाकलोक को प्राप्त करते हैं । यह यज्ञ निश्चित रूप से सोमयाग ही है, जिसका वर्णन पैंतीसवें तथा तैंतालीसवें मन्त्र में किया गया है । इक्यावनवें मन्त्र में यज्ञीय विधान के द्वारा द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य सामरस्य स्थापित किया गया है । जलतत्त्व के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि एक ही जल दिन में ऊपर चला जाता है, पुनः मेघों द्वारा नीचे आता है । द्युलोक को अग्नियां तृप्त करती हैं । वस्तुतः जल सूर्य की किरणों द्वारा अवशोषित होकर द्युलोक पहुँचता है तथा वृष्टिकाल में मेघों के माध्यम से पृथ्वी पर आता है । अग्नि में जो हवन किया जाता है, उसी से मेघों का निर्माण होता है । गीता में भी यज्ञ द्वारा पर्जन्य के उत्पन्न होने की बात कही गई है ।[2] इस प्रकार यह मन्त्र भी यज्ञीय परम्परा का पोषक है, जो पूर्ववर्त्ती मन्त्रों में उपपादित है ।

प्रकृत सूक्त का अन्तिम मन्त्र पुनः प्रथमादि मन्त्रों में प्रतिपादित "दिव्य सुपर्ण" की चर्चा करता है । यहाँ के वर्णन द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि वह "दिव्य सुपर्ण" सूर्य है । ऋषि ने उसके लिए "सरस्वान्" शब्द का भी प्रयोग किया है । वह निरन्तर गति करने वाला है । उसी के प्रकाश से ओषधियों में रस का सञ्चार होता है । वृष्टि का भी प्रधान कारण वही है । इस प्रकार के दिव्य पक्षी को ऋषि ने अपनी सहायता के लिए आहूत किया है । यह वही पक्षी है, जिसे प्रथम मन्त्र में ऋषि ने "होता" कहा है । यही "सुपर्ण" छियालीसवें मन्त्र में भी उद्दिष्ट है । इस प्रकार ऋषि ने परम तत्त्व को निरूपित करने के लिए अनेक उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं । हमें किसी भी परिकल्पना में कोई विसङ्गति नहीं दृष्टिगत होती ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि यद्यपि ऋषि दीर्घतमा के इस सूक्त में मन्त्रों की सङ्ख्या प्रभूत है, तथापि उनमें परस्पर सामञ्जस्य एवं तारतम्य बना हुआ है । प्रत्येक मन्त्र एक ही शृङ्खला की कड़ी के रूप में उपनिबद्ध है । एक ही सूक्त में इतने अधिक मन्त्र आकस्मिक रूप से नहीं आ गए हैं, बल्कि ऋषि ने उन्हें योजनाबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया है । मन्त्रों में आए कुछ प्रतीकों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त न होने पर भी इतना अवश्य कहा जा सकता

---

1. (क) ऋग्वेद 10.90.16.
   (ख) शुक्ल यजुर्वेद – 31.16.
   (ग) तैत्तिरीय आरण्यक – 3.12.16.
2. "यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।" श्रीमद्भगवद्गीता – 3.14.

है कि सभी मन्त्र परस्पर सुसम्बद्ध हैं तथा पूरे सूक्त का प्रतिपाद्य विषय एक ही है । इसी आधार पर मन्त्रों की पारस्परिक सङ्‌गति बैठायी जा सकती है ।

एक अन्य आधार पर भी मन्त्रों में तारतम्य प्रतिपादित किया जा सकता है । डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने प्रस्तुत सूक्त के मन्त्रों में ऋग्वेद की सृष्टि सम्बन्धी अनेक विद्याओं का सङ्‌ग्रह स्वीकार किया है । उनके अनुसार उन्हीं विद्याओं का सङ्‌केत रूप में या विशद रूप में इस सूक्त में उल्लेख पाया जाता है । उदाहरण के लिए प्रथम मन्त्र में "अग्नि के तीन भ्राताओं की विद्या" है । पञ्चम मन्त्र में "सप्ततन्तु विद्या" है, जिसका सम्बन्ध सूर्य, संवत्सर और यज्ञ से है । छठें मन्त्र में "अव्यय", "अज" एवं उस पर आधृत छः रजों की विद्या है । सातवें, आठवें और नवें मन्त्र में "गो विद्या" एवं "मातृविद्या" के अनेक सूत्र हैं ।

मन्त्र दस में भी एक "अविचाली ऊर्ध्व तत्त्व" की तथा उस पर आश्रित माता-पिताओं के तीन युग्मों की विद्या है । मन्त्र 11, 12, 13, 14 में "वक्र विद्या" है, जिसे द्वादशार, षडर और पञ्चार कहा गया है । 15 वें मन्त्र में "सप्तसाकंज" प्राण विद्या और मन्त्र 16 में "स्त्री पुमान्" विद्या है । मन्त्र 17, 18, 19 में "परार्ध", "अवरार्ध" या "परावर विद्या" का वर्णन है । मन्त्र 20, 21, 22 में "सुपर्ण विद्या" है । मन्त्र 23, 24, 25 में "त्रिसुपर्ण विद्या" अथवा "तीन छन्दों" की विद्या है । मन्त्र 26 में "घर्म विद्या" और 27, 28, 29 में "गो विद्या" है । मन्त्र 30 में "जीव विद्या" है, जिसे अमृत और मर्त्य का संयोग कहा है । मन्त्र 31 में "गोपा विद्या" है । 32, 33 में "मातृ-पितृ विद्या" या "योनिविद्या" है । मन्त्र 34, 35 में "ब्रह्मोद्य" के प्रश्नोत्तर शैली द्वारा "यज्ञविद्या" के कई सूत्रों का वर्णन है । मन्त्र 36 में "सप्तार्धगर्भ विद्या" है, जिससे भुवन का "रेतस् तत्त्व" निर्मित हुआ है । 37 में "ऋतस्य प्रथमजा वाक्" विद्या है । 38 में "मर्त्यामृतसयोनि विद्या" है, जिसका मन्त्र 30 में उल्लेख आ चुका है । मन्त्र 39 में "अक्षर विद्या" है । मन्त्र 40 में "भगवती अघ्न्या गौ" विद्या है । 42 में "क्षराक्षर विद्या" है । 43 में "उक्षापृश्नि" विद्या है । मन्त्र 44 में "त्रयः केशिनः" विद्या है । 45 में "चतुष्पदी वाक्" विद्या है । 46 में "एकं सत्बहुधा" विद्या है । 47 में वरुण के "आपोलोक" या "ऋतसदन" की "कृष्णनियान विद्या है । मन्त्र 48 में "संवत्सरचक्र" विद्या है । 49 में "सरस्वती की अमृतपोषण" विद्या है । मन्त्र 50 में "यज्ञद्वय" विद्या है । मन्त्र 51 में "पर्जन्य" विद्या है । मन्त्र 52 में 'दिव्य सुपर्ण" या "बृहद् वायस' विद्या है ।[1]

---

1. अग्रवाल, डॉ. वासुदेव शरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 36.

इस प्रकार ऋषि दीर्घतमा ने प्रस्तुत सूक्त के सभी 52 मन्त्रों में अनेक वैदिक विद्याओं की रूपरेखा प्रस्तुत की है । इस आधार पर भी सभी मन्त्रों की एकात्मकता प्रतिपादित होती है ।

(घ) सूक्त में विद्यमान विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा :-

प्रस्तुत सूक्त तात्त्विक दृष्टि से उन्नत माना गया है । इसके प्रतिपाद्य को पूर्णतः समझ पाना दुष्कर है । यहाँ विभिन्न भाष्यों के आलोक में सूक्तस्थ विभिन्न तत्त्वों तथा पदों की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है ।

(1) भ्रातृत्रय-निरूपण :- "अस्यवामीय सूक्त" के प्रथम मन्त्र में तीन भ्राताओं का निर्देश किया गया है । वे तीनों कौन हैं ? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । सबसे बड़े भाई के लिए "वाम", "पलित", "होता", "विश्पति" और "सप्तपुत्र" इन पाँच विशेषणों का प्रयोग किया गया है । मध्यम भ्राता को "अश्न" तथा तृतीय को "घृतपृष्ठ" कहा गया है । आचार्य सायण ने "वाम" का अर्थ "सुन्दर" या "सेवनीय", "पलित" का अर्थ "पालक" तथा "होता" का अर्थ "आह्वान किये जाने योग्य" करते हुए उसे "आदित्य" माना है । उन्होंने मध्यम भ्राता को "वायु" माना है । वह "आदित्य" और "अग्नि" की अपेक्षा से "मध्यम" है । उनके अनुसार "अश्नः" का अर्थ "सर्वत्र व्याप्त" है, क्योंकि कोई भी प्रदेश वायुरहित नहीं है । जिस प्रकार लोक में भ्राता, पिता के धन का भाग ग्रहण करता है, उसी प्रकार वायु भी ग्रहण करता है । मध्यस्थान-अन्तरिक्ष लोक का हरण करने के कारण भी वायु को मध्यम कहा जाता है, अथवा वृष्टि के लिए रश्मियों द्वारा लाए गए पृथ्वी के जलों का हरण करने के कारण भी वायु को भ्राता कहते हैं । तृतीय भ्राता पीठ पर घृत की आहुति वाला है । वह उक्त दोनों भ्राताओं की अपेक्षा से तृतीय है । वह भी इसलिए भ्राता है कि रात्रि में सविता के तेजोभाग को धारण करता है तथा पुनः दिन में उसे वापस कर देता है । इन तीनों भाइयों के मध्य आदित्य विश्पति अर्थात् प्रजाओं का पालक है तथा सात रश्मियों रूपी पुत्र वाला है । ऐतिहासिकों के मतानुसार मित्र, वरुण इत्यादि अदिति के पुत्रों में सातवां होने के कारण आदित्य "सप्तपुत्र" या सप्तमपुत्र है ।[1] इस

---

1. योऽयं दिवि द्योतते तस्य अस्य वामस्य वननीयस्य सम्भजनीयस्य आरोग्यार्थिभिः सर्वैः सेवनीयस्य। पलितस्य पालयितुः प्रकाश-वृष्ट्यादिप्रदानेन पालकस्य....होतुः ह्वातव्यस्य आह्वानार्हस्य आदित्यस्य मध्यमः मध्यमस्थानः। मध्ये भवो वायुरुच्यते। आदित्याग्नी अपेक्ष्यास्य मध्यमत्वम्। स च अश्नः सर्वत्र व्याप्तः। न हि वायुरहितः कश्चित् प्रदेशोऽस्ति।-यथा लोके भ्राता पितृधनस्य भागं हरति तद्वत्। मध्यमस्थानमन्तरिक्षलोकं हरति इति वा। वृष्ट्यर्थं रश्मिभिराहृतानां भौमानां रसानां हरणाद् वा भ्रातेत्युच्यते।...घृतमाहुतिलक्षणं पृष्ठे यस्य तादृशो भ्राता तृतीयः अस्ति भवति।...उक्तोभया--पेक्षया तृतीयत्वम्। रात्रौ सवितुस्तेजोभागस्य हरणात् दिवा स्वकीयतेजसो भागस्य तदर्थमेव भक्तव्यत्वात् वा भ्रातृत्वम्। अत्र एषु भ्रातृषु मध्ये विश्पतिं विशां प्रजानां पालयितारम्। सप्तपुत्रं सर्पणरश्मिपुत्रोपेतम् ऐतिहासिकपक्षे-मित्रवरुणादिष्वदितिपुत्रेषु आदित्यस्य सप्तमपुत्रत्वम्। ऋ.1.164.1 पर सायणभाष्य.

प्रकार सायण के अनुसार "सप्तपुत्र" का अर्थ "सात पुत्रों वाला" के अतिरिक्त "सप्तमपुत्र" भी इष्ट है। दीर्घतमा ने ऐसे देव का साक्षात्कार किया ।

सायण का प्रकृत अर्थ आधिदैवत है । इन्होंने एक अन्य आध्यात्मिक अर्थ भी किया है । उसके अनुसार "वाम" का अर्थ विश्व का उद्गिरण या सृष्टि करने वाला है । "पलित" का अर्थ – अपनी सृष्टि का पालन करने वाला तथा "होता" का अर्थ संहार करने वाला है । परमेश्वर का "स्रष्टा" आदि होना श्रुति, स्मृति, पुराणादि में प्रसिद्ध है । ऐसे परमेश्वर का भ्राता या उसके भाग को ग्रहण करने वाला उसी का अंशभूत सूत्रात्मा मध्य में वर्तमान वायु है । वह व्यापनशील है । विराट् की तुलना में वह मध्यम है । उस परमेश्वर का तीसरा भाई "घृतपृष्ठ" है । "घृत" जल का नाम है । इससे उसके कार्यभूत शरीर का बोध होता है । वह शरीर ही जिसका पृष्ठ या स्पर्श करने वाला है, ऐसा परमेश्वर "घृतपृष्ठ" है । अथवा "घृत" का अर्थ प्रदीप्त है और "पृष्ठ" शब्द सम्पूर्ण शरीर का वाचक है । इस प्रकार वह परमेश्वर प्रकाशितशरीराभिमानी है । "विश्पति" का अर्थ "सबका स्वामी" तथा "सप्तपुत्र" का – सात लोकों रूपी पुत्र वाला है । तात्पर्य यह है कि जिसने अपनी माया से समस्त लोकों की सृष्टि की है, वह सप्तपुत्र है । सायण के मतानुसार मन्त्र का तात्पर्य यह है कि अपनी माया से संसार का कारणभूत परमेश्वर एक ही है, उससे उत्पन्न होने वाले स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के अभिमानी क्रमशः 'विराट्' तथा "सूत्रात्मा" हैं । इन तीनों में से मात्र बाद वाले दो के साक्षात्कार से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, अतः सृष्टि के आदिकारणभूत, ज्ञेय के रूप में प्रसिद्ध परमेश्वर का ही श्रवणमननादिसाधन से साक्षात्कार कर रहा हूँ ।[1]

---

1. एवं वा अस्य वामस्य विश्वस्योद्गिरतुः स्रष्टुरित्यर्थः। पलितस्य पालयितुः स्वसृष्टजगत्पालन–
–शीलस्य होतुः आदातुः। स्वस्मिन् संहर्तुः इत्यर्थः। परमेश्वरस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वं श्रुतिस्मृति–
–पुराणादिषु प्रसिद्धम्। तस्य....भ्राता तद्भागहारी तदंशभूतः सूत्रात्मा मध्यमः सर्वत्र मध्ये वर्तमानः अस्ति जगद्धारकत्वेन वर्तते। स च अश्नः व्यापनशीलः।....वक्ष्यमाणविराडपेक्षया वा मध्यमत्वम्। किञ्च अस्य परमेश्वरस्य तृतीयो घृतपृष्ठः। घृतमित्युदकनाम । तेन तत्कार्यं शरीरमुच्यते। तदेव पृष्ठं स्पर्शकं वा यस्य सः तादृशः।....यद्वा प्रदीप्तपृष्ठः। पृष्ठशब्दः कृत्स्नशरीरोपलक्षकः। प्रकाशित शरीराभिमानीत्यर्थः। न त्वयं सूक्ष्मशरीराभिमानि–
–सूत्रात्मवत् स्पर्शनाविषयो भवति।....स्वाधीनमायया जगत्कारणभूतः परमेश्वरः एकः। तत उत्पन्नौ स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानिनौ द्वौ विराट्सूत्रात्मानौ। तेषु मध्ये द्वयोः साक्षात्कारेण मोक्षाभावात् सृष्ट्यादिकारणं परमेश्वरं ज्ञेयत्वेन प्रसिद्धं श्रवणमननादिसाधनेन साक्षात्करोमि इत्यर्थः ।
ऋग्वेद 1.164.1 पर सायणभाष्य.

इस प्रकार सायण ने आदित्य,वायु और अग्नि को भ्राता मानकर आधिदैवत तथा श्रुति, स्मृति इत्यादि के प्रमाण के बल पर दर्शन की ओर उन्मुख होते हुए आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत किया है । वस्तुतः वैदिक यज्ञविद्या तथा लोकविद्या के अनुसार "विराट्" का भौतिक जगत् और "सूक्ष्म सूत्रात्मा प्राण" का सूक्ष्म जगत् – ये दोनों ही ईश्वर की माया से उत्पन्न होते हैं । इनसे मुक्ति–प्राप्ति का उपाय मात्र ईश्वर का साक्षात्कार करना ही है । सायण का प्रकृत अर्थ भी "ब्रह्मवाद" पर ही अवस्थित है । सम्भवतः यही कारण है कि विल्सन ने सायण को प्रस्तुत सूक्त का वेदान्तपरक व्याख्याता माना है । उनके शब्दों में – सायण के अनुसार इस सूक्त का सामान्य उद्देश्य "वेदान्त" की छाप छोड़ना अथवा ब्रह्म और जगत् का आध्यात्मिक ऐक्य प्रतिपादित करना है । यद्यपि सूक्त में कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं, जो सायण के इस विचार का समर्थन करते हैं, तथापि सम्पूर्ण सूक्त पर विचार करने पर, जो प्रायः रहस्यात्मक तथा कठिन है, यह ज्ञात होता है कि इसमें सम्पूर्ण सृष्टि में अनुस्यूत "आदित्य" या सूर्य को अभिमण्डित किया गया है ।[1] ग्रिफिथ ने इस मन्त्र का अनुवाद करने के उपरान्त पाद–टिप्पणी में लिखा है – होता (पुरोहित) आदित्य या सूर्य है । उसका मध्यम भ्राता "विद्युत्" है, जो अग्नि का ही एक अन्य रूप है तथा तृतीय भ्राता गार्हपत्य अग्नि है, जो प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ समिद्ध किया जाता है तथा जिस पर घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं । सात पुत्र सम्भवतः सात "होता" या "पुरोहित" हैं ।[2] इस प्रकार ग्रिफिथ ने सायण से पृथक् विचार प्रस्तुत करते हुए 'विद्युत्' को मध्यम भ्राता के रूप में स्वीकार किया है ।

---

1. According to Sayana however, the general purport of this Sukta is the inculcation of the doctrine of the Vedanta, or the spiritual unity of Brahman and the universe: some passages occur that bear him out in this view, but the text, upon the whole, although often mystical and obscure, evidently proposes the glorification of Aditya or the sun, especially as identifiable with all creation.
   विल्सन, एच.एच. – ऋग्वेद संहिता, वाल्यूम 2, 1.164.1 पर टिप्पणी.

2. The priest is Aditya, the Sun. His next brother is lightning, another form of fire, and the third brother is Agni Garhapatya, the western sacred fire maintained by each householder, and fed with oblations of clarified butter.
   The seven male children are probably the priests.
   ग्रिफिथ, आर.टी.एच. – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 109.

आचार्य यास्क ने भी इस मन्त्र का अर्थ किया है । यद्यपि उन्होंने अग्नि, वायु और आदित्य का भ्राता के रूप में उल्लेख नहीं किया है, तथापि दुर्गाचार्य ने अपनी टीका में इसे स्पष्ट किया है ।[1] यास्क की टीका का अन्तर्भाव सायण के प्रथम अर्थ में हो जाता है ।

आत्मानन्द ने प्रकृत मन्त्र का अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से ही किया है । उनके अनुसार इस मन्त्र में तीन अवस्थाओं वाले चित्स्वरूप आत्मा का स्वरूप बताया गया है । जो वाम है, वही कुब्ज या प्रत्यक्ष शरीर है । पृथिव्यादि पञ्चभूतों से निर्मित होने के कारण वह "वाम" अर्थात् कुब्ज या प्रत्यक्ष है । तात्पर्य यह है कि जो प्राण के रूप में विराट् है, वही शरीर के रूप में "वाम" या "कुब्ज" हो जाता है । इस स्थिति में भी वह व्यापक बना रहता है । "होता" का अर्थ "उद्‌गाता" या विचारक है । वह जाग्रदवस्था में मन तथा बुद्धि से विचार करता है तथा "वैश्वानर" नामक प्रथम भ्राता है । इसका द्वितीय भ्राता "मध्यम" अर्थात् स्वप्नावस्था में होने वाला "तैजस्" है । "अश्न" मेघ या पर्वत को कहते हैं । वह "तैजस" इसलिए है कि स्वप्नावस्था वाला होने के कारण निद्रा द्वारा मेघ के समान प्रकाश को तिरोहित करता है तथा स्वप्न सञ्ज्ञक गन्धर्व नगर का अधिष्ठाता है । वह पर्वत के समान आश्चर्य का विषय है । कहा भी गया है – वैश्वानर ग्राम्य, तैजस अद्रि और अन्तिम प्राज्ञ है । तुरीय को श्वेत कहते हैं, जिसमें सभी अनुस्यूत हैं । होता का तृतीय भ्राता सुषुप्त या प्राज्ञ है, जिसे घृतपृष्ठ कहा गया है । जिसमें पृष्ठ अर्थात् बाह्य प्रदेश में रहने वाले जागृत और स्वप्न, घृत या लीन रहते हैं, वही घृतपृष्ठ या प्राज्ञ हैं । वैश्वानर, तैजस तथा प्राज्ञ इन तीनों का पति या पालक अर्थात् अपना चैतन्य प्रदान करके इनकी रक्षा करने वाला तुरीय ही "विश्पति" है । महदादि जगत् की

---

1. निरुक्त – 2.4.26 तथा इस पर "दुर्गवृत्ति" द्रष्टव्य.

सात प्रकृतियाँ ही जिसके पुत्र या कार्यभूत विकृतियाँ हैं, इसीलिए उसे "सप्तपुत्र कहा गया है ।[1] इस प्रकार आत्मानन्द ने वैश्वानर, तैजस तथा प्राज्ञ को तीन भ्राता मानते हुए "विश्पति" को तुरीय चैतन्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।

डॉ. कुन्हन राजा ने इन तीनों भ्राताओं को सूर्य, सर्वभुक् अग्नि ? तथा सामान्य अग्नि के रूप में स्वीकार किया है ।[2] डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल प्रकृत स्थल पर अग्नि के ही तीन भ्राताओं का वर्णन मानते हैं । उनके अनुसार – इस मन्त्र में अग्नि और उसके तीन भ्राताओं का वर्णन है । अग्नि ही विश्पति है, वही सप्तपुत्र है । अग्नि यहाँ प्राणतत्त्व है, जो हर एक के भीतर विद्यमान है ।[3]

---

1. अस्यामृचि अवस्थात्रयोक्तिपूर्वं आत्मा उच्यते चित्स्वरूपः। अस्य प्रत्यक्षादि प्रमाणस्यापरोक्षस्य। वामस्य कुब्जस्य शरीरेण परिच्छिन्नस्य व्यापकस्य वा। यो होता उद्गाता विचारकः तस्य होतुः। जाग्रदवस्थायां नाम्ना विश्वस्य प्रथमस्य भ्रातुः द्वितीयो मध्यमः अस्ति भवति। मध्ये स्वप्ने भवतीति मध्यमः नाम्ना तैजसः। अश्नः। मेघस्य गिरेर्वा नामैतत्। तैजसो हि मेघसदृशः निद्रया तिरोहिततेजस्त्वात्। स्वप्नाख्यगन्धर्वनगराधिष्ठातृत्वाच्च। गिरिवदाश्चर्यविषयः। तदुक्तम्

   ग्राम्यो विश्वस्तैजसोऽद्रिश्चान्तिमः प्राज्ञ ईरितः ।
   तुरीयं श्वेतमत्राहुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ।। इति ।

   अस्य होतुस्तृतीयो भ्राता सुषुप्तो नाम्ना प्राज्ञो घृतपृष्ठः। घृतौ क्षरितौ लीनौ पृष्ठौ परिभवौ बाह्यप्रदेशसमौ जागरस्वप्नौ यस्मिन् स घृतपृष्ठः प्राज्ञः। अत्र विश्वादिषु त्रिषु विश्पतिं विश्वतैजसप्राज्ञानां पतिं पातारं स्वचैतन्यदानेन रक्षकं तुरीयम्। सप्तपुत्रम्। सप्त महदादयो जगत्प्रकृतयः पुत्राः कार्यभूता विकृतयो यस्य स तथा।
   ऋग्वेद 1.164.1 पर आत्मानन्द–भाष्य.

2. It refers to the luminaries in the three regions, the Sun, the consuming fire and the ordinary fire.
   राजा, डॉ. सी. कुन्हन – अस्य वामस्य हिम, पृष्ठ 7.

3. अग्रवाल, डॉ. वासुदेव शरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 38.

गेल्डनर ने पूरे सूक्त को कर्मकाण्ड (यज्ञ) से सम्बद्ध करते हुए प्रकृत मन्त्र में निर्दिष्ट तीन भ्राताओं को यज्ञ में विहित तीन अग्नियों के रूप में प्रतिपादित किया है ।[1] सातवलेकर जी ने इन्हें आदित्य, वायु और अग्नि के रूप में ही स्वीकार किया है ।[2]

वस्तुतः वैदिक सृष्टिविद्या के अनुसार एक ही परात्पर ब्रह्मतत्त्व चतुष्पाद के रूप में अपने एक अंश से अमृत और अनिरुक्त बना रहता है तथा तीन भागों से इस त्रेधा विश्व का निर्माण करता है । प्रकृत स्थल पर तीन भ्राताओं का उल्लेख वैदिक त्रिकवाद की एक कड़ी प्रतीत होता है । जिस प्रकार एक ही अग्नि यज्ञ–सम्पादन हेतु तीन भागों में विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार एक ही अनिरुक्त अमूर्त प्रजापति त्रिगुणात्मक विश्व के रूप में दृष्टिगत होता है । वैदिक त्रिकों में अग्नि, वायु तथा आदित्य का प्रमुख स्थान है । ये तीनों ही सञ्चालक प्राण हैं । इन तीनों को तीन लोकों का स्वामी माना गया है । "ऐतरेय ब्राह्मण" में अग्नि को पुरोहित तथा पृथिवी को उसका पुरोधाता कहा गया है, वायु को पुरोहित तथा अन्तरिक्ष को उसका पुरोधाता कहा गया है । अन्ततः आदित्य को भी पुरोहित तथा द्युलोक को उसका पुरोधाता कहा गया है ।[3] यहाँ "पुरोहित" शब्द पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है । इसका शब्दार्थ प्रत्यक्ष रूप से आया हुआ प्राण है । यह वह अध्यात्मप्राण है, जो भौतिक शरीर में प्रकट होता है । "शतपथब्राह्मण" में यह बताया गया है कि प्राण से अधिक सभी भूतों का अन्य कोई हितकारी नहीं है । यही कारण है कि "प्राणों" का नाम ही "हित" है ।[4]

मन्त्र में आए तीनों भ्राताओं के विशेषणों पर विचार करना आवश्यक है । प्रथम भ्राता को "वाम" तथा "पलित" कहा गया है । कोष के अनुसार वाम का अर्थ – प्रिय, सुन्दर, लावण्यमय[5] तथा

----

1. गेल्डनर – ऋग्वेद 1.164.1 पर अनुवाद एवं टिप्पणी द्रष्टव्य.
2. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर – ऋग्वेद, प्रथम भाग, पृष्ठ 430.
3. अग्निर्वाव पुरोहितः पृथिवी पुरोधाता ।
   वायुर्वाव पुरोहितः अन्तरिक्षं पुरोधाता ।
   आदित्यो वाव पुरोहितः द्यौः पुरोधाता । ऐतरेय ब्राह्मण 8.27.
4. प्राणो वै हितं प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः । शतपथब्राह्मण 6.1.2.14.
5. आप्टे, वामन शिवराम – संस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 917.

"पलित" का भूरा, धवल, सफेद बालों वाला, वृद्ध[1] है । उक्त दोनों अर्थ परस्पर विरोधी हैं । ऐसी स्थिति में उनमें किस प्रकार सड्.गति बैठायी जा सकती है ? इसके अतिरिक्त प्रथम भ्राता को ही "विश्पति" तथा "सप्तपुत्र" भी कहा गया है । द्वितीय भ्राता को "अश्न" अर्थात् भोजन करने वाला कहा गया है । सायण ने इसका अर्थ "सर्वत्र व्यापक" किया है । तृतीय भ्राता "घृतपृष्ठ" के रूप में चित्रित है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ने तीन भ्राताओं के माध्यम से जीवनतत्त्व के तीन विशेष लक्षणों की ओर सड्.केत किया है । जहाँ भी प्राण या जीवन अस्तित्व में रहता है, वहाँ ये तीनों तत्त्व निश्चित रूप से विद्यमान रहते हैं । इन्हें तीन नियमों के रूप में जाना जा सकता है । जीवन का प्रथम लक्षण वृद्धि है, द्वितीयं अशन या अन्न–ग्रहण करना तथा तृतीय प्रजनन है । जहाँ भी भूत का प्राण के साथ संयोग होता है, वहाँ शारीरिक वृद्धि अवश्य होती है । वृद्धि का अर्थ – छोटे से बड़ा होना है । हर क्षण शरीर में भूतों का कूट बदलता रहता है । वृद्धि के इस नियम में एक पक्ष का छोटा और दूसरे पक्ष का बड़ा होना आवश्यक है । पहले को बालक और दूसरे को वृद्ध भी कहा जा सकता है । इसी प्रकार एक को "वामन" और दूसरे को "विराट्" भी कह सकते हैं । जो वामन है, वही विराट् के रूप में हमारे सामने आता है । "शतपथब्राह्मण" में कहा गया है कि जो वामन था, वस्तुतः वही विष्णु था ।[2] वामन जब महिमभाव से युक्त होता है, तो वही विराट् के भाव को प्राप्त करता है । माता–पिता के शोणित–शुक्र के संयोग से गर्भगत भ्रूण वामन के रूप में है । वही क्रमशः वृद्धि–प्राप्त करता हुआ पूरे शरीर के रूप में हमारे सम्मुख आता है । वृद्धि का यह क्रम सतत प्रवर्तमान है । वामन को विष्णु के रूप में लाने का कारण "गति" है, जो देश और काल में प्रकट होती है । तीन लोक और तीन काल ही वस्तुतः विष्णु के तीन चरण हैं । वामन और विराट्, केन्द्र और परिधि, बिन्दु और मण्डल, अणु और महान् इन द्वन्द्वों में यद्यपि परस्पर महान् भेद दृष्टिगत होता है, किन्तु तात्त्विक रूप से दोनों एक हैं । दोनों का पार्थक्य वृद्धि या महिमभाव पर ही आश्रित है । ऋषि ने "वाम" और "पलित" विशेषणों द्वारा इसी तथ्य को निर्दिष्ट किया है । वह आदित्य, वामत्व तथा वार्धक्य दोनों को द्योतित करता है । जो वाम है, वही वामन, बटुक, कुमार या प्राण का नया–

---

1. आप्टे, वामन शिवराम – संस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 596.
2. वामनो ह विष्णुरास । शतपथब्राह्मण 1.2.5.5.

   स हि वैष्णवो यद् वामनः । वही, 5.2.5.4.

नया अवतार है । इसके विपरीत अखण्ड, चैतन्य, अनादि अनन्त प्राणतत्त्व सदा अविचल है । वह मार्कण्डेय या लोमश के समान सहस्रायु है । वही पलित है । वह पृथ्वी और आकाश के विशाल अन्तराल में व्याप्त वृक्ष के समान स्तब्ध और ऊर्ध्व है ।

इस प्रकार प्राणाग्नि के ही दो रूप हमारे समक्ष आते हैं । प्रथम देशकाल में जन्म लेने वाला पालक है और द्वितीय देशकाल से अतीत होते हुए भी ध्रुव सत्ता वाला है, जिसे "पलित" कहा गया है । बाल तथा वृद्ध दोनों एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं । इसे "उभयतः शीर्ष्ण" भी कहा जा सकता है । इसका एक सिर कुमार या वाम का तथा दूसरा पलित या वृद्ध का है । वृद्धि या महिमभाव इन दोनों का नियामक स्पन्दन है । इसे ही प्रथम भ्राता के रूप में चित्रित किया गया है । अब प्रश्न यह उठता है कि उसे मन्त्र में "होता" क्यों कहा गया है ? "होता" कहे जाने के कारण उसमें "अग्नित्व" की भावना उपस्थित हो जाती है । अन्य अनेक स्थलों पर "अग्नि" को ही "होता" के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।[1] ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र भी अग्नि को "होता" स्वीकार करता है ।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि होतृ शब्द द्वारा ऋषि का इष्ट अग्नि ही है । सूक्त में अन्यत्र भी अग्नि के सन्दर्भ आए हैं । ग्यारहवें मन्त्र में सीधे अग्नि को सम्बोधित भी किया गया है । उन्नीसवें मन्त्र में इन्द्र तथा सोम की चर्चा आई है, जिनका यज्ञ से निकट का सम्बन्ध है । तैंतालीसवें मन्त्र में "उक्ष" पद के प्रयोग द्वारा सोम का ही निर्देश प्राप्त होता है । इसी प्रकार पैंतीसवें मन्त्र में भी सीधे सोम का सन्दर्भ आया है । मन्त्र सङ्ख्या पैंतीस तथा पचास भी यज्ञ का उल्लेख करते हैं । इन सभी तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि पूरे सूक्त की पृष्ठभूमि में यज्ञ है तथा प्रथम मन्त्र में आया "होतृ" पद, किंवा तीनों भ्राता अग्नि के ही विविध रूप हैं । ऐसी स्थिति में पूरे सूक्त में आए "रथ" के रूपक पर विचार करना आवश्यक है । "रथ" का सीधा सम्बन्ध आदित्य से ही है । अग्नि का सम्बन्ध कहीं भी रथ के साथ नहीं स्थापित किया गया है । अग्नि के विभिन्न रूप एक ही अग्नि में समाहित हो जाते हैं, अतः एक साथ कई अग्नियों की चर्चा होना तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता । इस दृष्टि से ऋषि ने निश्चित रूप से "आदित्य" को ही प्रथम भ्राता के रूप में चित्रित किया है । जहाँ तक होतृत्व का प्रश्न है, आदित्य के "होता" होने में कोई विसङ्गति नहीं

---

1. यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टः । ऋग्वेद 10.88.4 तथा द्रष्टव्य – वही, 10.88.19.
2. होतारं रत्नधातमम् । वही, 1.1.1.

प्रतीत होती है, क्योंकि "होता" शब्द का अर्थ आह्वान करने वाला अथवा सायण के अनुसार आह्वान किये जाने योग्य भी है । सूर्य अपने उदय के साथ ही लोगों को अपने-अपने कार्यों में सन्नद्ध होने के लिए प्रेरित करता है । यह मित्र को सम्बोधित एक मन्त्र में कहा गया है, जो सूर्य या आदित्य का ही एक अन्य रूप है ।[1] उसे जड़-चेतन का आत्मा भी कहा गया है ।[2] दूसरी बात यह है कि आदित्य का भी यज्ञ में विशेष स्थान है । यहाँ तक कि आह्वनीयाग्नि के पूर्व की ओर परिधि न रखकर वहाँ आदित्य की ही साक्षात् भावना कर ली जाती है ।[3] आज भी आदित्य को साक्षात् देव के रूप में स्वीकार किया जाता है । इन सभी तर्कों से यह प्रमाणित होता है कि ऋषि द्वारा प्रथम मन्त्र में प्रतिपादित प्रथम भ्राता "आदित्य" ही है । यह द्युलोक का स्वामी है, जो सभी लोकों में सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है । इसे सत्यलोक भी कहा जाता है ।

अन्न ग्रहण करना जीवन के लिए परमावश्यक है । इसीलिए यह जीवन का दूसरा प्रमुख लक्षण है । भूतों में प्राण का अस्तित्व आते ही अन्न तथा अन्नाद का नियम प्रवर्तित हो जाता है । शरीर की दृष्टि से इसे अग्नि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । यह प्राण या अग्नि "अन्नाद" है । सोम ही इसका अन्न है । फल, शाक, धान्य, दुग्ध इत्यादि समस्त भोज्य पदार्थ सोम के ही विभिन्न रूप हैं । सोम का भक्षण करके ही जठराग्नि तृप्त होता है । जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त यह क्रम चलता रहता है । स्थूल अन्न से सूक्ष्म शक्ति का निर्माण शरीर के अन्दर अनेक यन्त्रों की विचित्र रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा होता है । छोटी पिपीलिका से लेकर हाथी पर्यन्त सभी के शरीरों का यही शाश्वत नियम है । वृक्ष तथा वनस्पतियों में भी यही नियम प्रवर्तमान है । बाहर से जो भी अन्न ग्रहण किया जाता है, पचने के बाद उससे शक्ति निर्मित होती है तथा उसका एक भाग उच्छिष्ट के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है । अन्न का जो अंश, जठराग्नि शक्ति तथा शरीर-संवर्द्धन के लिए अपने ही केन्द्र में आत्मसात् कर लेता है, उसे "ब्रह्मौदन" कहा जाता है । शरीरस्थ वैश्वानर

---

1. मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणः । ऋग्वेद 3.59.1.
2. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । वही, 1.115.1.
3. (क) न पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति ।
   तैत्तिरीय संहिता - 2.6.6.3.

   (ख) गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति ।
   शतपथब्राह्मण 1.3.4.8.

अग्नि ही "ब्रह्म है तथा इसका जो भी पदार्थ भक्ष्य है वह "ओदन" है । "ब्रह्मौदन" अन्नाद के रूप में है, क्योंकि वह अन्न का भक्षण करता है । "ब्रह्मौदन" के साथ "प्रवर्ग्य" भी रहता है । प्राणी के शरीर से बाहर किये गए अन्न के अंश को ही "प्रवर्ग्य" कहते हैं । इस दृष्टि से यह पूरा विश्व ही ब्रह्म का उच्छिष्ट या "प्रवर्ग्य" है । ऋषि द्वारा प्रतिपादित द्वितीय भ्राता भक्षणशील है । उसे "अन्नाद" के रूप में माना जा सकता है । इस दृष्टि से उसे वैश्वानर अग्नि भी कहा जा सकता है ।

वस्तुतः मध्यमभ्राता के लिए ऋषि द्वारा दिये गए विशेषण "अश्नः" का अर्थ "अशूङ् व्याप्तौ" इस धातु से मानते हुए "व्यापक" या "सर्वत्र व्याप्त" करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है । "द्युलोक" के पुरोहित "आदित्य" की प्रतिष्ठा प्रथम भ्राता के रूप में हो जाने के उपरान्त साधारणतः प्रसिद्ध मध्यम लोक या अन्तरिक्ष लोक का नाम आना स्वाभाविक है । इसका अधिपति या पुरोहित वायु है । वह सर्वत्र विचरिष्णु तथा व्याप्त है ।[1] जहाँ तक "अश्नः" का अर्थ "भक्षणशील" करने से है, यह वायु के लिए भी अयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वायु का धर्म शोषण करना या सुखाना है ।[2] इस प्रकार रसों को अवशोषित करना भी भक्षण का ही एक रूप है । अतः "वायु" को ही द्वितीय भ्राता के रूप में मानना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

मन्त्र में तृतीय भ्राता के लिए "घृतपृष्ठ" विशेषण का प्रयोग किया गया है । जीवन के तत्त्वों की दृष्टि से विचार करने पर "प्रजनन" तीसरे प्रमुख तत्त्व के रूप में हमारे सामने आता है । "अथर्ववेद" के अनुसार जब पुरुष के शरीर का निर्माण होने लगा, तब जिस "रेतस्" या शुक्रतत्त्व से शरीर बना, उसी के माध्यम से देवगण पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हुए ।[3] "तैत्तिरीय" एवं "शतपथ ब्राह्मण" में "प्राण" एवं "रेतस्" को ही "आज्य" कहा गया है ।[4] "आज्य" तथा "घृत" में कोई भेद

---

1. यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । श्रीमद्भगवद्गीता – 9.6.
2. न शोषयति मारुतः । वही, 2.23, इससे वायु का शोषकत्व स्फुट है.
3. रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् । अथर्ववेद – 11.8.29.
4. (क) प्राणो वै आज्यम् । तैत्तिरीय ब्राह्मण – 3.8.15.2.3.
   (ख) रेतो वै आज्यम् । शतपथ ब्राह्मण 1.3.1.18 तथा 1.5.3.16.
   (ग) एतद् वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यम् । वही, 13.3.6.2.

नहीं है । विभिन्न "ब्राह्मण" ग्रन्थों में उपलब्ध लक्षणों के अनुसार "आज्य" तथा "घृत" एक ही पदार्थ हैं ।[1] प्रस्तुत सूक्त में भी जगत् की उत्पत्ति के लिए आवश्यक शुक्रतत्त्व को "रेतस्" कहा गया है।[2] इसी को "प्रत्न रेतस्" भी कहा जाता है । यह इस प्रकार का अनादि, अनन्त और शाश्वत "रेतस्" तत्त्व है, जिसके द्वारा एक ओर अखिल विश्व की तथा दूसरी ओर उसी के अङ्गभूत समस्त प्राणियों की उत्पत्ति हो रही है । यही रेतस् या घृत प्रजनन का प्रतीक है । इसी के द्वारा प्राण या जीवन तत्त्व का तीसरा नियम निर्दिष्ट होता है । जहाँ भी जीवन का अस्तित्व है, वहाँ रेतस् या प्रजनन अवश्यम्भावी है । जीवन का यही स्वभाव है कि वह जिस "बीज" से उत्पन्न होता है, स्वयं भी परिपक्व होने पर उसी प्रकार के "बीज" का निर्माण करता है । बीज से प्रारम्भ करके पुनः बीज तक पहुँचना ही जीवन का चक्र है । जो बालक बीज से जन्म लेता है, वह पहले कच्चा रहता है, किन्तु बीज की सत्ता उसकी शारीरिक धातु में अवश्य रहती है । वही कच्चा बीज उसके युवा होने पर पक जाता है । पका हुआ बीज अपने ही जैसे बीज को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है । यही यौवन का प्रभाव है । बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था, ये तीनों ही जीवन रूपी संवत्सर की तीन ऋतुएँ हैं । जीवन को यदि गायत्री शक्ति कहा जाए, तो आयु की तीन अवस्थाएँ ही उसकी तीन समिधाएँ हैं, जिनके प्रज्वलन से प्राण अपना स्वरूप प्रकट करता है । शरीर–रचना की दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसके लिए सात धातुओं का होना परमावश्यक है । ये सातों – रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र हैं ।[3] इनमें शुक्र–निर्माण हेतु पूर्व के छः तत्त्व क्रमशः सम्मिलित रहते हैं । शुक्र ही केन्द्रीय नाड़ी–जाल का सिञ्चन करते हुए मस्तिष्क को पोषण और शक्ति देता है । इस प्रकार मन्त्र में आए तीसरे भाई को "प्रजनन" तत्त्व के रूप में समझा जा सकता है ।

---

1. (क) तेजो वा एतत्पशूनां यद् घृतम् । ऐतरेय ब्राह्मण 8.20.
   (ख) आग्नेयं वै घृतम् । शतपथब्राह्मण 8.4.1.41 तथा 9.2.2.3.
   (ग) सर्वं दैवत्यं वै घृतम् । कौशीतकि. 21.4.
   (घ) रेतो वै घृतम् । शतपथब्राह्मण 9.2.3.44.
   (ङ) रेतः सिक्तिर्वै घृतम् । कौ. 16.5.
2. सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः । ऋग्वेद 1.164.36.
3. रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । सुश्रुत–संहिता.

देववादी दृष्टि से विचार करने पर आदित्य तथा वायु के दो लोकों – द्युलोक तथा अन्तरिक्ष का प्रज्ञापक होने पर तीसरे तथा प्रमुख पृथिवी लोक का स्वरूप हमारे सम्मुख स्वतः आता है । यहाँ का प्रत्यक्ष देव अग्नि ही है । उसके लिए मन्त्र में आया "घृतपृष्ठ" शब्द युक्तियुक्त प्रतीत होता है । हवन हेतु जो भी हविष्य तैयार किया जाता है, वह घृताक्त ही होता है । इसके अतिरिक्त पृथक् रूप से घी का स्वतन्त्र हवन भी किया जाता है । अतः "घृतपृष्ठ" विशेषण द्वारा निश्चित रूप से ऋषि का अभिप्राय अग्नि के लिए ही है । इस प्रकार मन्त्र में वर्णित तीन भ्राता – आदित्य, वायु एवं अग्नि ही प्रमाणित होते हैं । "विश्पति" विशेषण आदित्य का है । वही समस्त प्रजाओं – प्राणियों का स्वामी है । "सप्तपुत्र" द्वारा आदित्य की ही सात रश्मियों को निर्दिष्ट किया गया है । इसे दार्शनिक दृष्टि से मन, प्राण और पञ्चमहाभूतों के रूप में भी कल्पित किया जा सकता है । ये सात तत्त्व ही शरीर रूपी यज्ञ के होता हैं । ये परस्पर भिन्न हैं । इनमें मन सबसे अधिक सूक्ष्म है । मन की अपेक्षा "प्राण" कम सूक्ष्म है तथा इसकी अपेक्षा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी भी उत्तरोत्तर स्थूल होते जाते हैं । इन पञ्चमहाभूतों का सम्मिलित सङ्केत "वाक्" है । वाक् या शब्द, आकाश का गुण है और यह आकाश इन पाचों में सूक्ष्म होने के कारण सभी का सूचक है । मन्त्र में आए "अत्र अपश्यम्" पद द्वारा यह ज्ञात होता है कि ऋषि ने तात्त्विक साक्षात्कार कर लिया है और वह साक्षात्कार सबके लिए इस लोक में ही सम्भव है ।

"त्रिक" और "सप्तक" वैदिक परिभाषाओं के सूत्र हैं । जो मूल में एक है, वही सर्वप्रथम "त्रिक" भाव को प्राप्त करता है । इसके बाद त्रिक से ही मन, प्राण और पञ्चभूतों के योग से सप्तधा रूप निर्मित हो जाता है । जो तत्त्व शरीर के लिए "प्राणाग्नि" है, वही ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सूर्य हो जाता है । इसीलिए सूर्य को प्रजाओं का प्राण कहा गया है ।[1] वह न केवल किसी लोक–विशेष का ही इष्ट है, अपितु वह प्राणिमात्र के लिए समान रूप से हितकर एवं उपादेय है । इसीलिए तीनों भ्राताओं में उसे सर्वोच्च रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । मूलतः इस सम्पूर्ण सृष्टि में आदित्य, वायु तथा अग्नि – ये तीनों भ्राता अनुप्रविष्ट हैं । इसीलिए इनका उपपादन ऋषि द्वारा प्रथम मन्त्र में ही कर दिया गया है । वेङ्कटमाधव ने भी इन्हीं तीन को तीन भ्राताओं के रूप में स्वीकार किया है ।[2]

---

1. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । प्रश्नोपनिषद् 1.8.
2. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.1 पर वेङ्कटमाधव का भाष्य.

ऋषि ने सूक्त के चौवालीसवें मन्त्र में भी तीन, केशी अर्थात् किरणों वाले देवताओं की चर्चा की है । उनमें से एक संवत्सर में एक बार अपना भाग ग्रहण करता है । दूसरा अपनी किरणों से विश्व का निरीक्षण करता है तथा तीसरे की केवल गति दिखाई देती है, रूप नहीं ।

उक्त देवताओं के स्वरूप पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रथम मन्त्र में वर्णित तीनों भ्राता ये ही हैं । संवत्सर में अपना भाग ग्रहण करने वाला भ्राता अग्नि है, क्योंकि यज्ञार्थ वर्ष में एक बार अग्नि समिद्ध करने के बाद प्रतिदिन उसी के माध्यम से अग्निहोत्रादि कर्म सम्पन्न किये जाते हैं । अपने कर्मों या किरणों से जगत् का निरीक्षण करने वाला देव स्पष्टतः सूर्य या आदित्य ही है । तीसरे भ्राता (जो प्रथम मन्त्र में मध्यम भ्राता के रूप में प्रतिष्ठित है) की केवल गति दृष्टिगत होती है, अतः वह वायु ही है, क्योंकि उसका रूप नहीं प्रत्यक्ष होता, मात्र स्पर्शादि से हम उसके अस्तित्व को जान पाते हैं । इस प्रकार ऋषि ने प्रथम मन्त्र में जिन तीन देवताओं को भ्रातृरूप में प्रतिष्ठित करना चाहा है, उन्हें ही चौवालीसवें मन्त्र में और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है ।

(2) **रथ-निरूपण :-** ऋषि ने प्रथम मन्त्र में आदित्य, वायु तथा अग्नि का भ्राताओं के रूप में निरूपण करने के उपरान्त द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र में रहस्यात्मक भाषा में "रथ" का निरूपण किया है । वह "रथ" एक चक्र वाला है । सायण के अनुसार यद्यपि रथ तीन चक्रों वाला है, तथापि उन चक्रों के एकरूपात्मक होने के कारण मन्त्र में उसे एक चक्रवाला ही कहा गया है ।[1] उन्होंने इसका एक वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए बताया है कि वह रथ एक चक्रवाला अर्थात् अकेले ही चलने वाला आदित्यमण्डल ही है ।[2] आत्मानन्द ने आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए रथरूपकल्पित शरीर को ही रथ माना है । वह "रथ" एक चक्रवाला इसलिए है कि मात्र काल ही चक्र के समान उसे भ्रमण कराता है ।[3] कठोपनिषद् में भी "शरीर" को "रथ" के रूप में ही कल्पित किया गया

---

1. एकचक्रम् एकरथाङ्गोपेतम् । यद्यपि त्रीणि चक्राणि तथापितेषामेकरूपत्वादेकचक्रमित्युच्यते । ऋग्वेद 1.164.2 पर सायणभाष्य.
2. यद्वा एकचक्रमेकचारिणमसाहाय्येन सञ्चरन्तं रथमादित्यमण्डलम् । वही.
3. रथं रथरूपकल्पितं शरीरम् । एकचक्रम् एकः कालः चक्रवद्भ्रामको यस्य तम् । वही, आत्मानन्दभाष्य.

है ।[1] वेङ्‌कटमाधव ने काल को रथ तथा संवत्सर को "एकचक्र" माना है ।[2] तीसरे मन्त्र में "रथ" को सात चक्रों वाला बताया गया है । सायण ने चलने या क्रमण करने के कारण सूर्य की सात किरणों को ही सात चक्रों के रूप में स्वीकार किया है[3], जबकि आत्मानन्द ने पूर्वमन्त्र में आए एक चक्रवाले रथ को सूक्ष्म देह तथा इस सात चक्रों वाले रथ को स्थूल देह के साथ सम्बद्ध किया है । उनके अनुसार जो सात अङ्‌ग हैं, उन्हीं से अधिष्ठित सात चक्रों वाला स्थूल शरीर है ।[4] उन्होंने द्वितीय मन्त्र के भाष्य में जिन पञ्च तन्मात्रों, महत् तथा अहङ्‌कार को सात अश्वों के रूप में माना है, सम्भवतः उन्हें ही यहाँ सप्ताङ्‌गों के रूप में कल्पित किया गया है । वेङ्‌कटमाधव ने "सप्तचक्र" का अर्थ "सप्तर्तुचक्र" अर्थात् सात ऋतुओं के चक्रवाला किया है ।[5] सातवलेकर जी ने आदित्यमण्डल को ही गतिशील रथ तथा सूर्य को एकमात्र चक्र माना है ।[6]

द्वितीय मन्त्र में ही रथ को ढोने वाले सात घोड़ों को, पुनश्च सात नामों वाले एक ही घोड़े को वाहक बताया गया है । आगे तीसरे मन्त्र में स्पष्टतः सात अश्वों को ही रथ का वाहक माना गया है । आदित्यमण्डल को रथ मानते हुए सायण ने सात घोड़ों को सर्पणस्वभाव वाली या सात सङ्‌ख्यात्मक रश्मियाँ माना है । उन्होंने सात प्रकार के कार्य वाली असाधारण तथा परस्पर विलक्षण छः ऋतुओं के साथ एक साधारण ऋतु की कल्पना करते हुए सात संख्या का उपपादन किया है । अथवा दो–दो महीनों की अवधि वाली छः ऋतुओं के साथ अधिकमास को भी एक पृथक् ऋतु मानकर सात ऋतुएं हो जाती हैं । वह अकेला "अश्व" अर्थात् व्यापनशील आदित्य ही सप्तनामा अर्थात् सात रसों की सन्नमयिता किरणों से युक्त होकर अथवा सप्तर्षियों से स्तुत होते हुए रथ को वहन करता

---

1. शरीरं रथमेव च । कठोपनिषद् 3.3.
2. कालरथं संवत्सरैकचक्रम् । ऋग्वेद 1.164.2 पर वेङ्‌कटमाधव–भाष्य.
3. चकनाच्चरणात् क्रमणाद्वा चक्राणि रश्मयः । वही, 1.164.3 पर सायणभाष्य.
4. सूक्ष्मदेहमाश्रित्योक्तम् । अथ स्थूलदेहमाश्रित्योच्यते । इमं प्रत्यक्षादिसन्निहितं रथं स्थूलदेहम् अधि अधिष्ठाय आश्रित्य ये तस्थुः । यानि सप्ताङ्‌गानि वर्तन्ते तैरेव सप्ताङ्‌गैः सप्तचक्रो देहः । वही, आत्मानन्द–भाष्य.
5. वही, वेङ्‌कटमाधव–भाष्य.
6. वही, 1.164.2 पर सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य.

है । इस प्रकार सायण ने आदित्य को ही एकमात्र अश्व माना है, जो इस रथ को वहन करता है । उनके अनुसार सात घोड़ों का तात्पर्य सात किरणों से है ।[1] उन्होंने वैकल्पिक रूप से वायु को भी अश्व माना है ।[2] आत्मानन्द सूक्ष्म शरीर रूपी रथ के लिए पञ्च तन्मात्रों तथा महत् एवं अहङ्कार को सात अश्वों के रूप में स्वीकार करते हैं, जबकि एक अश्व के रूप में वे मात्र "अहङ्कार" को ही मानते हैं ।[3] दार्शनिक दृष्टि से अहङ्कार को "अश्व" के रूप में वाहक मानना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि व्यक्ति इसके द्वारा ही कहीं भी प्रवृत्त होता है । स्थूल शरीर रूपी रथ के लिए आत्मानन्द ने रजस् तथा तमस् के साथ पञ्च कर्मेन्द्रियों को सात अश्वों के रूप में स्वीकार किया है। सायण आदित्यमण्डल रूपी रथ के लिए तो सात किरणों को उसमें अधिष्ठित मानते हैं, किन्तु संवत्सर रूपी रथ के लिए उन्होंने अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, रात्रि तथा मुहूर्त्त को संवत्सर में अधिष्ठित माना है ।[5] ग्रिफिथ ने भी सायण का ही अनुगमन किया है ।[6]

द्वितीय मन्त्र के तीसरे चरण में रथ को "त्रिनाभि" अर्थात् तीन नाभियों वाला कहा गया है । ये तीन नाभियाँ कौन सी हैं ? इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है । सायण ने इसका अर्थ "तीनों

---

1. सर्पणस्वभावाः सप्तसंख्याका वा रश्मयः। सप्तप्रकारकार्या असाधारणाः परस्परविलक्षणाः षड् ऋतवः। एकः साधारण इत्येवम्। अथवा मासद्वयात्मकाः षट्। अपरोऽधिकमासात्मक इत्येवं सप्तर्तवो युञ्जन्ति। स चैकोऽसहायोऽश्वो व्यापनशील आदित्यः सप्तनामा सप्तरसानां सन्नमयितारो रश्मयो यस्य तादृशः सप्तर्षिभिः स्तूयमानो वादित्यो वहति धारयति। ऋग्वेद 1.164.2 पर सायणभाष्य.
2. एक एव वायुः सप्तरूपं धृत्वा वहतीत्यर्थः। वाय्वधीनत्वादन्तरिक्षसञ्चारस्य । वही.
3. तन्मात्राः पञ्च । महदहमौ च द्वौ । एवं सप्त युञ्जन्ति ।..... एक एव अहङ्कारो–ऽश्वस्थानीयो वहति चेष्टयति । वही आत्मानन्दभाष्य.
4. सप्त अश्वाः रजस्तमः सहितानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि वहन्ति गमयन्ति चालयन्ति । ऋग्वेद 1.164.3 पर आत्मानन्दभाष्य.
5. ये सप्त रश्मयः अधि तस्थुः अधिष्ठिताः । संवत्सरपक्षेऽयनर्तुमासपक्षदिवसरात्रिमुहूर्त्ताख्याः सप्तावयवा अधितिष्ठन्ति । वही, सायणभाष्य.
6. वही, 1.164.3 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी.

वलयों के मध्य में स्थित नाभिस्थानीय तीन छिद्रों से युक्त" किया है । उन्होंने आदित्यमण्डल रूपी रथ के पक्ष में तीन नाभिस्थानीय सन्ध्याओं को अथवा ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त सञ्ज्ञक तीन ऋतुओं को अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीन कालों को तीन नाभियाँ माना है ।[1] आत्मानन्द ने भी इसे तीन कालों से सम्बद्ध करते हुए प्रकृति से पर, प्रकृति से सन्निहित तथा शुद्ध ब्रह्म से अर्वाचीन – इन तीन कालों को स्वीकार किया है ।[2] वेङ्कटमाधव ने चक्र को संवत्सर तथा तीन नाभियों को तीन ऋतुएँ माना है ।[3]

तीसरे मन्त्र के तीसरे चरण में "सात बहनों" की चर्चा आई है । सायण ने "स्वसारः" का अर्थ "स्वयं सरण करने वाली" किया है । अथवा "स्वः", आदित्य है तथा उस आदित्य से सारित या परस्पर स्वसृभूत सात किरणें या सात ऋतुएँ ही सात बहनें हैं ।[4] आत्मानन्द ने धर्म और अधर्म सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को ही भगिनीस्थानीय माना है । ये सातों अन्य इन्द्रियशक्तियों के प्रति प्रवर्तित होती हैं । उन्होंने इतर इन्द्रियशक्तियों के रूप में रजस् और तमस् सहित पञ्च कर्मेन्द्रियों को मानते हुए मन्त्र के अन्तिम चरण में आए "गवाम्" पद से उभयविध इन्द्रियों तथा धर्म, अधर्म, रजस् और तमस् इन सबका ग्रहण किया है । सात नाम इन सबके देवताविषयक तथा पृथक्–पृथक् हैं ।[5] सायण ने

---

1. वलयत्रयमध्यस्थितनाभिस्थानीयच्छिद्रत्रयोपेतम् ।..... तिस्रो नाभिस्थानीयाः सन्ध्याः सम्बद्धाः वा त्रय ऋतवो यस्य तादृशम् । के ते । ग्रीष्मवर्षाहेमन्ताख्याः । यद्वा भूतभविष्यद्वर्तमानाख्याः त्रयः कालास्त्रिनाभयः । ऋग्वेद 1.164.2 पर सायणभाष्य.
2. त्रिधा हि कालो भिद्यते । प्रकृतेः परः प्रकृतिसन्निहितः शुद्धब्रह्मणोऽर्वाचीनः । वही, आत्मानन्दभाष्य.
3. वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य.
4. स्वयंसरणाः । स्वरादित्यः । तेन सारिताः परस्परं स्वसृभूता वा सप्तसंख्याका वा रश्मय ऋतवश्च । ऋग्वेद 1.164.3 पर सायणभाष्य.
5. सप्त धर्माधर्मसहितानि ज्ञानेन्द्रियाणि स्वसारो भगिनीस्थानीयानि इतरेन्द्रियशक्तीनाम् अभि आभिमुख्येन सं नवन्ते प्रवर्तन्ते । यत्र विषये गवां रजस्तमः सहितानां कर्मेन्द्रियाणां तथा धर्माधर्मसहितानां ज्ञानेन्द्रियाणां च निहिता नितरां हितानि अनुकूलानि सप्तसंख्याकानि नाम नामानि दैवतानि इन्द्रियदेवताः । वही, आत्मानन्द का भाष्य.

"गवाम्" का अर्थ "स्तुतिरूपा वाणी" तथा इनके सात नामों को सात स्वरों के रूप में सात प्रकार का नमन माना है । तात्पर्य यह है कि वह "रथ" सात स्वरों से युक्त "सामों" द्वारा स्तुत्य है । अथवा "गवाम्" पद उदकवाची है, अतः इन जलों के सात नाम अर्थात् सात नमन के प्रकार सातों बहनों में निहित हैं ।[1] ग्रिफिथ ने दूसरे मन्त्र के प्रारम्भ में आए "सप्त" का अर्थ – सात पुरोहित, एकचक्र का – सूर्य, सप्तनामा का – सात किरणें, त्रिनाभि का – ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् तथा तीसरे मन्त्र में आए "सप्तस्वसारः" का अर्थ – सात द्युस्थानीय नदियाँ किया है, जो उत्पादकता की प्रतीक होने के कारण "गो" कही जाती है । उन्होंने अन्य स्थलों पर प्रायः सायण का ही अनुगमन किया है ।[2]

उक्त दोनों मन्त्रों के माध्यम से रथ का जो स्वरूप हमारे सम्मुख आया है, उसके अनुसार सात घोड़े एक ही चक्र वाले रथ में जुते हुए हैं । वस्तुतः सात नामों वाला एक ही अश्व उसे वहन करता है (मन्त्र 2) । आगे चलकर सात वाहकों को पहले से ही रथ में स्थित बताते हुए उन्हें सात

---

1. गवां वाचां स्तुतिरूपाणां सप्त सप्तविधानि नाम नामानि नमनानि सप्तस्वरूपाणि निहितानि । सप्तस्वरोपेतैः सामभिः स्तुत्यं रथम् इत्यर्थः। यद्वा गवामुदकानां सप्त सर्पणस्वभावानि नाम नामानि यत्र यासु स्वसृषु निहितानि स्वसारः परस्परस्वसृभूता देवनद्योऽभिसं नवन्ते ।
   ऋग्वेद 1.164.2 पर सायणभाष्य.

2. (क) **Seven :** priests. **The One-wheeled chariot :** the Sun. **Seven names :** perhaps the seven solar rays. **Three-naved:** with reference, probably, to the three seasons, the hot weather the rains, and the cold weather.
   ग्रिफिथ – ऋग्वेद 1.164.2 पर टिप्पणी.

   (ख) **Seven sisters:** probably the seven celestial rivers, which, as emblems of fertility may bear the name of cows.
   वही, ऋग्वेद 1.164.3 पर टिप्पणी.

चक्रों वाले रथ के वाहक अश्व बताया गया है । सात बहनें स्तुति कर रही हैं और "गो" के सात नाम "रथ" में निहित बताए गए हैं (मन्त्र 3), जबकि द्वितीय मन्त्र में सारे लोकों को रथ में अधिष्ठित बताया गया है । इन मन्त्रों द्वारा एक बात सुस्पष्ट है कि ऋषि को "सात" सङ्ख्या इष्ट है तथा उन्होंने जहाँ कहीं भी इसका प्रयोग किया है, वह एक ही अर्थ का आधायक है । द्वितीय मन्त्र में यह सङ्ख्या दो बार तथा तृतीय में पाँच बार आई है । यदि प्रथम मन्त्र में विवेचित "आदित्य" को आधार माना जाए तो, रथ के रूप में "आदित्यमण्डल" की कल्पना उचित है । ऐसी स्थिति में "आदित्यमण्डल" को ढोने वाली सात किरणें सदा उसी में स्थित रहती हैं तथा जातिगत ऐक्य (किरणत्व) के कारण उन्हें सात नामों वाले एक ही अश्व के रूप में भी कल्पित किया जा सकता है । जबकि आदित्य, वायु एवं अग्नि तीनों भ्राता हैं, अतः आदित्यमण्डल रूपी रथ के ये तीनों ही तीन नाभियां हैं । अग्नि सारूप्य के कारण नाभि हो सकता है तथा वायु सबका संवाहक है अतः रथ उसके साहाय्य के बिना गतिशील नहीं हो सकता । तीसरी नाभि आदित्य स्वयं ही है, क्योंकि उसके बिना आदित्यमण्डल की कल्पना ही नहीं की जा सकती है । सात किरणें सदा उस रथ में विद्यमान रहती हैं । इन्हीं के कारण वह रथ सात चक्रों वाला है तथा ये ही उसके सात घोड़े भी हैं । ये सात किरणें ही सात बहनें हैं तथा सङ्गीत के सात स्वरों के माध्यम से वे आदित्यमण्डल रूपी रथ की स्तुति करती हैं । इस प्रकार वेद रूपी वाणी के स्वररूपी सात नाम उस रथ में ही अधिष्ठित हैं । तात्पर्य यह है कि वाणी का प्रतिपाद्य वह मुख्य भ्राता आदित्य, किञ्च आदित्यमण्डल है ।

संसार का सबसे बड़ा रहस्य स्वयं संसार ही है । इसे समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है । इसको समझने के लिए "काल" को जानना आवश्यक है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि संवत्सर के रूप में काल को, अथ च इस संसार की गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता को निरूपित करना चाहता है। संवत्सर का विभाजन विभिन्न ऋतुओं, कालों इत्यादि के रूप में किया जा सकता है । "पुरुष सूक्त" में भी वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु को सृष्टि यज्ञ के निष्पादनार्थ "आज्य", "इध्म" तथा "हवि" के रूप में कल्पित करना सम्भवतः संवत्सर की ओर निर्देश करना ही है ।[1] "अघमर्षण सूक्त" में तो स्पष्टतः "संवत्सर" की उत्पत्ति बताई गई है ।[2] अतः सम्भव है, यहाँ भी ऋषि ने जगत् की अवधारणा के

---

1. ऋग्वेद 10.90.6.
2. वही, 10.90.2.

पीछे संवत्सर रूपी काल को ही रथ के रूप में प्रतिपादित करना चाहा हो । इस स्थिति में संवत्सर रूपी रथ के लिए अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिवस, रात्रि और मुहूर्त्त को सात घोड़ों के रूप में माना जा सकता है । ये ही संवत्सर को आगे बढ़ाते हैं । यद्यपि ये सङ्ख्या में सात हैं, तथापि इनका उद्देश्य एक ही होने के कारण इन्हें एक चक्र अथवा सात भिन्न-भिन्न नामों वाले एक ही अश्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । इसकी तीन नाभियाँ भूत, भविष्य और वर्तमान हैं । इनमें से किसी एक का ग्रहण करने पर भी शेष दोनों स्वतः उपस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार संवत्सररूपी रथ का चक्र इन तीन नाभियों से युक्त है । उक्त सातों में अथवा एक चक्र में भी ये तीनों काल अनुस्यूत हैं । इसी संवत्सर रूपी रथ में सारे लोक स्थित हैं । अश्वस्थानीय या चक्रस्थानीय ये सातों, रथ में सदा अधिष्ठित रहते हुए इसका वहन करते हैं । ये परस्पर तारतम्य के कारण स्वसृभूत हैं तथा सङ्गीत के सात स्वरों द्वारा रथ की स्तुति करते हैं अर्थात् रथ के कार्य-सम्पादन में सन्नद्ध रहते हैं । ऋषि की वेद रूपी वाणी के सप्तस्वरात्मक नाम इस रथ में ही निहित हैं । अथवा गायत्री इत्यादि सात छन्दों की चरितार्थता संवत्सर रूपी रथ के सम्यक् उपपादन में ही निहित है ।

जहाँ तक आत्मानन्द द्वारा विवेचित रथ के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरपरक अर्थ का प्रश्न है, दार्शनिक दृष्टि से उसका भी ग्रहण किया जा सकता है । उस रूप में महत्, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्रों और धर्म, अधर्मसहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियों अथवा रजस्-तमस् सहित पञ्च कर्मेन्द्रियों को सप्ताश्वों, सप्तचक्रों, सप्तस्वसाओं तथा सप्तनामों के रूप में कल्पित किया जा सकता है ।

सूक्त के द्वितीय तथा तृतीय मन्त्र में रथ की जो अवधारणा ऋषि द्वारा प्रस्तुत की गई है, उसका पल्लवन मन्त्र सङ्ख्या ग्यारह से लेकर पन्द्रह तक तथा पुनः अड़तालीसवें मन्त्र में भी किया गया है । ग्यारहवें मन्त्र में रथचक्र को बारह अरों-तीलियों वाला बताते हुए उसे कभी नष्ट न होने वाला तथा द्युलोक के चारों तरफ भ्रमण करने वाला बताया गया है । वह चक्र "ऋत" का है तथा उसमें मिथुनभाव से सात सौ बीस पुत्र स्थित हैं । सायण ने "ऋत" का अर्थ "उदक" करते हुए इसे सत्यस्वरूप "आदित्य का वाचक माना है । उन्होंने बारह अरों को मेषादि बारह राशियों अथवा वर्ष के बारह महीनों के रूप में स्वीकार किया है ।[1] आत्मानन्द ने "ऋत" का अर्थ परमात्मा करते हुए

---

1. ऋतस्य उदकस्य सत्यात्मकस्य आदित्यस्य.....द्वादशारं द्वादशसङ्ख्याकमेषादिराश्यात्मकै- -र्मासात्मकैर्वा अरैः रथाङ्गावयवैः युक्तम् । ऋग्वेद 1.164.11 पर सायणभाष्य.

उनसे सम्बद्ध प्रकाशस्वरूपा ब्रह्मविद्या का अभाव होने पर कालचक्र के प्रभाव को स्वीकार किया है।[1] उनका तात्पर्य यह है कि जिन्हें ब्रह्मविद्या का ज्ञान नहीं होता, उन्हें ही कालचक्र अपने वश में रखता है, ब्रह्मज्ञानी को यह प्रभावित नहीं करता । ग्रिफिथ ने सायण का अनुगमन करते हुए सात सौ बीस पुत्रों को वर्ष के तीन सौ साठ दिनों के दिन–रात का युग्म मानकर उपपन्न किया है । वे बारह अरों को वर्ष के बारह मास मानते हुए "ऋत" का अर्थ "विधान" करते हैं ।[2]

प्रकृत स्थल पर भी संवत्सरात्मक चक्र की कल्पना की गई है । बारह महीने ही चक्र की बारह तीलियाँ हैं । यह कभी नष्ट नहीं होता है, सदैव एक समान चलता रहता है । दिन–रात के युग्म के रूप में सात सौ बीस मिथुन पुत्रों की कल्पना भी स्पष्ट तथा उचित है । जहाँ तक "ऋत" का अर्थ करने का प्रश्न है, उसे यहाँ प्राकृतिक नियमों के विधायक के रूप में स्वीकार करना चाहिए । चक्र का क्रमण अथवा सारे जगत् का व्यवहार "ऋत" की पृष्ठभूमि में ही होता है । वही सबका प्रवर्तक है । मन्त्र के तीसरे चरण में अग्नि को सम्बोधित किया गया है । ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अग्नि के तेजोरूप में विद्यमान सूर्य को सम्बोधित किया गया है अथवा यज्ञ के समय यह सम्बोधन साक्षात् यज्ञाग्नि के लिए प्रयुक्त किया गया है । वस्तुस्थिति चाहे जो भी रही हो, इसे सूर्य या अग्नि दोनों के ही सम्बोधन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

सूक्त का बारहवाँ मन्त्र सूर्य से सम्बद्ध प्रतीत होता है । इसमें उसे "पिता" कहा गया है। वह पाँच पैरों तथा बारह आकृतियों वाला है तथा जल से युक्त है । उसे द्युलोक के ऊपर अर्थात् दूर

---

1. ऋतस्य सत्यस्य परमात्मनः सम्बन्धिनीं द्यां द्योतमानां ब्रह्मविद्यां परि ऋते विना वर्जयित्वा वर्तते । ब्रह्मविद्याया अभाव एव कालचक्रप्रभाव इत्यर्थः । वही, आत्मानन्द–भाष्य.

2. (क) The wheel formed with twelve spokes is the year with its twelves months. The seven hundred and twenty sons, joined in pairs, are the days and nights of the year, three hundred and sixty of each.

   (ख) This wheel of during order.

   वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी एवं अनुवाद.

स्थित बताया गया है । कुछ लोग उसे सात चक्रों तथा छः अरों वाले रथ पर अधिष्ठित विद्वान् या द्रष्टा के रूप में बताते हैं । सायण ने पाँच पैरों का उपपादन हेमन्त और शिशिर को एक ही ऋतु मानते हुए पाँच ऋतुओं के रूप में किया है ।[1] बारह आकृतियाँ बारह महीने ही हैं । सात चक्रों को तीसरे मन्त्र के समान सूर्य की सात रश्मियों अथवा अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात और मुहूर्त – वर्ष के इन सात अङ्गों के रूप में माना जा सकता है । सायण ने "उपरे" का अर्थ संवत्सर किया है ।[2] "विचक्षण" का अर्थ – विद्वान् अथवा विविध प्रकार से देखने वाला करना उचित है । "पुरीष" शब्द निघण्टु (1.12) में उदकवाची शब्दों के साथ परिगणित है, अतः "पुरीषिणम्" का अर्थ जलयुक्त करना चाहिए । इस दृष्टि से आदित्य का "वर्षकत्व" सूचित होता है । मन्त्र के पूर्वार्द्ध में उसे द्युलोक के ऊपर स्थित तथा उत्तरार्द्ध में रथारूढ़ स्पष्टद्रष्टा बताया गया है । जगत् के प्रधान कारण के रूप में तो वह दूर स्थित है, किन्तु सबको देखने वाले के रूप में रथ पर, किंवा पास में ही स्थित है । सूर्य द्वारा जगत् का निरीक्षण करना प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होता है ।[3]

आत्मानन्द ने पाँच पैरों को मूल प्रकृति के पाँच अवयवों अथवा पञ्चक्लेशों के रूप में माना है ।[4] वस्तुतः यहाँ संवत्सरात्मा रथ का ही निरूपण किया गया है । ऋषि बार–बार भिन्न–भिन्न प्रकार से रथ के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करना चाहता है ।

तेरहवें मन्त्र में भ्रमणशील तथा पाँच अरों वाले उस संवत्सरात्मक रथचक्र में सारे लोकों को स्थित बताया गया है । उसका अक्ष इतना शक्त है कि गुरु भार को ढ़ोते रहने पर भी उष्ण नहीं होता तथा इसकी नाभि सदा से ही एक समान है उसमें कोई विकार नहीं आता है । स्पष्ट है कि प्रकृत मन्त्र में पाँच अर वे ही हैं, जो पिछले (बारहवें) मन्त्र में पाँच पैर हैं । दूसरे मन्त्र के समान यहाँ भी सारे लोकों को चक्र में स्थित बताया गया है । यह कालचक्र सनातन काल से एक

---

1. पञ्चसङ्ख्याकर्त्वात्मकपादोपेतम् । एतद्धेमन्तशिशिरयोरेकत्वाभिप्रायम् ।
   ऋग्वेद 1.164.12 पर सायणभाष्य.
2. उपरे । उपरमन्तेऽस्मिन्नुपरता प्राणिनोऽत्रेति वा उपरः संवत्सरः । वही, सायणभाष्य.
3. देवो याति भुवनानि पश्यन् । ऋग्वेद 1.35.2.
4. तस्य कालस्य मूलप्रकृतिरेव देहः । तस्याः पञ्चावयवाः ।.....
   अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । वही, 1.164.12 पर आत्मानन्दभाष्य.

रूप में ही चला आ रहा है । इसकी गति में एकरूपता बनी हुई है तथा इसका कोई भी अङ्ग दुर्बल नहीं है । आत्मानन्द ने यहाँ पाँच अरों को कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, तन्मात्र, प्राण और अन्तःकरण – इन पाँच अवयवों के रूप में प्रतिपादित किया है ।[1]

चौदहवाँ मन्त्र भी रथचक्र को नेमिसहित सदैव भ्रमणशील प्रतिपादित करता है । इसका वैशिष्ट्य यह है कि इसमें दश घोड़े युक्त किये गए हैं, जबकि तीसरे मन्त्र में स्पष्टतः सात घोड़ों का उल्लेख है । यहाँ सूर्य के नेत्रों को लोकों से आवृत बताया गया है । तेरहवें मन्त्र के समान यहाँ भी रथ में सारे लोकों को अधिष्ठित बताया गया है । सायण ने इन्द्रादि पाँच लोकपालों तथा निषाद को लेकर ब्राह्मणादि पाँच वर्णों के योग से दशवाहकों का उपपादन किया है । उन्होंने "रजस्" शब्द का अर्थ वृष्टि का जल किया है ।[2] ग्रिफिथ इसे दिशाओं का क्षेत्र मानते हैं ।[3] वस्तुतः यहाँ "रजस्" का अर्थ – लोकों से लेना चाहिए । सायण ने भी सवितृ को ही सम्बोधित एक सूक्त में इसका अर्थ – लोक किया है ।[4] अन्यत्र भी यह शब्द "लोक" के अर्थ में प्रयुक्त है ।[5] आत्मानन्द ने ब्रह्मविद्या के कारणभूत दश योगों को दशवाहकों के रूप में उपन्यस्त किया है ।[6] संवत्सर-चक्र का उपपादन होने से यहाँ दश अश्वों के रूप में दश दिशाओं को स्वीकार करना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है ।

स्थूल दृष्टि से देखने पर तो पन्द्रहवाँ मन्त्र अन्यविषयक प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह भी संवत्सर-चक्र का ही प्रतिपादक है । इसमें सात तत्त्वों को एक साथ

---

1. कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तन्मात्राश्च प्राणाश्चान्तःकरणानि चेति राशयः । एवं पञ्चावयवा अस्य । ऋग्वेद 1.164.13 पर आत्मानन्द-भाष्य.
2. रजसा वृष्ट्युदकेन । ऋग्वेद 1.164.14 पर सायणभाष्य.
3. Probably the ten regions of space.
   वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.
4. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.35.2 तथा 4 पर सायणभाष्य.
5. वही, 1.35.9.
6. श्रवणं मननं सिद्धिर्यमो नियम आसनम् ।
   प्राणायामः प्रतिक्षेपो धारणं च समाधयः ।
   दश योगा इमे ब्रह्मविद्याया हेतवः स्मृताः ।। ऋग्वेद 1.164.14 पर आत्मानन्द-भाष्य.

तथा एक ही तत्त्व से उत्पन्न बताया गया है । इनमें से छः युग्म हैं । "ऋषि" देवताओं से उत्पन्न हैं । इन तत्त्वों के अभीप्सित अर्थ उन–उन स्थानों पर व्यवस्थित किए गए हैं । ये अनेक रूपों से युक्त होकर अपने अधिष्ठान के प्रयोजन की पूर्ति–हेतु गमनशील होते हैं । वस्तुतः ये सातों ऋतुएँ एक साथ या एक ही संवत्सर से उत्पन्न हुईं । इनमें छः ऋतुएँ दो–दो महीनों के योग से बनी हैं, अतः वे युग्म कही जाती हैं । अधिकमास के रूप में एक अन्य सातवीं ऋतु की भी कल्पना की गई है । वह ऋतु अयुग्म है, किन्तु एक ही संवत्सर से उत्पन्न है अथवा अकेले उत्पन्न है । सायण ने "ऋषि" का अर्थ "गन्ता" करते हुए इन्हें देव अर्थात् आदित्य से उत्पन्न माना है ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ऋतुओं को ही "ऋषि" मानते हुए उनकी अहर्निश गतिशीलता को लक्ष्य करके उन्हें गन्ता अर्थात् गमनशील कहा है । वेङ्कटमाधव "ऋषि" का अर्थ "सर्वद्रष्टा" करते हुए इन्हें देव अर्थात् संवत्सर से उत्पन्न बताते हैं ।[2] यदि "ऋषि" के मूल अर्थ – मन्त्रद्रष्टा का ग्रहण किया जाए, तब भी इन्हें देवों से उत्पन्न कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि "पुरुष सूक्त" में भी सृष्टियाग के प्रवर्तन के समय पहले देवों की चर्चा आई है, इसके बाद ऋषियों को याजक बताया गया है ।[3] अतः बाद में उत्पन्न होने के कारण इन्हें "देवज" कहा जा सकता है । ये सभी ऋतुएँ अपने–अपने स्थान पर व्यवस्थित हैं तथा अपना अभीष्ट अर्थ प्रदान करती हैं अथवा लोकों के अभीष्ट का प्रतिपादन करती रहती हैं । इन सभी ऋतुओं की चरितार्थता अपने आश्रयभूत संवत्सर को प्रवर्तमान करने में निहित है ।

आत्मानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र में लिङ्गशरीर का उपपादन किया है ।[4] सातवलेकर जी उसमें सात लोकों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार – "विश्व में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् ये सात लोक उस एक ही प्रजापति से उत्पन्न होते हैं । इनमें भूः, भुवः, स्वः–महः, और जनः–तपः ये जुड़वें हैं और "सत्यम्" यह अकेला है, ये सभी ऋषि हैं और देवों से उत्पन्न होने वाले हैं । इनका अपनी–अपनी जगह यज्ञ चल रहा है । यद्यपि इनके रूप अलग–अलग

---

1. ऋषयः गन्तारः। ते च देवजाः देवादादित्याज्जाताः। ऋग्वेद 1.164.15 पर सायणभाष्य.
2. सर्वस्य द्रष्टारः संवत्सराद्देवाज्जाताः । वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य.
3. ऋग्वेद 10.90.6 एवं 7.
4. द्रष्टव्य, ऋग्वेद 1.164.15 पर आत्मानन्द–भाष्य.

हैं, पर ये सब एक प्रजापति के आधार से रहते हैं । इसी प्रकार शरीर में आँख, नाक, कान और रसना ये इन्द्रियाँ हैं । इनमें दो आँखें, दो नाग और दो कान ये जुड़वें हैं और रसना यह अकेली है । ये सात ऋषि हैं और देवों से पैदा हुए हैं । सूर्य देव से आँख, दिशाओं से कान, अश्विनौ देवों से नाक और जल से रसना बनी है । ये सभी इन्द्रियाँ अपनी–अपनी जगह मानवजीवन रूपी यज्ञ रचा रही हैं । यद्यपि ये रूपों में पृथक्–पृथक हैं, पर सभी एक आत्मा के आश्रय से इस शरीर में रह रही हैं ।[1] सातवलेकर जी की उक्त व्याख्या तात्त्विक दृष्टि से तो उचित प्रतीत होती है, किन्तु प्रकृत स्थल पर यह एक कठिन कल्पना है । वस्तुतः यहाँ ऋषि ने संवत्सर के अङ्गभूत ऋतुओं का ही प्रतिपादन भिन्न शैली में किया है ।

दीर्घतमा को संवत्सर रूपी रथ का रूपक कितना प्रिय है, इसका ज्ञान इसी से हो जाता है कि प्रथमतः उन्होंने तीन भ्राताओं के निरूपण के पश्चात् ही दो मन्त्रों में इसे उपन्यस्त किया है । इसके बाद ग्यारहवें से पन्द्रहवें मन्त्र तक पुनः वाचोभङ्गियों के द्वारा उसी रथ का वर्णन किया है । पुनश्च सूक्त के अन्त में अड़तालीसवें मन्त्र में भी पूर्ववर्णित रथविषयक अवधारणा को प्रस्तुत किया है । यहाँ ऋषि ने द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्द्ध तथा ग्यारहवें, बारहवें मन्त्रों में प्रतिपादित संवत्सर रूपी रथ के चक्र को "एक" तथा बारह प्रधियों वाला बताया है । प्रकृत स्थल पर ऋषि को रथ तथा उसके चक्र के बारे में कोई सन्देह नहीं है । उसने इसके तत्त्वज्ञान को कठिन भी बताया है । संवत्सर के तीन सौ साठ दिनों को गमनशील कीलों के रूप में तथा बारह महीनों को प्रधियों के रूप में प्रतिपादित किया है । यहाँ भी दूसरे मन्त्र में प्रतिपादित तीन नाभियाँ – ग्रीष्म, वर्षा तथा हेमन्त ऋतुएँ ही हैं । उन्हें भूत, भविष्य एवं वर्तमान के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि एक ही संवत्सर में ये तीनों भी पिनद्ध हैं । इस मन्त्र द्वारा ऋषि की रथविषयक अवधारणा स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख आ जाती है । इस प्रकार ऋषि ने संवत्सरात्मक रथ का, किंवा रथचक्र का उक्त मन्त्रों में सम्यक् उपपादन किया है ।

(3) प्रथम कारण की जिज्ञासा :– प्रथमतः, दूसरे तथा तीसरे मन्त्र में "रथ" का निरूपण करने के उपरान्त ऋषि चौथे मन्त्र में इस जगत् के प्रधान कारण को जानना चाहता है । वह प्रधान कारण अस्थिरहित (अनस्था) होते हुए भी अस्थिमान् जगत् को धारण करता है । ज्ञातव्य है कि

---

1. द्रष्टव्य – सातवलेकर – ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग – 1, पृष्ठ 434.

ऋषि ने प्रधानकारण को स्त्रीलिङ्.ग में तथा उसकी सृष्टि को पुंलिङ्.ग में रखा है । इससे माता एवं पुत्र के सङ्.केत प्राप्त होते हैं । सायण ने "अनस्था" का अर्थ शरीर–विहीन साङ्.ख्य की "प्रकृति" या वेदान्त में प्रसिद्ध ईश्वर के वश में रहने वाली "माया" किया है । उन्होंने "अस्थन्वन्तम्" का अर्थ "सशरीर" करते हुए इसे उपलक्षण माना है । इसका तात्पर्य कार्यरूप में परिणत होना है ।[1] आत्मानन्द ने "अस्थन्वन्तम्" का अर्थ "सावयव" तथा "अनस्था" का "निरवयव" किया है ।[2] वस्तुतः परमात्मा का न तो कोई रूप है, न शरीर है, इसीलिए उसे अस्थिहीन कहा गया है । नामरूपात्मक संसार अस्थिमान् है । यहाँ अनेक प्रकार के रङ्.ग, रूप, आकृति इत्यादि के दर्शन होते हैं । सृष्टि के क्रम में ही आत्मा इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । इसीलिए ऋषि ने भूमि से सम्बद्ध असु, असृग् और आत्मा के बारे में प्रश्न किया है । "असु" का अर्थ सायण ने "प्राण" तथा आत्मानन्द ने "क्षेप्ता" या "प्रवर्तक" किया है । ग्रिफिथ इसका अर्थ जीवन (लाईफ) करते हैं । वेङ्.कटमाधव ने इसे "चालक" के अर्थ में ग्रहण किया है ।[3] वस्तुतः इन सभी अर्थों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है । प्राण ही जीवन को गतिशील करता है अतः उसे "क्षेप्ता" या "प्रवर्तक" कहना उचित है । इसी प्रकार प्राण को जीवन के रूप में भी माना जा सकता है, क्योंकि उसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है । वह प्राण ही जीवन का "चालक" है ।

मन्त्र में आया "असृक्" पद सायण के अनुसार (रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र) सप्त धातुओं का उपलक्षक है ।[4] ऋषि ने असु, असृक् और आत्मा के माध्यम से जगत् की हर वस्तु के बारे में दार्शनिक जिज्ञासा की है । उन्होंने विद्वान् को इन सभी तत्त्वों का ज्ञाता प्रतिपादित

---

1. अनस्था अस्थिरहिता अशरीरा साङ्.ख्यप्रसिद्धा प्रकृतिः वेदान्तप्रसिद्धा ईश्वरायत्ता माया।....
   अस्थन्वन्तम् अस्थिमन्तं सशरीरम् । उपलक्षणमेतत् । कार्यभावमापन्नमित्यर्थः ।
   ऋग्वेद 1.164.4 पर सायणभाष्य.
2. अस्थन्वन्तं सावयवम्। यत् यस्मात् अनस्था अस्थिरहितो निरवयवो बिभर्ति धारयति। वही आत्मा. भाष्य.
3. (क) असुः प्राणः । तदुपलक्षितं सूक्ष्मशरीरम् । वही, सायणभाष्य.
   (ख) असुः क्षेप्ता प्रवर्तकः क्व स्वित् । वही, आत्मानन्द–भाष्य.
   (ग) द्रष्टव्य, वही – ग्रिफिथ का अनुवाद एवं वेङ्.कटमाधव–भाष्य.
4. असृक् शोणितम् । एतत्सप्तधातूपलक्षकम् । यद्यपि शरीरं पञ्चभूतात्मकं तथापि भूतद्वय–
   –प्रत्यक्षत्वात् तदपेक्षयोक्तम् । वही, सायणभाष्य.

किया है । इस प्रकार वे सृष्टि के मूल "उत्स" को जानने के लिए अथवा जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए व्यग्र दृष्टिगत होते हैं ।

[4] **कवियों द्वारा देव-स्थान-निरूपण** :- सूक्त के पाँचवे मन्त्र में ऋषि ने देवताओं के गुप्त स्थान को जानना चाहा है । जहाँ तीसरे मन्त्र में "गो" के सात नामों को "निहित" बताया गया है, वहीं प्रकृत स्थल पर देवताओं के स्थान को । कवि ने स्वयं को अपरिपक्व तथा अज्ञानी कहा है । मन्त्र के तीसरे तथा चौथे चरण में "वत्स" के ऊपर कवियों द्वारा सात तन्तुओं को बुनने की बात कही गई है । सायण सात तन्तुओं का अर्थ सोमयाग के सात रूपों अथवा सात छन्दों से लेते हैं ।[1] आत्मानन्द ने इसका अर्थ सात धातुओं से उत्पन्न विस्तृत यज्ञ के रूप में लिया है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि जब दीर्घतमा को कवि-दृष्टि प्राप्त हुई, उस समयउनके मन में सृष्टि के विभिन्न उपादानों के विषय में जिज्ञासा हुई । उन्होंने क्रान्तप्रज्ञ कवियों को काव्य-रचना में संलग्न पाया । इस दृष्टि से "सप्ततन्तुओं" का अर्थ गायत्री आदि सप्त छन्द करना ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कविगण जिस माध्यम से देवों के स्थान के निरूपणपरक काव्य की रचना कर रहे हैं, वह छन्द ही हो सकते हैं । ज्ञातव्य है कि वेद में देवताओं के रूप, स्थान, कार्य इत्यादि को लेकर नाना प्रकार से उनकी स्तुतियाँ की गई हैं । उन सभी स्तुतियों को कपड़ा तथा छन्दों को तन्तु कहा जा सकता है । मन्त्र में आए हुए "बष्क" तथा "वत्स" पदों को समझना दुष्कर है । सायण ने "बष्क" का अर्थ "आदित्य" या "बष्कयनामक एकहायन वत्स" किया है ।[3] आत्मानन्द इसे गत्यर्थक मानते हुए इसका अर्थ "ज्ञान के लिए" करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं ।[4] "बष्कये" इस पद का प्रयोग पूरे ऋग्वेद में मात्र यहीं एक बार हुआ है, अतः अन्य सन्दर्भों के

---

1. सप्ततन्तून् तायमानान् सप्त सोमसंस्थान् ।..... यद्वा सप्त तन्तवः सप्त छन्दांसि । ऋग्वेद 1.164.5 पर सायणभाष्य.
2. सप्त तन्तून् सप्तधातूत्पन्नान् तन्तून् विततान् विस्तृतान् यज्ञान् वितत्निरे विशेषेण तन्वन्ति । वही, आत्मानन्द-भाष्य.
3. बष्कये । बडिति सत्यनाम । तत्कषतीति बष्कय आदित्यः । यद्वा बष्कयो नामैकहायनो वत्सः । वही, सायणभाष्य.
4. बष्किर्हि गत्यर्थः । सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः । वही आत्मानन्द-भाष्य.

आलोक में भी इसकी व्याख्या असम्भव है । यहाँ इसे "वत्से" के साथ संयुक्त कर के ही अर्थ किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में दोनों पदों को सप्तम्यन्त मानते हुए इनका अर्थ होगा – छोटे {शिशु} वत्स के ऊपर । "वत्स" शब्द का प्रयोग यहाँ रहस्यात्मक रूप में किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि चौथे मन्त्र में जिसे "अस्थिमान्" माना गया है, वही यहाँ "वत्स" शब्द द्वारा इष्ट है, क्योंकि इसी रूप में स्त्रीलिङ्ग में आए "अनस्था" पद की भी सङ्गति बैठायी जा सकती है । कार्यरूप में परिणत यह संसार ही "वत्स" हो सकता है, जिसके ऊपर या जिसके आश्रय में कवि लोग देवतत्त्व का निरुपण कर सकते हैं ।

{5} **अजतत्त्व** :– पाँचवे मन्त्र में देवों की स्थानविषयक जिज्ञासा के तारतम्य में ही छठाँ मन्त्र उस "एक" "अज" को जानना चाहता है, जिसने इन छः रजों को स्तब्ध किया है । सायण ने छः रजों को छः रञ्जनात्मक लोक मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि सात लोकों में से सत्यलोक सबके लिए गम्य नहीं है अतः ऋषि ने छः लोकों के स्तब्ध या व्यवस्थित करने की चर्चा की है । सत्यलोक पुनरावृत्तिरहित लोक है तथा वह स्वयं "अज" का ही निवासस्थान है । वहाँ सभी नहीं जा सकते । बहुत कम उपासकों द्वारा ही वह लोक प्राप्य है । उन्होंने वैकल्पिक रूप से छः विलक्षण ऋतुओं को भी छः रजों के रूप में स्वीकार किया है ।[1] आत्मानन्द काम इत्यादि मलों को छः रज मानते हैं ।[2] वस्तुतः इस मन्त्र का सम्बन्ध सृष्टि–विद्या से है, अतः "छः लोक" अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है ।

अब यह विचार करना आवश्यक है कि वह कौन सा "एक" तत्त्व है, जिसे ऋषि ने "अज" शब्द द्वारा अभिहित किया है ? सायण ने "अज" का अर्थ – "जननादिरहित चतुर्मुख ब्रह्मा",

---

1. षट् रजांसि लोकान् रञ्जनात्मकान् । लोका रजांस्युच्यन्ते – इति निरुक्तम् । यद्यपि लोकाः सप्त तथापि सत्यलोकस्य कर्मिणां सर्वेषां साधारणत्वाभावात् षडित्युक्तम् । ननु षडेवोक्ताः । सप्तमः किमिति न निर्दिष्ट इति । उच्यते – अजस्य जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो रूपे स्वरूपे एकं सत्यलोकाख्यं पुनरावृत्तिरहितं स्थानम् ।..... यद्वा षड् रजांसि विलक्षणाः षड् ऋतवः । ऋग्वेद 1.164.6 पर सायणभाष्य.
2. कामादीनि षट् रजांसि मलानि रजोगुणकार्याणि वा । वही, आत्मानन्दभाष्य.

अथवा "गमनशील जन्मरहित आदित्य" अथवा "परब्रह्म" किया है ।[1] आत्मानन्द ने इसे "नित्य आत्मा" माना है ।[2] वेङ्कटमाधव इसे मात्र "अजायमान" ही कहते हैं ।[3] ग्रिफिथ इसे "अजन्मा स्रष्टा" मानते हुए सूर्य के साथ सम्बद्ध करते हैं ।[4] वस्तुतः प्रकृत स्थल पर "अज" शब्द का अभिप्राय उस नित्य और परिवर्तनरहित तत्त्व से है, जो स्थितिशील है । यह सामान्य अवधारणा का तथ्य है कि गतितत्त्व चाहे जो भी हो या जिस प्रकार का हो, स्थितितत्त्व से ही जन्म-ग्रहण करता है । जो भी व्यक्त विश्व है, वह अव्यक्त से ही उत्पन्न हुआ है । इस जन्म नहीं ग्रहण करने वाले स्थितिशील तत्त्व को वृत्त का केन्द्र कहा जा सकता है, जिसकी कुक्षि से छोटे तथा बड़े अनेक परिधिमण्डल निर्मित होते रहते हैं । मन्त्र में अज के लिए "एकम्" विशेषण का प्रयोग किया गया है । यह "एकम्" पद स्वयं में इतना विलक्षण है कि उसमें अन्य किसी भी सङ्ख्या का न तो समावेश हो सकता है और न इसे खण्डित ही किया जा सकता है, क्योंकि कोई भी इकाई एक से कम नहीं हो सकती अथवा दूसरे शब्दों में किसी भी तत्त्व या तथ्य को "एक" से कम नहीं बताया जा सकता । यदि कोई खण्ड भी किया जाए, तो उसकी सङ्ख्या "एक" ही होगी । उसी अखण्ड चेतन तत्त्व को ऋषि ने "अज" कहा है । "नासदीय सूक्त" में भी सम्भवतः इसी तत्त्व की ओर निर्देश किया गया है ।[5] "अज" की विलक्षणता प्रतिपादित करने के लिए ऋषि ने "किमपि स्वित्" कहा है । इससे यह परिलक्षित होता है कि उस "अजतत्त्व" का वास्तविक निर्वचन कर पाना सम्भव नहीं है । वह "अवाङ्मनसगोचर" है । वह क्या है, इसे निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है । इस प्रकार "अज" की विलक्षणता प्रतिपादित होती है ।

---

1. अजस्य जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः..... अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वादित्यस्य...... अजस्य परब्रह्मणः । ऋग्वेद 1.164.6 पर सायणभाष्य.
2. अजस्य नित्यस्यात्मनः । वही, आत्मानन्दभाष्य.
3. तस्याजायमानस्य । वही, वेङ्कटमाधव-भाष्य.
4. **In the Unborn's image :** in the form of Aja or the Unborn Creator, represented by the Sun.

   वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.
5. स्वधया तदेकम् । ऋग्वेद 10.129.2 तथा महिना जायतैकम् । वही, 10.129.3.

ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में "अज" की "नाभि" में समस्त लोकों को अधिष्ठित बताया गया है ।[1] उक्त स्थल पर जगत् के आदि स्रोत तथा उससे उत्पन्न होने वाले जगत् का एक साथ निरूपण किया गया है । उस आदिम स्रोत को "अज" कहा गया है तथा उसके भी अधिष्ठान या मातृतत्त्व की कल्पना की गई है, जिसमें वह अपने सहजस्थिति भाव में लीन था । वह मातृतत्त्व "आपः" के रूप में प्रतिपादित है, जो किसी अनन्त समुद्र का प्रतीक है । मन्त्र में "अज" के दो स्वरूप बताए गए हैं – प्रथम नाभिरूप तथा द्वितीय अखण्ड और एक । हृदय या केन्द्र को नाभि कहते हैं । "अज" की नाभि में पिरोया गया जो "एक" है, वही बहुधा होकर विश्व बन जाता है । जितनी भी दिव्य शक्तियाँ हैं, उन सभी देवों का मूलस्रोत उसी एक अमृत अजतत्त्व में है । उसी एक में समग्र भुवनों का अधिष्ठान है । भुवन या लोकों को ही ऋषि दीर्घतमा ने "षडिमा रजांसि" के रूप में व्यक्त किया है । वस्तुतः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् – ये ही सात लोक या सात धाम हैं । इन्हीं सात आवरणों से व्यष्टि और समष्टि का स्वरूप निष्पन्न होता है । इनमें से जो सबसे अन्तिम और सूक्ष्म है, वही "सत्यलोक" है । उसी की पृष्ठभूमि में छः लोक आधृत होते हैं । इसीलिए ऋषि ने उसकी गणना सामान्य लोकों में नहीं की है ।

"रजस्" का अभिप्राय गतितत्त्व से है । इसे ही रजोगुण भी कहते हैं । इसकी तुलना में सत्त्वगुण, सत्त्वभाव वाला है, जो शुद्ध रूप से स्थितितत्त्व है । मनस् या विज्ञान को सत्त्वगुण का प्रतीक माना जा सकता है, जबकि प्राण या रजस् "गति" के प्रतीक हैं । इनकी गतिशीलता सुविदित है । "तमस्" को पञ्चभूतात्मक प्रकृति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । पञ्चभूतों के साथ रजस् का योग कर देने पर इनकी सङ्ख्या छः हो जाती है । ये सभी गतिशील हैं । इन सबकी उत्पत्ति मनस् या विज्ञानघन से होती है, जो शुद्ध सत्त्वस्वरूप है । उसमें कोई गति नहीं है । वही गतिरहित "अजतत्त्व" है । इसी अजतत्त्व की तथा इसके द्वारा स्तम्भित छः रजों की चर्चा ऋषि ने मन्त्र में की है । छः रजों को भूः से लेकर तपः तक छः लोकों अथवा प्राण सहित पञ्चमहाभूतों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

---

1. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।। ऋग्वेद 10.82.6.

छठें मन्त्र में जिस "अजतत्त्व" के बारे में प्रश्न उठाया गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उसी का सड़्.केत सातवें मन्त्र में किया गया है । यहाँ उसे "वि" कहा गया है । "वि" का अर्थ पक्षी होता है । सायण ने इसका अर्थ "आदित्य" से लिया है ।[1] जब कि आत्मानन्द इसे "परमात्मा" का अभिधायक मानते हैं ।[2] ज्ञातव्य है कि प्रथम मन्त्र में "वाम" शब्द का प्रयोग "होता" के विशेषण के रूप में किया गया है, जबकि यहाँ "पक्षी" के विशेषण के रूप में । इस प्रकार "होता" का किसी न किसी रूप में "पक्षी" के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है । इसी रूप में दोनों स्थलों पर "अस्य" का प्रयोग भी किया गया है । यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि "पक्षी" तथा "होता" दोनों में अभेद है, क्योंकि यज्ञस्थल पर सूक्त के प्रस्तुतीकरण के समय ऋषि के मस्तिष्क में परमतत्त्व के रूप में कोई एक ही तत्त्व हो सकता है, जिसे वह अनेक रूपों में तथा अनेक प्रकार से प्रस्तुत कर रहा है । ऋषि ने सूक्त के अन्तिम मन्त्र में भी पक्षी का उल्लेख किया है । इससे भी यही प्रमाणित होता है कि उसकी दृष्टि में परमतत्त्व की धारणा एक स्थान पर ही केन्द्रित है तथा उसे ही उसने "होता", "अज", "पक्षी" या "सुपर्ण" के रूप में प्रस्तुत किया है । यहाँ उस "अजतत्त्व" को "आदित्य" के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

इस प्रकार का तत्त्वज्ञान सबको नहीं हो सकता, इसीलिए ऋषि ने उसे प्रकाशित करने के लिए उसी व्यक्ति का आह्वान किया है, जो इसे भलीभाँति जानता हो । आत्मानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र में गुरु का लक्षण होना प्रतिपादित किया है । उनके अनुसार जो आत्मतत्त्व को असन्दिग्ध रूप से जानता है, वही ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में गुरु होकर उपदेश प्रदान कर सकता है । उन्होंने मन्त्र के तीसरे और चौथे चरण में प्रतिपादित – "इस पक्षी के सिर से "गाएँ" "क्षीर" का दोहन करती हैं तथा वस्त्र धारण कर के पैर से जल पीती हैं" इन दोनों तथ्यों को आभाणक के रूप में मानकर इनके ज्ञान को भी गुरु बनने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया है ।[3] वस्तुतः प्रथम दो चरणों को तो गुरु

---

1. वेः गन्तुरादित्यस्य । ऋग्वेद 1.164.7 पर सायणभाष्य.
2. वेः सुपर्णस्य परमात्मनः । वही, आत्मानन्दभाष्य.
3. गुरुलक्षणमत्र । इह ब्रह्मविद्यायां वक्ता य ईमिदमात्मतत्त्वम् । अड़्.ग असन्दिग्धं जानाति।.. स इह वक्तु । स एव गुरुः स्यादित्यर्थः । अयमाभाणकोऽपि गुरुणा भवित्रा ज्ञेय इत्याह – शीर्ष्णः शिरसः सकाशात् क्षीरं दुह्रते.....गावः उदकं पदा पादेन अपुः ।.... अयमाभाण– –कोऽपि भवित्रा गुरुणा ज्ञेयः । ऋग्वेद 1.164.7 पर आत्मानन्द–भाष्य.

का लक्षण माना जा सकता है, किन्तु तृतीय तथा चतुर्थ चरण लक्षणपरक नहीं हैं । उनमें ऋषि ने स्वयं तत्त्व का परिचय दिया है । अब विचारणीय यह है कि वे गौएँ कौन हैं, जो पक्षी के सिर से "क्षीर" का दोहन करती हैं तथा पैर से उदक ग्रहण करती हैं । सायण ने "गो" का अर्थ "वर्षाकालीन किरणें" तथा आत्मानन्द ने "वेद" किया है । इसी प्रकार दोनों आचार्यों ने "क्षीर" का अर्थ क्रमशः "उदक" तथा "ब्रह्मामृत रस" किया है ।[1] विल्सन "गो" को सूर्य की किरणें मानते हुए वृष्टि करना तथा जल ग्रहण करना दोनों कार्यों के लिए उन्हें ही सक्रिय मानते हैं ।[2] प्रकृत स्थल पर "गो" का अर्थ "सूर्य की किरणें" तथा "क्षीर" और "उदक" को समानार्थी मानते हुए इनका अर्थ "जल" ही करना चाहिए । यह सर्वविदित है कि सूर्य की किरणें पृथ्वी से ही रस का शोषण करती हैं तथा पुनः वर्षाकाल में वृष्टि के रूप में उन्हें पृथ्वी पर छोड़ती है ।[3] मन्त्र में आए जल का दोहन करने का तात्पर्य यही है कि सूर्य की रश्मियाँ अपने ही द्वारा सूर्य में सञ्चित जल का दोहन करते हुए उसे पृथ्वी पर बरसाती हैं । पुनः अपने चरण अर्थात् उनका जो अंश पृथ्वी पर पहुँचता है, उसके माध्यम से जल पीती हैं अर्थात् रस का शोषण करती हैं । ऋषि ने मन्त्र में इस तथ्य का स्वयं उद्घोष करने के पश्चात् विद्वान् से पक्षी रूपी आदित्य के "निहित" अथवा गुप्त स्थान को बताने का आग्रह किया है ।

(6) **माता, पिता और सृष्टि** :– सूक्त के 8, 9, 10 तथा 33 वें मन्त्र में "माता–पिता" का उल्लेख करते हुए ऋषि ने सृष्टि के रहस्य की ओर सङ्केत किया है । वैदिक धारणा के अनुसार द्युलोक को सबका पिता तथा पृथिवी को माता माना गया है ।[4] आठवें मन्त्र में जल की सृष्टि-हेतु

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.7 पर सायण एवं आत्मानन्द के भाष्य.
2. The Cows draw milk : The solar rays, although especial agents in sending down rain, are equally active in its re-absorption.
   वही, विल्सन की टिप्पणी.
3. (क) सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः । कालिदास–रघुवंशम्, 1.18.
   (ख) गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्मात्.....। वही, 13.4.
4. द्यौः पिता । तैत्तिरीय ब्राह्मण – 3.7.5.4.

इन्हीं दोनों के सम्पर्क की बात कही गई है । यह प्रक्रिया सुविचारित रूप से तथा इच्छापूर्वक हुई । इस सम्पर्क के पश्चात् पृथ्वी गर्भोत्पादक "रस" से युक्त हो गई और अन्नादि को उत्पन्न करने में समर्थ हुई । सायण ने माता का अर्थ सबका निर्माण करने वाली पृथ्वी तथा आत्मानन्द ने सृष्टि की जननी "माया" किया है । इसी प्रकार पिता का अर्थ सायण ने पालक "द्युलोक" अथवा तत्रस्थ "आदित्य" किया है, जबकि आत्मानन्द ने "ईश" किया है ।[1] ग्रिफिथ ने द्युलोक तथा पृथ्वी के इस सम्पर्क को सृष्टि-प्रक्रिया में पृथ्वी द्वारा द्युलोक को उसका भाग देना माना है ।[2] वस्तुतः जल के माध्यम से ही द्युलोक तथा पृथ्वी का सम्बन्ध हो पाता है । द्युलोक का स्वामी आदित्य है, अतः आदित्य को पिता के रूप में माना जा सकता है । उसका वीर्य वृष्टि-जल ही है, जो पृथ्वी-माता के गर्भ में निविष्ट होकर अन्नादि की उत्पत्ति करता है । परिणामस्वरूप सभी मनुष्य पृथ्वी की स्तुति करते हैं ।

नवें मन्त्र में भी उक्त प्रक्रिया का उपपादन किया गया है । माता, दक्षिण धुरी पर युक्त हुई और मेघपङ्क्तियों के रूप में गर्भ धारण किया । सायण ने माता का अर्थ यहाँ "द्यौः" किया है[3], जो उचित नहीं प्रतीत होता । वस्तुतः पिछले मन्त्र के अनुसार यहाँ भी "माता" का अर्थ पृथ्वी ही करना उचित है । अब प्रश्न यह है कि वह दक्षिण धुरी क्या है जिसमें पृथ्वी को बाँधा गया ? प्रकृत सूक्त संवत्सर की पूर्ण आकल्पना प्रस्तुत करता है । इस संवत्सर का प्रवर्तक सूर्य या आदित्य है । सूर्य के दो अयन – उत्तर तथा दक्षिण हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि को यहाँ "दक्षिण धुरी" से दक्षिणायन सूर्य का अर्थ इष्ट है । ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि वर्षा-काल दक्षिणायन सूर्य में ही आता है और उसी समय पृथ्वी को जल की आवश्यकता होती है तथा वह गर्भ धारण करती है । मन्त्र के तीसरे तथा चौथे चरण में "गो" और "वत्स" की चर्चा आई है । "वत्स" ने विश्वरूपवती "गो" को देखा और शब्द किया । यहाँ "गो" का अर्थ सूर्य की किरणों से लिया जा

---

1. ऋग्वेद 1.164.8 पर सायण एवं आत्मानन्द-भाष्य.
2. The mother Earth gave the father Heaven his share in the great work of cosmical production.
   वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.
3. माता निर्मीयतेऽस्मिन् भूतानीति माता द्यौः । वही, 1.164.9 पर सायणभाष्य.

सकता है । उन्हीं किरणों के माध्यम से बादल बनते हैं और वृष्टि होती है । वे बादल (मेघ) ही वत्स हैं । उन्होंने किरण रूपी गौओं को बरसात में तीनों लोकों में प्रसृत देखा तथा वृष्टि-हेतु गरजने लगे । यदि इसे गाय तथा बछड़े के अर्थ में भी लिया जाय, तो वस्तुस्थिति यही है कि बछड़ा गाय को देखकर बोलता है और गाय उसे दुग्ध प्रदान करती है । आत्मानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ भी पूर्णतः आध्यात्मिक किया है ।

दशम मन्त्र में तीन माताओं तथा तीन पिताओं को धारण करने वाले एक ही तत्त्व की चर्चा आई है, जो ऊपर स्थित है तथा जिसे ये शिथिल नहीं कर पाते । देवता लोग उस प्रकाशमान तत्त्व के पीठ पर अर्थात् पीछे सभी के द्वारा समझी जाने वाली किन्तु सर्वत्र अव्यायनशील वाणी के बारे में मन्त्रणा करते हैं । सायण ने उस तत्त्व को आदित्य या संवत्सराख्य काल कहा है । उनकी दृष्टि में अन्न, वृष्टि इत्यादि को उत्पन्न करने वाली तीन माताएँ पृथिवी इत्यादि तीन लोक हैं तथा अग्नि, वायु और सूर्य, ये तीनों पालक हैं ।[1] यदि उस तत्त्व को "आदित्य" माना जाय, तो तीन पिताओं में इसकी गणना कैसे की जा सकती है ? अतः उसे संवत्सराख्य काल मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि उसके द्वारा उक्त तीनों पिताओं तथा माताओं के धारण किये जाने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं उत्पन्न होती है तथा देवताओं द्वारा उसकी पृष्ठभूमि में वाक्तत्त्व पर विचार करना भी सङ्गत है । यदि "दिवःपृष्ठे" का अर्थ द्युलोक की पृष्ठभूमि में या पीछे किया जाए, तब भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि शब्द आकाश का गुण है अतः वाणी और शब्द में अभेद होने से वाणी भी आकाश का ही गुण हुई । आकाश स्वयं ब्रह्मस्वरूप है अतः वाक् भी ब्रह्मस्वरूप है । यह वाग्ब्रह्म अखिल विश्व को जानते हुए भी उससे परे है । सभी देवगण उस वागात्मक ब्रह्म पर विचार करते हैं । इस दृष्टि से "अविश्वमिन्वाम्" पद का सायण द्वारा प्रतिपादित अर्थ "असर्वव्यापिनीम्" उचित नहीं है । यहाँ वेङ्कटमाधव का "सबके द्वारा अज्ञायमान परिमाण वाली" ऐसा अर्थ करना सर्वथा उचित है[2],

---

1. एकः प्रधानभूतोऽसहायो वा पुत्रस्थानीय आदित्यः संवत्सराख्यः कालो वा तिस्रः मातृः सस्यवृष्ट्याद्युत्पादयित्रीः । क्षित्यादिलोकत्रयमित्यर्थः । तथा त्रीन् पितॄन् जगतां पालयितॄन् लोकत्रयाभिमानिनोऽग्निवायुसूर्याख्यान् । ऋग्वेद 1.164.10 पर सायणभाष्य.
2. सर्वैश्चाज्ञायमानपरिमाणाम् । वही, वेङ्कटमाधव का भाष्य.

क्योंकि वाक् सबको जानती है, किन्तु सबको उसके परिमाण – उसकी इयत्ता का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है । उसकी सर्वत्र व्यापकता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता ।

आत्मानन्द ने प्रकृत मन्त्र में तुरीयात्मा का प्रतिपादन माना है । उनके अनुसार तीन माताएँ – लक्ष्मी, गौरी और सरस्वती तथा तीन पिता – विष्णु, हर और ब्रह्मा हैं, जिन्हें धारण करने वाला परमात्मा ऊर्ध्व अर्थात् अवस्थात्रय से परे तुरीय रूप में स्थित रहता है ।[1] आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मानन्द का अर्थ भी उचित प्रतीत होता है ।

सूक्त के तैंतीसवें मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में द्युलोक को पिता एवं विशाल पृथ्वी को माता कहा गया है । द्युलोक केवल पिता अर्थात् पालक ही नहीं है, अपितु वह जनिता – उत्पन्न करने वाला भी है । द्युलोक में ही "नाभि" भी स्थित है । सायण ने नाभि का अर्थ नाभिभूत भौम रस किया है । उनके अनुसार यह नाभिभूत भौमरस द्युलोक में ही स्थित रहता है । उसी से अन्न उत्पन्न होता है । अन्न से रेतस्तत्त्व तथा इससे मनुष्य की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार परम्परागत रूप से मनुष्य का जनन–सम्बन्धी रस द्युलोक में रहता है । इसी अभिप्राय से उसे जनिता कहा गया है।[2] यास्क ने बन्धनार्थक नह् धातु से "नाभि" को निष्पन्न माना है । उनके अनुसार माता की रसहरा नाड़ी से गर्भ सम्बद्ध हुआ करते हैं । इसी कारण से सम्बन्धियों को "सनाभि" कहा जाता है । उन्हें "सबन्धु" भी कहते हैं । उन्होंने गर्भाधान करने वाले पिता को "पर्जन्य" माना है ।[3] वेङ्कटमाधव

---

1. अत्र तुर्यः प्रपञ्च्यते । तिस्रो मातृः लक्ष्मीगौरीसरस्वतीः । मुख्यत्वेन पितृन् विष्णुहरब्रह्मणः पुत्रत्वेन बिभ्रत् धारयन् नियमयन् । एकः परमात्मैव ऊर्ध्वः अवस्थात्रयात् परतः स्थितः तुरीयः तिष्ठति । ऋग्वेद 1.164.10 पर आत्मानन्द–भाष्य.
2. नाभिभूतो भौमो रसः अत्र । तिष्ठति इति शेषः । ततश्च अन्नं जायते । अन्नाद्रेतः । रेतसो मनुष्यः । इत्येवं पारम्पर्येण जननसम्बन्धिनो हेतो रसस्यात्र सद्भावात् । अनेनैवाभि–प्रायेण जनिता इत्युच्यते । ऋग्वेद 1.164.33 पर सायणभाष्य.
3. नाभिः सन्नहनात् । नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः । एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते । सबन्धव इति च ।..... तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः । निरुक्त 4.3.47.

भी जलों से पृथ्वी की उत्पत्ति होने के कारण "पर्जन्य" को इसका पिता मानते हैं ।[1] सायण ने अधिष्ठान और अधिष्ठाता में अभेद होने के कारण आदित्य को ही "पिता द्युलोक" माना है । उन्होंने वैकल्पिक रूप से इन्द्र या पर्जन्य को भी पिता माना है । वे "योनि" के रूप में सारे प्राणियों के निर्माण के आश्रयभूत अन्तरिक्ष को स्वीकार करते हैं तथा उन्होंने "दुहिता" का अर्थ दूर निहित या दूर स्थित पृथ्वी किया है ।[2] वस्तुतः "दुहिता" की निष्पत्ति दोहनार्थक "दुह्" धातु से भी की जा सकती है । ऐसी स्थिति में इसका अर्थ होगा – रसों का दोहन करने वाली पृथ्वी । पिताद्यौः ने द्युलोक तथा पृथिवी, इन दो ऊपर की ओर उठे हुए पात्रों के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष में दूर स्थित इस पृथ्वी में गर्भाधान किया । ग्रिफिथ के अनुसार दो पात्रों का तात्पर्य सोम रखे जाने वाले पात्रों से है तथा यह द्युलोक एवं पृथ्वी के लिए एक आलङ्कारिक अभिव्यक्ति है । इन दोनों के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष वृष्टि का स्थान होने के कारण सभी प्राणियों की योनि (उत्पत्ति स्थान) है । पिता द्युलोक तथा पुत्री पृथ्वी है, जिसकी उत्पादकता या प्रजननशीलता अन्तरिक्ष में विहित जलरूपी बीज पर निर्भर है ।[3]

आत्मानन्द ने इस मन्त्र में सगुण ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन स्वीकार किया है । उन्होंने "जनिता" का अर्थ – "जनं कश्यपम् इता जनिता" अर्थात् कश्यप का प्रेरक किया है तथा बन्धु के रूप में अग्नि या सोम को ग्रहण किया है । वे "नाभि" का अर्थ – सनाभि अर्थात् सहोदरा करते हुए द्युलोक को स्वसा के रूप में स्वीकार करते हैं ।[4]

---

1. अद्भ्यः पृथिवी जातेति पर्जन्यस्य दुहिता पृथिवी भवति। ऋ.1.164.33 पर वेङ्कटमाधवभाष्य.
2. पिता द्युलोकः अधिष्ठात्रधिष्ठानयोरभेदेन आदित्यो द्यौरुच्यते । स्वरश्मिभिः । अथवा इन्द्रः पर्जन्यो वा ।....योनिः सर्वभूतनिर्माणाश्रयमन्तरिक्षम् ।....दुहितुः दूरे निहितायाः भूम्याः...। वही, सायणभाष्य.
3. **World-Halves:** Literally bowls or vessels into which the Soma is poured, a figurative expression for heaven and earth. The firmament or space between these two is, as the region of the rain, the womb of all beings. The Father is Dyaus and the daughter is Earth, whose fertility depends upon the germ of rain laid in the firmament. वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.
4. द्रष्टव्य – वही, आत्मानन्दभाष्य.

इस प्रकार ऊपर सन्दर्भित चारों मन्त्रों में ऋषि ने माता–पिता के रूप में पृथिवी एवं द्युलोक को प्रतिष्ठित करते हुए सृष्टिविद्या का प्रतिपादन किया है । ये ही दो जन्मदात्री शक्तियाँ हैं, जिनके मिथुनीभाव से सब प्राणी जन्म लेते हैं । इन्हें ही स्त्री–पुरुष, पूषा–वृषा और अग्नि–सोम कहा जाता है । प्रजापति ने अपने शरीर के – एकात्मक अण्ड से इन दो भागों को पृथक् किया । एक से द्युलोक और दूसरे से पृथ्वी बनी ।[1] एक पुमान् – पुरुष और दूसरा स्त्री कहलाया । प्रजापति के इसी नर–नारीमय रूप से सम्पूर्ण प्राणियों का उद्भव हुआ । पृथिवी का सङ्केत भूत–भौतिक देह से और द्युलोक का अमृतप्राण से है । प्राण और भूत के सम्मिलन से ही जीवन का प्रत्यक्ष रूप सम्भव हुआ है । "भूत" की सञ्ज्ञा "असुर" और "प्राण" की "देव" है । भूत "मर्त्य" और प्राण "अमृत" है।

सृष्टि के प्रसङ्ग में ही छत्तीसवें मन्त्र पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है, जिसमें जगत् के कारणभूत "रेतस्तत्त्व" के बारे में बताया गया है । वह "रेतस्" सात अर्ध गर्भभूत तत्त्वों में निहित है । वे विष्णु के आदेशानुसार अपने–अपने कर्मों में सन्नद्ध होते हैं । उनमें धारणाशक्ति या विचार है तथा मन से वे विद्वान् हैं । इस प्रकार व्यापनशील वे इस जगत् को चारों ओर से आवेष्टित किये हुए हैं । सायण ने "सप्त" का अर्थ – सर्पणस्वभाववाली या सात रश्मियों से लिया है ।वे "अर्धगर्भाः" का तात्पर्य "संवत्सर के आधे भाग में गर्भस्थानीय उदक को धारण करने वाली" या "ब्रह्माण्ड के आधे भाग में अर्थात् मध्य में गर्भवत् स्थित" ग्रहण करते हैं । उन्होंने "सप्तार्धगर्भाः" का साङ्ख्यदर्शनपरक अर्थ करते हुए महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रों के योग से सात सङ्ख्या का उपपादन किया है । ये सातों तत्त्व "अर्धगर्भा" अर्थात् अविकृतिरूप हैं । विकारों का आश्रय ग्रहण करने वाली प्रकृति तथा प्रकृति और विकृति से उदासीन आत्मा के उत्पन्न हो जाने से आधे अंश द्वारा प्रपञ्च की सृष्टि करने के कारण ये "अर्धगर्भा" हैं । पुरुष के अंश में कोई विकार नहीं होता । इसीलिए ये सातों तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों ही हैं ।[2] वस्तुतः सायण इन सात तत्त्वों को अविकृतिरूप इसलिए कहते हैं

---

1. द्रष्टव्य – मनुस्मृति – 1.8, 9, 12, 13.
2. सप्त सर्पणस्वभावाः सप्तसङ्ख्या वा रश्मयः। अर्धगर्भाः संवत्सरस्यार्धे गर्भे गर्भस्थानीयमुदकं धारयमाणाः। यद्वा ब्रह्माण्डस्यार्धे मध्ये अन्तरिक्षे गर्भवद्वर्तमानाः।.....यद्वा सप्तार्धगर्भाः सप्त महदहङ्कारौ पञ्च तन्मात्राणि इति मिलित्वा सप्तसङ्ख्यानि तत्त्वानि। अर्धगर्भाः अविकृतिरूपाः। विकाराश्रयाया मूलप्रकृतेः प्रकृतिविकृतेः उदासीनस्य आत्मनश्च उत्पन्नत्वात् अर्धांशेन प्रपञ्चाकारेण परिमाणात् अर्धगर्भाः। पुरुषांशस्याविक्रियत्वात् इत्यभिप्रायः। अत एव तेषां प्रकृतिविकृतित्वम्। यस्मादेवं तस्मात् भुवनस्य रेतः कारणम्।
ऋग्वेद 1.164.36 पर सायणभाष्य.

कि ये केवल "विकार" नहीं हैं । प्रकृति की अपेक्षा से तो ये विकार हैं, किन्तु पञ्चमहाभूतों तथा मन सहित एकादश इन्द्रियों की अपेक्षा से "प्रकृति" अर्थात् कारण भी हैं । इसीलिए ये सातों प्रकृति तथा विकृति अर्थात् कारण और कार्य दोनों ही हैं । "साङ्ख्यकारिका" में ईश्वरकृष्ण ने इसी तथ्य को बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है ।[1] आत्मानन्द ने भी प्रस्तुत मन्त्र का साङ्ख्याभिमत भाष्य किया है ।[2] सातवलेकर जी के अनुसार – "परमेष्ठी के दो भाग हैं, एक परार्ध और दूसरा अवरार्ध । परार्ध प्रजापति है और अवरार्ध प्रकृति । इस अवरार्ध प्रकृति के मन, प्राण और पञ्चभूत रूपी सात पुत्र हैं, जिनसे यह सारा विश्व बनता है । ये सभी तत्त्व व्यापक प्रजापति की आज्ञा से अपना–अपना काम करते हैं तथा सारे विश्व को घेरे रहते हैं । विश्व में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो मन, प्राण और पञ्चभूतों से रहित हो ।"[3] इस दृष्टि से उन सात अर्धगर्भभूत तत्त्वों को मन, प्राण तथा पञ्चभूतों के रूप में भी देखा जा सकता है ।

(7) **तत्त्वज्ञ–निरूपण** :– सूक्त के सोलहवें मन्त्र में यह बताया गया है कि जो वास्तव में स्त्रियाँ हैं, उन्हें पुरुष कहा जाता है । इस तत्त्व को चक्षुष्मान् व्यक्ति ही जान सकता है, अन्धा नहीं । जो क्रान्तप्रज्ञ पुत्र है, वही इसे जान सकता है तथा इसका ज्ञाता पिता का भी पिता हो जाता है । इस ऋचा में तत्त्वज्ञ की भूरिशः प्रतिष्ठा की गई है । सायण ने सूर्य की रश्मियों को उदकरूपी गर्भ धारण करने के कारण स्त्रियां माना है, जबकि साधारणतः वृष्टिजलसेक्तृत्वेन उन्हें पुरुष माना जाता है । उन्होंने रश्मिसमूह को पिता तथा आदित्य को उसका भी पिता प्रतिपादित किया है ।[4] उनका तात्पर्य यह है कि इस तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति आदित्य ही हो जाता है । इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए सायण ने यह प्रतिपादित किया है कि जो लौकिक लोगों की दृष्टि में स्त्री है, वह तत्त्वज्ञों की दृष्टि में पुरुष है । आत्मा एक ही है, स्त्रीशरीर धारण करने के कारण वह

---

1. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
   षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। साङ्ख्यकारिका – 3.
2. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.36 पर आत्मानन्दभाष्य.
3. सातवलेकर, ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग – 1, पृष्ठ 441.
4. योषिद्वदुकरूपगर्भधारणात् स्त्रीत्वम् ।.... प्रभूतवृष्ट्युदकसेक्तॄन् पुरुषानाहुः ।.... पिता वृष्ट्या जगत्पालको रश्मिसमूहः तस्यापि पिता आदित्यः स भवति । आदित्य एव भवतीत्यर्थः। ऋग्वेद 1.164.16 पर सायणभाष्य.

स्त्री तथा पुरुष शरीर धारण करने के कारणपुरुष कहा जाता है । परमात्मा का पुरुष या स्त्रीरूप में होना औपाधिक है । यदि अल्पवय वाला भी पुत्र इस तथ्य को जान ले, तो वह अपने ज्ञानरहित पिता का भी पिता अर्थात् पितृवत् पूज्य हो जाता है ।[1]

आत्मानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य विस्तारपूर्वक करते हुए यह बताया है कि जो स्त्रियाँ होते हुए भी ब्रह्मविद्या को जानने वाली हैं, वे उत्कृष्ट पुरुष हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने एक शास्त्रीय समस्या यह उठायी है कि क्या स्त्रियों को ब्रह्मविद्या का अधिकार है ? तथा क्या पुत्र पिता का पिता अर्थात् गुरु हो सकता है ? अनेक शास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर निष्कर्ष रूप में उनका मानना यही है कि स्त्रियाँ भी ब्रह्मविद्या की अधिकारिणी हैं तथा पुत्र पिता को उपदेश दे सकता है । उन्होंने निष्कर्षतः कल्प को उद्धृत किया है ।[2]

विल्सन प्रस्तुत मन्त्र में व्याकरणगत रहस्यवाद मानते हुए "रश्मि" को पुंलिङ्ग "सञ्ज्ञा" के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसे स्त्रीलिङ्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[3] वस्तुतः इस मन्त्र में गूढ़ आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं । संसार में जो लिङ्ग की दृष्टि से देखने में स्त्री प्रतीत होती है, वह ज्ञानियों की दृष्टि में स्त्री न होकर पुरुष ही है, क्योंकि उसमें भी वही आत्मतत्त्व है, जो पुरुष में है । मन्त्र सङ्ख्या चार में अस्थिहीन स्त्रीतत्त्व (मातृतत्त्व) को अस्थिमान् पुरुष तत्त्व का धारक कहा गया है । वस्तुतः विराट् के रूप में जो महद्योनि या मातृतत्त्व है, उसके कुक्षि में पुरुष गर्भित है । प्रकृति के भौतिक रूप को देखने वाली भौतिक आँख से उस मूल प्राणात्मक बीज को

---

1. ऋग्वेद 1.164.16 पर सायणभाष्य.
2. पुंवदन्धश्च योषिच्च ब्रह्मविद्याधिकारिणौ ।
   श्रद्धिनो ब्रह्मवित्पुत्रो गुरुः स्यात्पितरं प्रति ।।
   द्रष्टव्य ऋग्वेद 1.164.16 पर आत्मानन्द का सम्पूर्ण भाष्य.
3. This is a piece of grammatical mysticism, **rashmi**, a ray of the sun, here personified as a female, is properly a noun masculine.
   ऋग्वेद 1.164.16 पर विल्सन की टिप्पणी.

नहीं देखा जा सकता । यह तात्त्विक भेद भी ज्ञानी ही जान सकता है । इस प्रकार का ज्ञानी, ज्ञान की दृष्टि से अपने पिता का भी पिता होता है ।

अठारहवें मन्त्र में "पर" से नीचे तथा "अवर" से ऊपर स्थित इस जगत् के पिता के बारे में जिज्ञासा की गई है । इसमें दिव्य मन की उत्पत्ति के बारे में भी पूछा गया है । सायण ने "पर" का अर्थ – आदित्य तथा "अवर" का – अग्नि करते हुए इन दोनों के ज्ञान को गूढ़ बताया है ।[1] तात्पर्य यह है कि अग्नि और आदित्य में कोई भेद नहीं है । दोनों की मात्र दो सञ्ज्ञाएँ हैं । आत्मानन्द "पर" को "परमात्मा" तथा "अवर" को "जीवात्मा" का वाचक मानते हैं ।[2] वस्तुतः द्युलोक "पर" तथा यह पृथिवीलोक "अवर" है । यदि "पितरम्" का अन्वय दोनों के साथ किया जाए, तो सूर्य तथा अग्नि – ये दोनों क्रमशः द्युलोक तथा पृथिवी के पिता – पालक के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । इन दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त मनस्तत्त्व भी अत्यन्त गूढ़ है । इसीलिए ऋषि ने अपने को कवि के रूप में ख्यापित करने वाले तत्त्वज्ञ से इन तीनों तत्त्वों – आदित्य, अग्नि तथा मनस् के बारे में पूछा है । साधारण व्यक्ति इस तत्त्वत्रयी का निरुपण करने में समर्थ नहीं हो सकता । मन्त्रस्थ "पितरम्" पद को मात्र "अस्य" के साथ जोड़कर इसका अर्थ – "द्युलोक से नीचे तथा पृथिवी से ऊपर स्थित इस जगत् के पिता को जो जानता है" किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में मन्त्र का पूर्वार्द्ध परमात्मजिज्ञासापरक हो जाएगा । तब मन्त्र के ज्ञेय तत्त्व "परमात्मा" तथा "मनस्" हो जाएंगे । आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना श्रेय है तथा इसी प्रकार भौतिक दृष्टि से मनस्तत्त्व को भी जानना आवश्यक है, क्योंकि संसार में अनेक प्रकार के सम्बन्धादि का आधायक मनस् ही है । जो व्यक्ति इन दोनों तत्त्वों को भलीभाँति जानता है, वही "कवि" (तत्त्वज्ञ) कहलाने तथा उपदेश करने का अधिकारी हो सकता है ।

उन्नीसवें मन्त्र में ऋषि ने तत्त्वज्ञों द्वारा निकटस्थ को दूरस्थ एवं दूरस्थ को निकटस्थ बताए जाने की बात की है । मन्त्र के उत्तरार्ध में इन्द्र एवं सोम द्वारा निर्मित मण्डलों द्वारा रथ में युक्त घोड़ों केसमान लोकों को ढोने की बात कही गई है । यहाँ विचारणीय है कि पार्श्वस्थ और दूरस्थ क्या हैं, जिन्हें तत्त्वज्ञ लोग दूरस्थ और निकटस्थ कहते हैं ? सायण ने उन्हें रश्मियाँ या ग्रहादि माना है ।

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.18 पर सायणभाष्य.
2. द्रष्टव्य, वही, आत्मानन्दभाष्य.

ये रश्मियाँ सूर्य तथा सोम के चक्र में लगी हुई हैं तथा उसके परिभ्रमण के कारण नीचे और ऊपर आती–जाती रहती हैं ।[1] वेङ्कटमाधव ने भी रश्मि का ही अर्थ लिया है । उनके अनुसार इन्द्र आदित्य का वाचक है तथा आदित्य और चन्द्रमा अलातचक्र के समान एक दूसरे को अपने–अपने तेज से पूर्ण करते हुए परिवर्तित होते रहते हैं तथा संसार को धारण किये हुए हैं ।[2] इस प्रकार इन्द्र एवं सोम के तेजोमण्डल द्वारा ही यह संसार धृत है । वस्तुतः कालचक्र सदैव चलता रहता है, जिसके कारण जिस वस्तु को हम पहले पार्श्वस्थ कहते हैं वह अगले क्षण में दूरस्थ हो जाती है तथा जिसे पहले हम दूरस्थ कहते हैं, वह पार्श्वस्थ हो जाती है । यह कालकृत परिवर्तन ही है । मन्त्र में इन्द्र पुरुष तथा सोम स्त्री का प्रतीक है । इन्हीं दोनों के तेजोमण्डल के परस्पर सम्पर्क से इस सृष्टि का क्रम चलता रहता है । इसी क्रम के कारण वस्तुओं में हुए परिवर्तन को तत्त्वज्ञ लोग उद्घाटित करते हैं ।

{8} "गो" तथा "वत्स" की अवधारणा :– ऋषि ने सूक्त में अनेकत्र "गो" तथा "वत्स" का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है ।[3] प्रथमतः "गो" शब्द का प्रयोग तीसरे मन्त्र में "वाणी" के अर्थ में किया गया है । सातवें मन्त्र में यह "रश्मि" का वाचक है । नवें मन्त्र में "गो" तथा "वत्स" का प्रयोग "माता" एवं "पुत्र के रूप में किया गया है । इन दोनों का रहस्यात्मक स्वरूप हमें सूक्त के सत्रहवें मन्त्र में दृष्टिगोचर होता है । वहाँ बताया गया है कि "गौ", "पर" से नीचे तथा "अवर" से ऊपर अपने पैर से "वत्स" को धारण करती हुई ऊपर स्थित हो गई । उसका गन्तव्य ज्ञात नहीं है तथा वह कहाँ चली गई, यह भी अज्ञात है । वह कहीं अपने "वत्स" को उत्पन्न करती है, किन्तु वह स्थान भी अज्ञात है । सायण ने प्रथमतः तो "आहुति" को "गो" तथा "अग्नि" को "वत्स" मानकर व्याख्या की है, किन्तु आगे वैकल्पिक रूप से उन्होंने "गो" को "रश्मिरूपा" तथा "वत्स" को वत्स के समान रक्षणीय यजमान के रूप में स्वीकार किया है । वह वत्ससदृश यजमान को लेकर आदित्य

---

1. ये सूर्यसोमयोश्चक्रे वर्तमाना रश्मयो ग्रहादयश्च तत्परिभ्रमणवशेन..... अधोमुखाः सन्ति तानेव ऊर्ध्वानाहुः कालविदः । ऋग्वेद 1.164.19 पर सायणभाष्य.
2. आदित्यचन्द्रमसावलातचक्रवदितरेतरं तेजोभिरापूरयन्तौ परिवर्तेते तेजोभिर्जगद्धारयन्ताविति । वही, वेङ्कटमाधवभाष्य.
3. द्रष्टव्य 1.164.3, 7, 9, 26, 27, 28, 29 तथा 40.

के पास चली जाती है तथा इन्द्रादि लोकों में प्रसव करती है, सर्वत्र नहीं ।[1] वेङ्कटमाधव भी "गो" को "रश्मि" के रूप में ही स्वीकार करते हैं । उन्होंने "अर्धम्" पद का दो बार अन्वय करते हुए रश्मि को, दिन को प्रकाशित करने वाली तथा रात्रि का अतिक्रमण करने वाली कहा है । उनके अनुसार "वत्स" आदित्य है ।[2] ग्रिफिथ ने "उषा" को "गौ" तथा सूर्य को "वत्स" माना है । उन्होंने "यूथ" शब्द का अर्थ – दृश्यमान जगत् किया है ।[3]

वस्तुतः यहाँ "गो" को ज्ञानस्वरूपा "रश्मि" तथा "वत्स" को उन किरणों से यजमान के हृदय में उत्पन्न होने वाले प्रकाशस्वरूप "ज्ञान" के रूप में मानना उचित प्रतीत होता है । वह ज्ञानस्वरूपा "रश्मि" अपने द्वारा सद्यः जायमान प्रकाशस्वरूप "वत्स" को अपने उच्च तथा निम्न – दोनों स्वरूपों से पुष्ट करती है । उसके दो स्वरूप ज्ञान एवं अज्ञान ही हो सकते हैं । यजमान में उत्पन्न हुए ज्ञान रूपी "वत्स" को ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही पुष्ट करते हैं । अधःस्थित लोक, अर्थात् पृथ्वी अज्ञान का प्रतीक है एवं ऊर्ध्वस्थित "द्युलोक" ज्ञान का । रश्मिरूपी "गौ" इन्हीं दोनों के मध्य "वत्स" को धारण करती है । उसका ऊर्ध्वगमन "ऋत" की ओर या सूर्यलोक की ओर माना जा सकता है । वही परार्ध है तथा मन, प्राण एवं शरीर से युक्त पृथिवीलोक अवरार्ध है । यह अज्ञान का प्रतीक है । "गो" परार्ध में जाकर ही "वत्स" को जन्म देती है, अवरार्ध में नहीं, क्योंकि यह अज्ञानस्वरूप है । तथ्य यह है कि यजमान के हृदय में ज्ञानोदय तभी होगा, जब वह आध्यात्मिक रूप से भौतिक प्रपञ्च से परे हो जाएगा ।

---

1. अत्राग्नौ हूयमानहविर्गोरूपेण स्तूयते । वत्सं वत्सस्थानीयमग्निम् ।..... यद्वा आदित्य-रश्मिसमूह एव गोरूपेण स्तूयते ।..... वत्सं वत्सवद्रक्षणीयं यजमानम्.....।
   ऋग्वेद 1.164.17 पर सायणभाष्य.
2. सा च गौः कञ्चिदर्धम् अहराख्यम् अञ्चन्ती रात्र्याख्यम् कम् चित् अर्धम् अतीत्य प्रादुरभूत्
   वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य.
3. Ushas or Dawn hath risen between heaven and earth, **carrying with her the young sun her offspring.**
   This herd of cattle : The visible world.
   वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.

छब्बीसवें मन्त्र में ऋषि ने शोभन दूध वाली गाय का आवाहन करते हुए कुशल दोग्धा से उसे दुहने के लिए कहा है । उसने सविता से श्रेष्ठ दूध प्रेरित करने की याचना की है, क्योंकि "घर्म" अभितप्त हो गया है । सायण ने "गोधुक्" का अर्थ – "गोदोग्धा" अध्वर्यु तथा सविता का – सबका ज्ञाता परमेश्वर किया है । वे "सवम्" का अर्थ – सोमयाग या क्षीर करते हैं । उन्होंने एक वैकल्पिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए धेनु को "मेघ", दुग्ध को "वृष्टि" तथा दोग्धा को "वायु" या "आदित्य" के रूप में स्वीकार किया है ।[1] वेङ्कटमाधव ने प्रस्तुत मन्त्र में गोरूपा माध्यमिका वाक् की स्तुति का उपपादन किया है ।[2] आत्मानन्द धेनु का अर्थ – अध्यात्मपरा श्रुति अथवा उपनिषद्, "सुहस्तः" का – सुखहस्तः सुखकरः अर्थात् शङ्कराचार्य और "सवम्" का अर्थ – "जन्म" करते हैं ।[3] तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर आत्मानन्द का अर्थ सङ्गत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दीर्घतमा के काल तक न तो उपनिषदों की रचना को स्वीकार किया जा सकता है और न शङ्कराचार्य के आविर्भाव को । ग्रिफिथ ने प्रकृत मन्त्र तथा आगामी दो मन्त्रों (37 तथा 38) में "गो" को यज्ञ–निष्पादनार्थ दुग्ध प्रदान करने वाली गाय के रूप में स्वीकार किया है ।[4] सातवलेकर जी ने मन्त्र के प्रतीक को स्पष्ट करते हुए धेनु को कामधेनु गाय के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसे महा प्रकृति माना है । इसका वत्स प्राणरूप सूर्य है और यह संसार उस गाय रूपी प्रकृति का दूध है । इस दूध को वही दुह सकता है जो ज्ञानी है, अर्थात् ज्ञानी ही इस प्रकृति और संसार की वास्तविकता को जान सकता है । सविता यह मन और प्राण है, यह प्राण शरीर में जीवनन–रस का सञ्चार करता है । यह शरीर एक भट्टी है, जो सदा तपती रहती है और इसमें प्राण के द्वारा उत्पन्न जीवन–रस पकता रहता है ।[5] प्रस्तुत स्थल पर सातवलेकर जी की व्याख्या सबसे अधिक सङ्गत प्रतीत होती है ।

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.26 पर सायणभाष्य.
2. द्रष्टव्य – वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य.
3. वही, आत्मानन्द–भाष्य.
4. The milch - cow in this and the two following stanzas may be the cow who supplies milk for the sacrifice.
   वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.
5. सातवलेकर, ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, भाग – 1, पृष्ठ 438.

सत्ताईसवें मन्त्र में "गो" को वसुओं की स्वामिनी, मन से "वत्स" को चाहने वाली, हिङ्कार करने वाली तथा "अघ्न्या" बताते हुए उसे अश्विनों के लिए दूध निकालने को कहा गया है। अन्ततः महान् सौभाग्य के लिए उसकी वृद्धि की कामना की गई है । सायण ने इस मन्त्र में भी अघ्न्या गौ को मेघरूपा माना है । वह वृष्टि करने के लिए गरजती है और वसुओं अर्थात् गो, सस्य इत्यादि धनों की पालिका है । यह लोक ही उसका वत्स है, जिसे मन से चाहती हुई वह आती है। उन्होंने "अश्विन्" का अर्थ – स्थावर तथा जङ्गम अथवा वायु और आदित्य से लिया है ।[1] आत्मानन्द ने यहाँ भी "वसुपत्नी" का अर्थ – ब्रह्मविद्या करते हुए उसी का सम्यक् उपपादन किया है ।[2] सातवलेकर जी ने गाय को मन, प्राण, अपान और पञ्चभूत रूपी आठ वसुओं का पालन करने वाली बताते हुए उसे सारे संसार की पालिका कहा है ।[3]

वस्तुतः प्रकृत मन्त्र में "गो" को रश्मि के रूप में ग्रहण करना चाहिए । संसार का सारा उत्कर्ष उन रश्मियों में ही निहित है । वे "वत्स" के समान इसे चाहती हैं । सत्रहवें मन्त्र के प्रतिपादन के समान ये रश्मियाँ भी ज्ञानस्वरूपा हैं । इनका लाभ ले लेने के पश्चात् व्यक्ति आप्तकाम हो जाता है । अश्विनों के लिए दूध निकालने का तात्पर्य उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करना हो सकता है । इस ज्ञानात्मक रश्मिरूपा गो के सौभाग्य की वृद्धि की कामना करने का तात्पर्य ज्ञान की प्रशंसा करना है । ज्ञान स्वयं आलोकित होते हुए ज्ञानी को भी आलोकित करता है ।

अट्ठाइसवें मन्त्र में रम्भाती हुई गौ द्वारा आँखें बन्द किये हुए बछड़े का सिर चाटने की बात कही गई है । वह बछड़े को अपने गरम थनों के पास ले जाती है तथा रम्भाते हुए उसे दूध पिलाती जाती है । सायण ने यहाँ भी "गौ" को मेघरूपा मानते हुए लोकरूपी वत्स के जल द्वारा सिञ्चन की बात कही है ।[4] आत्मानन्द ने इस मन्त्र में ब्रह्मविद्या की प्रवृत्तियों का प्रतिपादन स्वीकार किया है ।[5]

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.27 पर सायणभाष्य.
2. वही, आत्मानन्द–भाष्य.
3. वही, सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 438.
4. वही, 1.164.28 पर सायणभाष्य.
5. वही, आत्मानन्दभाष्य.

प्रकृत स्थल पर "गो" तथा "वत्स" के स्वाभाविक मिलन का यथार्थ निरूपण किया गया है । बछड़े को देखकर गाय का रम्भाना नितान्त स्वाभाविक है । वह शीघ्र ही बछड़े को चाटने लगती है तथा अपने थन को उसकी तरफ दूध पिलाने के लिए कर देती है । दूध पिलाते समय भी वह हुड़्कार प्रकट करती रहती है । मन्त्रस्थ "मिषन्तम्" पद का अर्थ – आँखें खोले हुए करना उचित है, यद्यपि सायण तथा सातवलेकर जी ने इसका अर्थ – आँखें बन्द किये हुए किया है ।[1] ज्ञान प्राप्त करते समय ज्ञानी का उन्मीलिताक्ष होना परमावश्यक है । लोक में भी उन्मीलिताक्ष वत्स को देखकर ही गो का रम्भाना उपपन्न है । "गो" अपने हृदय के उल्लास से वत्स के सिर को सूंघती है, जिससे वह भी रम्भाने लगे । इस वर्णन को मूल प्रकृति तथा उसके विश्वरूपी बछड़े के साथ भी सम्बद्ध किया जा सकता है । दोनों एक–दूसरे के प्रति हार्दिक उल्लास से ओतप्रोत हैं । यही विश्व का हार्दिक या प्राणमय जीवन है । सूक्त के नवम मन्त्र में "गो" को देखकर बछड़े के रम्भाने की बात भी कही गई है । वह वत्स रम्भाने के बाद अपनी माँ का अनुगमन करते हुए तीन योजनों में विश्व के सभी रूपों को देख लिया । मन, प्राण और पञ्चभूत ही विश्वरूप है । इनके अतिरिक्त इस विश्व में कुछ भी नहीं है । "वत्स" का "गो" के साथ तीन योजन तक चलना इन तीनों रूपों के दर्शन अर्थात् वास्तविक ज्ञान के लिए आवश्यक है । प्रत्येक योजन की यात्रा में एक–एक रूप का दर्शन हो सकता है । यह सम्पूर्ण विश्व इन्हीं तीन रूपों की समष्टि है । प्रत्येक शरीर में ये ही तीन रूप हैं । सर्वप्रथम स्थूल पञ्चभूतों से बना शरीर, पुनः उसके अन्दर रहने वाला सूक्ष्म प्राणतत्त्व तथा प्राण से भी सूक्ष्म उसे सञ्चालित करने वाला मनस्तत्त्व है ।

सूक्त के उन्तीसवें मन्त्र में "गौ" के आच्छादक तत्त्व द्वारा शब्द करने की बात कही गई है । वह गौ अपने आश्रय में स्थित होकर ज्ञान द्वारा मनुष्यों को निम्न कर देती है । चमकती हुई वह अपने रूप को प्रकट करती है । सायण ने आच्छादक तत्त्व को "वत्स" मानते हुए गौ द्वारा मनुष्यों को निम्नस्थ करने को, मनुष्यों की अपेक्षा उसे अधिक स्नेह प्रकट करने वाली के रूप में उपपन्न किया है । उन्होंने वैकल्पिक रूप से माध्यमिका वाक् के रूप में भी "गाय" को माना है ।[2]

---

1. ऋग्वेद 1.164.28 पर सायणभाष्य तथा सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 439.
2. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.29 पर सायणभाष्य.

ग्रिफिथ के अनुसार यहाँ "सः" का अर्थ – गरजने वाला बादल तथा "गौ" का – मेघ है ।[1] सातवलेकर जी "गौ" को रश्मिवाचक मानते हुए कहते हैं – "बादल शब्द करते हुए आते हैं और सूर्य–किरणों को ढँक लेते हैं, तब उन बादलों में स्थित बिजली चमकती है । जब वह पानी बरसाती है, तब मनुष्य उत्पन्न होते हैं (जल से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होते हैं), जब पानी बरसने लगता है, तब उसका रूप और प्रकाशमान हो जाता है ।"[2] प्रकृत स्थल पर सातवलेकर जी की दृष्टि को उचित कहा जा सकता है । वस्तुतः सूर्य की किरणें ही प्रकारान्तर से जल प्रदान करती हैं । बादल घिर जाने से ये रश्मियाँ तिरोहित होकर अपने आश्रय में स्थित हो जाती हैं । मन्त्र का मूल तत्त्व यह है कि यद्यपि गाय अपने वत्स द्वारा आच्छादित हो जाती है, तथापि उसका आच्छादन वास्तविक नहीं है, वह तो और उन्नत स्थान में स्थित हो जाती है । फिर गौ और वत्स दोनों मिलकर शब्द करने लगते हैं । वह मनुष्यों की सीमा से परे प्रकाशस्वरूप होकर अपना सुन्दर रूप दिखाती है । सुन्दर रूप दिखाने का तात्पर्य अन्धकार हटाने से है । इस तथ्य को उषा द्वारा सूर्य को प्रकट करने के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता हैं । वह उषा ही जगत् का अन्धकार तिरोहित करके सूर्य के रूप में अपना सुन्दर रूप प्रकट करती है ।

सूक्त का चालीसवाँ मन्त्र भी "गाय" से ही सम्बद्ध है । इसमें अहननशीला गाय को "यव" का भक्षण करके धनवती या सौभाग्यवती होने की कामना की गई है । इसी से यजमान भी प्रसन्न या धनवान हो सकते हैं । पुनश्च गाय से तृण का भोजन करके शुद्ध जल पीकर विचरण करने की प्रार्थना की गई है । आत्मानन्द ने यहाँ "गौ" को बुद्धि का प्रतीक मानते हुए उससे ब्रह्मरस का आस्वादन करना उपपन्न किया है ।[3] वेङ्कटमाधव ने इसे "वाक्" माना है ।[4] वस्तुतः प्रसङ्गानुसार यहाँ "गौ" का वाक्परक अर्थ ही करना चाहिए । वाणी रूपी धन से धनवान् होने पर ही व्यक्ति

---

1. He also : Probably parjanya, the personified Storm-Cloud. The Cow here is undoubtedly a cloud.
   ऋग्वेद 1.164.29 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी.
2. सातवलेकर – ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 439.
3. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.40 पर आत्मानन्द–भाष्य.
4. सर्वस्या एव वाचः स्तुतिः । गोरूपा हि वागित्युक्तम् । वही, वेङ्कटमाधव–भाष्य.

अक्षुण्ण रूप से धनी हो सकता है । वाणी को जानने का तात्पर्य उसके रहस्य को जानना है । ऐसी स्थिति में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान – तीनों एक हो जाएँगे तथा उनकी एकात्मक अचल प्रतिष्ठा हो जाएगी। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र को भी ऊपर वाले मन्त्रों की शृड्.खला में ही जोड़ते हुए "गो" को ज्ञानस्वरूपा रश्मियों के रूप में भी प्रतिपादित किया जा सकता है ।

ऊपर विवेचित मन्त्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋषि ने "गो" तथा "वत्स" का प्रतीकात्मक प्रयोग करते हुए उन्हें गूढ़ अर्थों में प्रयुक्त किया है । तात्त्विक दृष्टि से "गो" ज्ञानस्वरूप रश्मि है, तथा "वत्स" यह दृश्यमान जगत् ।

{9} **"सुपर्ण" तत्त्व** :– प्रस्तुत सूक्त के गूढ़ तत्त्वों में "सुपर्ण" का महत्त्वपूर्ण स्थान है । ऋषि ने 20, 21 तथा 22 वें मन्त्र में इसका सम्यक् निरूपण किया है । सड्.केत के रूप में यह सन्दर्भ 47 वें तथा 52 वें मन्त्र में भी आया है । छियालीसवें मन्त्र में तो यह देवैक्य का आधायक है । बीसवें मन्त्र में दो सुन्दर पड्.खों वाले, समान योग वाले, मित्रभाव से अभिभूत पक्षियों को एक ही वृक्ष पर आरूढ़ बताया गया है । उनमें से एक मीठे फल का भक्षण करता है तथा दूसरा मात्र देखता है या प्रकाशित होता है । सायण ने इस मन्त्र में दो लौकिक पक्षियों के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा की स्तुति का उपपादन किया है । सुपर्णस्थानीय वे–क्षेत्रज्ञ तथा परमात्मा "सयुज" अर्थात् समान योग वाले इसलिए हैं कि उनका सम्बन्ध तादात्म्य लक्षण वाला है, अतः वे दोनों एक ही स्वरूप वाले हैं । "समानख्यान" होने के कारण वे सखा हैं । उनमें दृष्टान्त–दार्ष्टान्तिकभाव नहीं है, अपितु जैसा ख्यान या स्फुरण परमात्मा का है, वही जीवात्मा का भी है । इसीलिए वे सखा अर्थात् एकरूप प्रकाश वाले हैं । दोनों का आश्रय एक ही वृक्ष–देह है । इनमें से जीवात्मा पिप्पल के रूप में अपने कर्मों के स्वादिष्ट फल का भोग कर रहा है, किन्तु आप्तकाम परमात्मा मात्र वहाँ साक्षिभाव से अवेक्षण कर रहा है ।[1] यहाँ सायण स्पष्टतः वेदान्त दर्शन की

---

1. अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते।..... द्वौ सुपर्णस्थानीयौ क्षेत्रज्ञ–परमात्मानौ समानयोगौ योगो नाम सम्बन्धः । स च तादात्म्यलक्षणः ।..... यादृशं ख्यानं स्फुरणं परमात्मनः तदेव ख्यानमितरस्यापि जीवात्मन इति सखायावित्युच्यते ।..... वृश्च्यत इति वृक्षो देहः । स चोभयोः समान एक एव । तयोरन्यो जीवात्मा पिप्पलं कर्मफलं स्वादुभूतमत्ति भुड्.क्ते ।..... अन्यः परमात्मा अनश्नन्नाप्तकामत्वेनाभुञ्जानः ।..... स्वात्मन्यध्यस्तं जगत् साक्षित्वेनेक्षते ।
ऋग्वेद 1.164.20 पर सायणभाष्य.

उत्पत्ति की ओर सड़्.केत करते हुए दृष्टिगत होते हैं । आत्मानन्द ने भी प्रस्तुत ऋचा में जीव तथा परमात्मा का ही उपपादन स्वीकार किया है ।[1] सातवलेकर जी भी इन्हीं विद्वानों का अनुगमन करते हैं ।[2] वेड्.कटमाधव ने दो पक्षियों के रूप में आदित्य और सोम को स्वीकार किया है । उन्होंने संवत्सर को ही वृक्ष मानते हुए आदित्य या इन्द्र को फल का भोक्ता तथा सोम को द्रष्टा के रूप में स्वीकार किया है ।[3]

इक्कीसवें मन्त्र में यह बताया गया है कि सुन्दर पड्.खों वाले पक्षी उस वृक्ष पर बैठकर अपने ज्ञान से अमृत के भाग की स्तुति करते हैं । सम्पूर्ण विश्व के स्वामी तथा पालक बुद्धिमान् परमात्मा द्वारा ऋषि में प्रवेश करने की बात भी की गई है । सायण ने मन्त्र की आधिदैविक व्याख्या करते हुए "सुपर्णाः" का अर्थ – रश्मियाँ तथा "अमृत" का – "उदक" किया है । उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष में "सुपर्ण" का अर्थ – अपने–अपने विषयों का ग्रहण करने में कुशल चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा अमृत का – "विषयावच्छिन्न चैतन्य" किया है । वे "विदथा" का अर्थ – वेदन – "वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य द्वारा" करते हैं । मन्त्र के अन्तिम पाद की व्याख्या करते हुए उनका मन्तव्य है कि पहले अज्ञान की स्थिति में मैं "मुझसे अन्य कोई ईश्वर है" इस तथ्य को न जानते हुए आगे चलकर यह जान लिया कि सत्यज्ञानादि लक्षण वाला कोई सर्वज्ञ, सर्वेश्वर है । बाद में गुरु तथा शास्त्रों के द्वारा यह जानकर कि वह ईश्वर मैं ही हूँ, मैं परिपूर्ण परमात्मा हो गया ।[4] आत्मानन्द सुपर्ण को मोक्षपक्षीय जीव तथा अमृत को सुखरूप ब्रह्म मानते हुए आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।[5]

---

1. ऋग्वेद – 1.164.20 पर आत्मानन्द–भाष्य.
2. वही, सातवलेकर जी का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 436.
3. द्वौ सुपतनौ आदित्यश्च सोमश्च सह...एकं वृक्षं संवत्सरम्...। वही, वेड्.कटमाधवभाष्य.
4. सुपर्णाः शोभनगमना रश्मयः। अमृतस्य उदकस्य।...सुपर्णाः स्वस्वविषयग्रहणाय गमन––कुशलानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि....अत्र विषयावच्छिन्नं चैतन्यममृतमित्युच्यते ।.... विदथा वेदनेन वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन।....अपरिपक्वमना अहं पूर्वमज्ञानदशायां मदन्य ईश्वरोऽस्तीत्य––विद्वान् ततः परमस्ति कश्चित् सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सत्यज्ञानादिलक्षण इति निश्चित्य पश्चाद् गुरुशास्त्राभ्यां स एवाहमस्मीति मत्वा....परिपूर्णः परमात्माऽभूवम् ।

   ऋग्वेद 1.164.21 पर सायणभाष्य.
5. सुपर्णा मोक्षपक्षीया जीवा....अमृतस्य सुखरूपस्य ब्रह्मणः । वही, आत्मानन्दभाष्य.

सूक्त के बाईसवें मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि विश्व के ऊपर जिस वृक्ष पर मधु का भक्षण करने वाले पक्षी निवास करते हैं तथा उत्पत्ति भी करते हैं, उसके ऊपरी भाग में स्वादिष्ट फल हैं । जो पिता को नहीं जानता है, वह उस मीठे फल को नहीं प्राप्त कर सकता । वेङ्कट माधव ने इस मन्त्र में "वृक्ष" को आदित्य तथा "सुपर्ण" को रश्मियाँ माना है ।[1] सायण ने यहाँ आधिदैविक रूप से "आदित्य" की तथा आध्यात्मिक रूप से "आत्मा" की प्रशंसा स्वीकार की है । आध्यात्मिक अर्थ के अनुसार जिस परमात्मा रूपी वृक्ष पर शोभनगमना इन्द्रियाँ ज्ञान का भक्षण करने वाली हैं, प्रबोध होने पर वे पुनः वहीं अपने-अपने विषयों को प्राप्त कर लेती हैं । उस परमात्मा के संसार से उद्धार कराने वाले स्वादिष्ट ज्ञानरूपी पिप्पल फल को "अग्रे" अर्थात् स्वरूप का ज्ञान हो जाने के पश्चात् प्राप्त किया जा सकता है । अतः जो "आत्मा" को जानता है, वही मोक्षफल प्राप्त करता है ।[2] आत्मानन्द के अनुसार इस मन्त्र में लिङ्गशरीर का ही भोक्तृत्व प्रतिपादित किया गया है ।[3] वेङ्कटमाधव आधिदैविक अर्थ ही प्रकट करते हैं ।[4] सातवलेकर जी "मध्वदः सुपर्णाः" का अर्थ – प्राणरस को पीने वाले पक्षी – जीवात्माएँ करते हैं । उनके अनुसार जब आत्माएँ शरीर के साथ संयुक्त होती हैं, तब वे जीवात्माएँ बनकर प्राणरूपी मधुर रस का पान करती हैं, (प्राणो वै मधु – प्राण ही मधु है – शतपथब्राह्मण 14.1.3.30) इस संसार वृक्ष में सबसे ऊपर मीठे-मीठे फल लगे हुए हैं, जो इस संसार में सर्वश्रेष्ठ बनता है, वही उन मीठे फलों को खा सकता है, पर जो उस सर्वपालक परमात्मा को नहीं जानता, वह उन फलों को नहीं पा सकता । परमात्मा को जाने बिना श्रेष्ठ बनना और श्रेष्ठ बने बिना उन मीठे फलों को पा सकना असम्भव है ।[5]

---

1. अस्मिन् आदित्यवृक्षे.....। ऋग्वेद 1.164.22 पर वेङ्कटमाधव-भाष्य.
2. अत्र....अधिदैवमादित्यमध्यात्ममात्मानं च प्रशंसति। सुपर्णाः शोभनगमनानीन्द्रियाणि मध्वदो मधुनो ज्ञानस्यात्तृणि ।.....प्रबोधकाले अधि विश्वे विश्वस्योपरि सुवते....स्वस्वविषयान् लभन्ते । तस्य परमात्मनः पिप्पलं पालकं संसारत उद्धारकं स्वाद्वास्वादनीयममृतत्वलक्षणं ज्ञानम् ।.....तत्फलमग्रे स्वरूपज्ञानोत्तरकालमाहुः ।

   ऋग्वेद 1.164.22 पर सायणभाष्य.
3. द्रष्टव्य, वही, आत्मानन्दभाष्य.
4. वही, वेङ्कटमाधव-भाष्य.
5. वही, सातवलेकर – ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, पृष्ठ 437.

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों पर विचार करने पर हमें "सुपर्ण" के रूप में "आत्मा" का परिचय प्राप्त होता है । बीसवाँ मन्त्र अद्वैतवेदान्तपरक न होकर त्रितत्त्ववादी विशिष्टाद्वैतवेदान्त की पृष्ठभूमि निर्मित करता है । उसमें जीवात्मा कर्तृत्व–भोक्तृत्व से युक्त बताया गया है । परमात्मा इन सबसे परे है । "वृक्ष" यह जगत् ही है । इस प्रकार आत्मा (चित्), जगत् (अचित्) तथा परमात्मा (ब्रह्म) के रूप में तीन तत्त्वों की प्रतिष्ठा की गई है । इक्कीसवें मन्त्र में बहुवचन में आए "सुपर्ण" शब्द का अर्थ "जीवात्मा" ही करना चाहिए, क्योंकि वे (जीवात्मा) संसार के आश्रय में रहते हुए अपने ज्ञान द्वारा निरन्तर अमरता की प्रशंसा किये जा रहे हैं । तात्पर्य यह है कि वे अमृतत्व को जानते तो हैं, किन्तु अज्ञानवश उन्हें अपने स्वयं के अमरधर्मा होने का ज्ञान नहीं है । ऋषि ने मन्त्र के उत्तरार्ध में स्वयं को अपरिपक्व मानते हुए अपने में ईश्वर या परमात्मा के प्रवेश की बात कही है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वार्द्ध में वर्णित सुपर्ण (जीवात्मा) अभी ऋषि की कोटि में नहीं पहुँच पाए हैं। बाईसवें मन्त्र में पुनः उसी संसार रूपी वृक्ष की तथा जीवात्माओं की चर्चा आई है । ये जीवात्मा मधु का भक्षण करने वाले हैं तथा इस विश्व के आश्रय में प्रजाओं की उत्पत्ति करते रहते हैं । इस जगत् रूपी वृक्ष के ऊपर स्वादिष्ट फल है, जिसे परमात्मा को जानने वाला व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है, न जानने वाला नहीं । तात्पर्य यह है कि इन लौकिक जीवों में भी ज्ञानोदय हो जाने के पश्चात् ही ये सांसारिक फलों के तत्त्व को जान सकते हैं । जब तक इन्हें परमात्मा का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक ये सांसारिक फलों के रहस्य को भी नहीं जान सकते हैं । बीसवें मन्त्र में जिसे "समानं वृक्षम्" कहा गया है वही इक्कीसवें में "यत्र" तथा बाईसवें मन्त्र में "यस्मिन् वृक्षे" के रूप में अभिहित किया गया है । इसी प्रकार "परिषस्वजाते", "अभिस्वरन्ति" तथा "निविशन्ते", ये तीनों क्रियापद प्रायः एक ही ध्वनि के सूचक हैं । बीसवें मन्त्र में प्रतिपादित दोनों पक्षी एकरूप हैं, मात्र उनमें "उपाधि" का ही भेद है ।

सैंतालीसवें मन्त्र में भी "सुपर्ण" शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है । यास्क उसे "रश्मि" का वाचक मानते हैं ।[1] सायण एवं वेङ्कटमाधव ने भी उन्हीं का अनुगमन किया है ।[2] आत्मानन्द प्रस्तुत मन्त्र में भक्त के स्वरूप को उपपन्न करते हैं । उनके अनुसार "सुपर्णाः" का अर्थ–

---

1. आदित्यस्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मयः । निरुक्त 7.24.
2. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.47 पर सायण एवं वेङ्कटमाधव–भाष्य.

"गरुड़ के समान जातिवाले" है । वे सुपर्ण सारूप्य इत्यादि के द्वारा विष्णु होकर समानता प्राप्त करते हैं ।[1] वस्तुतः यहाँ सुपर्ण का अर्थ – आदित्य की किरणें करना ही उचित प्रतीत होता है । उत्तरायण काल में रसों को हरने वाली किरणें जल को लिए हुए द्युलोक में चली जाती हैं । वे ही फिर दक्षिणायन के समय जल के आश्रयभूत "ऋत" से लौट आती हैं तथा उस समय पृथिवी जल से सींच दी जाती है ।

सूक्त के छियालीसवें मन्त्र में "सुपर्ण" शब्द का प्रयोग एक वचन में किया गया है । उसमें देवताओं की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि विप्र लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि कहते हैं तथा वह दिव्य सुन्दर पङ्खों वाला गरुत्मान् है । विप्र लोग इस एक ही "सत्" को बहुत प्रकार से कहते हैं । वे इसे अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं । स्पष्ट है कि यहाँ आया "सुपर्ण" शब्द उस देवतत्त्व का प्रतीक है, जिसे विचक्षण अनेक नामों से अभिहित करते हैं । यह "सुपर्ण" बीसवें मन्त्र में प्रतिपादित दो पक्षियों में से "साक्षिभाव" से देखने वाला दूसरा पक्षी है, जिसे परमात्मा के रूप में प्रकट किया गया है । एक ही परमात्मा को अनेक नामों से अभिहित करने का तात्पर्य यही है कि उनमें केवल नाम का भेद है, तात्त्विक भेद नहीं है । इस प्रकार यह मन्त्र "वैदिक अद्वैतवाद" या "देवैकत्ववाद" की प्रतिष्ठा करता है । सायण ने मन्त्र में प्रथम बार आए "अग्नि" का अर्थ – "अङ्गनादिगुणविशिष्ट" अग्नि तथा द्वितीय बार आए हुए का – "वृष्टि आदि का कारणभूत" अग्नि किया है ।[2]

सूक्त की अन्तिम ऋचा में भी "सुपर्ण" शब्द का प्रयोग एकवचन में ही किया गया है । वहाँ यह "सरस्वान्" के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है । ऋषि ने द्युलोक में उत्पन्न होने वाले सुन्दर पक्षी, विशाल पक्षी, जलों तथा ओषधियों के गर्भ, दर्शनीय तथा वर्षा काल में वृष्टि–जल से तृप्त करने वाले "सरस्वान्" को रक्षा करने के लिए बुलाया है । इससे यह ज्ञात होता है कि "सरस्वान्" अर्थात् "आदित्य" ही सबसे बड़ा रक्षक है । यह वही देव है, जिसे ऋषि ने प्रथम मन्त्र में तीनों भाइयों में

---

1. सुपर्णाः सुपर्णं गरुडसमानजातिकम् आरूढाः ।....विष्णवो भूत्वा सारूप्यादिना समानतां प्राप्ताः सुपर्णाः । ऋग्वेद 1.164.47 पर आत्मानन्द–भाष्य.
2. अग्निम् अङ्गनादिगुणविशिष्टम् एतन्नामकमाहुः ।....अग्निं वृष्ट्यादिकारणं वैद्युताग्निम् । ऋग्वेद 1.164.52 पर सायणभाष्य.

प्रमुख होता के रूप में अभिहित किया है । बीसवें मन्त्र में परमात्मा के रूप में व्याख्यात पक्षी भी यही है ।

इस प्रकार ऋषि ने सूक्त में अनेक स्थलों पर "सुपर्ण" के माध्यम से "तत्त्व" का सुन्दर निरूपण किया है । यह तारतम्य प्रथम मन्त्र से लेकर अन्तिम मन्त्र तक बना हुआ है । अतः यह कहा जा सकता है कि "सुपर्ण" का शाब्दिक अर्थ भले ही "पक्षी" क्यों न हो, इससे आत्मा तथा परमात्मा का सङ्केत प्राप्त होता है ।

(10) **काव्यतत्त्व** :- प्रस्तुत सूक्त के 23, 24 तथा 25 वें मन्त्र में "काव्यतत्त्व" के रूप में विभिन्न छन्दों का निरूपण किया गया है । तेईसवें मन्त्र में रहस्यात्मक भाषा में गायत्री के ऊपर गायत्री को अधिष्ठित कहा गया है । त्रैष्टुभ से त्रैष्टुभ की रचना हुई है । जगती पर जगत् अधिष्ठित है । इस तत्त्व को जानने वालों को अमृतत्व प्राप्त करने वाला कहा गया है । सायण ने गायत्री में अग्नि, त्रैष्टुभ में वायु तथा जगती में आदित्य की उद्भावना की है । उन्होंने आधियाज्ञिक व्याख्या करते हुए तीनों को प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन के साथ सम्बद्ध किया है ।[1] आत्मानन्द ने इस मन्त्र में गायत्र, त्रैष्टुभ तथा जागत ब्रह्म की कल्पना करते हुए इनके ज्ञाता अर्थात अनुभवकर्त्ता के लिए इस लोक में ही मोक्ष प्राप्त करने की बात कही है ।[2]

यदि इस मन्त्र का अर्थ छन्दःपरक भी किया जाए, तो कोई हानि नहीं है । ऐसी स्थिति में ये तीनों छन्द अपने में ही व्याप्त हैं, अर्थात् ये स्वयं ही अपने घटक हैं । इनका प्रतिपाद्य परमात्मा है तथा उसे जानने वाला अमर हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उसे वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

चौबीसवें मन्त्र में गायत्र से अर्क, अर्क से साम तथा त्रैष्टुभ से वाक पुनः वाक से वाक और द्विपद् तथा चतुष्पद् अक्षर से सात प्रकार की वाणियों को नापने या बनाने की बात कही गई है।

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.23 पर सायणभाष्य.
2. एवं तावद् गायत्रत्रैष्टुभजागतसञ्ज्ञाभिर्ब्रह्मविषयास्त्रयः पक्षाः उपन्यस्ताः ।.... ये तु तद्ब्रह्म छन्दोभिरनुपहितं निर्गुणं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यं निःसञ्ज्ञकं विदुरनुभवन्ति तेऽमृतत्वमिहैव मोक्षमानशुः । वही, आत्मानन्दभाष्य.

सायण ने तृतीय चरण में आए "द्विपदा" तथा "चतुष्पदा" को "वाकेन" का विशेषण माना है । वे "अर्क" का अर्थ – अर्चन का साधन मन्त्र करते हैं । त्रैष्टुभ को अन्य छन्दों का उपादान मानते हुए वे वाक का अर्थ – सूक्त या छन्द करते हैं ।[1] आत्मानन्द अर्क का अर्थ – सूर्य, साम का – सामाभिमानिनी देवता तथा वाक का – वागभिमानिनी देवता करते हैं । उनके अनुसार "अक्षर" अर्थात् उपासित ब्रह्म के द्वारा छन्द के रूप में वाक् की अभिमानिनी देवता को प्राप्त करने की बात कही गई है ।[2]

मन्त्र में आए "अर्क" का अर्थ – ऋक् एवं "साम" का – सामवेद किया जा सकता है, किन्तु "वाक" का अर्थ निकालना दुष्कर है । यह "यजुष्" नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी उत्पत्ति त्रिष्टुप् से बताई गई है, जो छन्दोबद्ध होता है, जबकि यजुष् गद्यमय है । फिर उसी द्विपद् तथा चतुष्पद् वाक से वाक की उत्पत्ति बताई गई है । यहाँ "वाक" द्वारा ऋषि का प्रतिपाद्य स्पष्ट नहीं होता । सामान्य रूप से इसे सम्पूर्ण वाङ्मय का द्योतक माना जा सकता है । इन सबकी रचना में अक्षर का सबसे प्रमुख स्थान है । इसीलिए अक्षर द्वारा ऋषि ने सात प्रकार की वाणियों का निर्माण होना बताया है । इन सात वाणियों को सात वैदिक छन्दों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है । इसी प्रकार इसका सम्बन्ध तीसरे मन्त्र के सप्त नामों तथा पाँचवे मन्त्र के सात तन्तुओं के साथ स्थापित किया जा सकता है ।

पच्चीसवें मन्त्र में ऋषि ने जगत् द्वारा द्युलोक में सिन्धु को स्थापित करने तथा रथन्तर में सूर्य को देखने की बात कही है । उन्होंने गायत्री की तीन समिधाओं की चर्चा करते हुए इसका अपने महत्त्व से ही प्रकाशित होना बताया है । सायण ने सिन्धु का अर्थ – स्यन्दनशील अथवा उदक का स्यन्दक आदित्य तथा रथन्तर का – रथन्तरनामक साम किया है । गायत्री की तीन समिधाओं को वे उसके तीन चरणों के रूप में स्वीकार करते हैं । वैकल्पिक रूप से उन्होंने इसे गायत्री, त्रिष्टुप् और

---

1. अर्कम् अर्चनसाधनं मन्त्रम्.....त्रिष्टुबुपादानम् इतरच्छन्दः प्रदर्शनार्थम् । वाकं वक्तव्यमेकैकं छन्दः......अथवा वाकं सूक्तम् । ऋग्वेद 1.164.24 पर सायणभाष्य.
2. अर्कं सूर्यम्....साम सामाभिमानिनीं देवतां....वाकं वागभिमानिनीं देवताम् ।.... अक्षर– –सञ्ज्ञकेन उपासितेन ब्रह्मणा मिमते गच्छन्ति सप्तसङ्ख्याका वाणीः छन्दोरूपवागभिमानिनीः देवताः । वही, आत्मानन्दभाष्य.

जगती के रूप में भी कल्पित किया है ।[1] वेङ्कटमाधव ने प्रायः सायण के समान ही व्याख्या की है ।[2] आत्मानन्द इसमें जागतब्रह्म का उपपादन करते हैं । वे तीन समिधाओं के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और शिव को कल्पित करते हैं ।[3]

वस्तुतः यहाँ सिन्धु का अर्थ जल करना चाहिए, क्योंकि यह द्युलोक अथवा अन्तरिक्ष से ही क्षरित होता है । सूर्य का रथ के अन्दर आरूढ़ होना स्वयं उपपन्न है । गायत्री की तीन समिधाएँ उसके तीन पाद ही हैं, इस प्रकार वह अपनी ही शक्ति तथा महत्त्व से प्रकाशित होती रहती है । इस मन्त्र में कर्त्तृपद के रूप में स्रष्टा को माना जा सकता है ।

ऋषि ने उपर्युक्त तीनों ऋचाओं के माध्यम से छन्दों का जो स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि ये छन्द ही परमतत्त्व के अभिधायक हैं । ऋषि इन छन्दों की चर्चा करके इनके प्रतिपाद्य तत्त्व की ओर सङ्केत करता है ।

(11) जीवतत्त्व :- सूक्त के तीसवें, इकत्तीसवें, बत्तीसवें, सैंतीसवें, अड़तीसवें तथा उन्तालीसवें मन्त्र में "जीव" के स्वरूप का निरूपण किया गया है । तीसवें मन्त्र में जीव तथा शरीर के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है । ये दोनों "सयोनि" हैं अर्थात् एक समान उत्पत्तिस्थान वाले हैं। सायण ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि यद्यपि जीव का जन्म नहीं होता, तथापि शरीरविशेष के साथ उसका सम्बन्ध होने से दोनों को एक उत्पत्तिस्थान वाला कहना उचित है ।[4] आत्मानन्द ने जीव को जीवभाव स्वीकार करने वाले आत्मा के रूप में माना है । उन्होंने 'स्वधा' को अन्न का पर्याय माना है । वैकल्पिक रूप से वे धर्माधर्मसंस्कार को भी "स्वधा" के रूप में मानते हैं ।[5] सायण इसका

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.164.25 पर सायणभाष्य.
2. वही, वेङ्कटमाधवभाष्य.
3. समिधः फलाभिव्यञ्जकास्तिस्रो मूर्त्तयो भवन्ति। गायत्राद्युपासकानां ब्रह्मा वा विष्णुर्वा शिवो वा अवान्तरफलभोगानन्तरं अर्चिरादिमार्गेण स्वकान् लोकान् नयन्ति । वही, आत्मानन्दभाष्य.
4. यद्यपि जीवस्य न जन्मास्ति तथापि वपुषस्तत्सद्भावात् तत्सम्बन्धेन उपचर्यते ।
   ऋग्वेद 1.164.30 पर सायणभाष्य.
5. अन्ननामैतत्। उत्तरदेहभोगसाधनैः स्वधाभिः आत्मीयं भोगं दधद्भिः वा धर्माधर्मसंस्कारैः चरति। वही, आत्मानन्दभाष्य.

अर्थ – पुत्रों द्वारा "स्वधा" शब्द के साथ दिये गए अन्नों के रूप में लेते हैं ।[1] वस्तुतः "स्वधा" का अर्थ अपनी धारण शक्ति से लेना चाहिए । इसे अपने पुराने धर्माधर्मसंस्कारों के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है । जीव का विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करना उसकी इच्छा या पुराने संस्कारों द्वारा अधिक सङ्गत प्रतीत होता है ।

आत्मा भ्रमणशील है । विभिन्न शरीरों में भ्रमण करते रहना उसका निसर्ग है । जब यह आत्मा या जीव शरीर को छोड़कर चला जाता है, तो शरीर घर में निश्चेष्ट भाव से पड़ा रहता है । शरीर तथा जीव दोनों साथ–साथ रहने वाले हैं, किन्तु शरीर नश्वर तथा आत्मा अविनाशी या अमर्त्य है । मृत शरीर का जीव अपनी स्वधा अर्थात् आन्तरिक शक्ति या इच्छा द्वारा भ्रमण करता रहता है ।

प्रकृत मन्त्र के समान ही अड़तीसवें मन्त्र में भी जीवात्मा तथा शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है । मन्त्र का पूर्वार्द्ध तो तीसवें मन्त्र के उत्तरार्द्ध का प्रायः अनुवर्तन ही है । मन्त्र में शरीर तथा जीव दोनों को ही शाश्वत, सर्वत्र गतिशील या विविध स्थानों पर जाने वाला तथा विरुद्ध दिशाओं में जाने वाला बताया गया है । ये शाश्वत इसलिए हैं कि सूक्ष्म शरीर के रूप में दोनों का साथ बना रहता है । इनमें से लोग शरीर के बारे में तो जानते हैं, किन्तु जीवात्मा के बारे में नहीं जानते हैं । आत्मा को न जानने का कारण इसका अप्रत्यक्ष होना है । सायण के अनुसार परमात्मा ही सूक्ष्मशरीर की उपाधि से युक्त होकर नाना प्रकार के कर्मों को करके उनका फल भोगने के लिए जीव के रूप में लिङ्ग, सूक्ष्म और स्थूल – इन तीन शरीरों से युक्त होकर विभिन्न लोकों में विचरण करता है । उनके अनुसार कुछ विवेकी लोग, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व दोनों से युक्त, इस शरीर के अतिरिक्त कोई और तत्त्व है – यह जानते हैं । कुछ अन्य लोग देहत्रय से व्यतिरिक्त आत्मा को नहीं जानते हैं । इसलिए आत्मज्ञान दुर्लभ है ।[2] आत्मानन्द ने इस मन्त्र में जीवन्मुक्त का लक्षण उपपन्न किया है ।[3]

---

1. पुत्रकृतैः स्वधाकारपूर्वकदत्तैरन्नैः चरति । ऋग्वेद 1.164.30 पर सायणभाष्य.
2. परमात्मैव सूक्ष्मशरीरोपाधिकः सन् नानाविधकर्म कृत्वा तद्भोगाय जीवसञ्ज्ञां लब्ध्वा शरीरत्रयेण सम्बद्धः लोकान्तरेषु सञ्चरति।....केचन विवेकिनः कर्तृत्वभोक्तृत्वोपेतो देहातिरिक्तः कश्चिदस्तीति अनुमिमते। न केऽपि देहत्रयव्यतिरिक्तमात्मानं जानन्ति। अतो दुर्लभमात्मज्ञानम्। ऋग्वेद 1.164.38 पर सायणभाष्य.
3. द्रष्टव्य – वही, आत्मानन्दभाष्य.

इसी सन्दर्भ में उन्तालीसवें मन्त्र पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है । सायण ने इसमें जीवात्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण स्वीकार किया है । उन्होंने मन्त्र में आए "ऋक्" शब्द से ऋगादि चारों वेदों को अङ्गों सहित अपरविद्या तथा अक्षर को ब्रह्म का वाचक माना है । वे देव इत्यादि के स्वरूप के लाभ को सभी वेदों का प्रतिपाद्य मानते हैं ।[1] आत्मानन्द ने विषयों को व्याप्त करने वाले को अक्षर अर्थात् जीवात्मा मानते हुए सारे वेदों को ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादक, अथ च ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान को विशिष्टात्मज्ञान स्वीकार किया है ।[2]

वसतुतः वेदों के अक्षर रूपी परमात्मा में सारे देवता निवास करते हैं । तात्पर्य यह है कि ऋचाओं का प्रतिपाद्य देवतत्त्व या परमात्मतत्त्व ही है । जो व्यक्ति इस प्रतिपाद्य को नहीं जानता है, उसके लिए मात्र अक्षर के रूप में उन मन्त्रों का कोई लाभ नहीं है । मन्त्रों का अपना विशिष्ट प्रयोजन या अर्थ है, जो गुह्य है । इस रहस्य को जानने वाले लोग इसका लाभ उठाते हैं । यहाँ तक कि वे देवताओं के साथ बैठते भी हैं ।

सूक्त के इकत्तीसवें मन्त्र में ऋषि ने "रक्षक" के दर्शन करने की बात कही है । सायण ने "गोपाम्" पद का अर्थ – प्रकाश इत्यादि के द्वारा समस्त लोकों का रक्षक अर्थात् आदित्य किया है उन्होंने तैत्तिरीय आरण्यक (5.6.4) को उद्धृत किया है, जिसमें आदित्य को "गोपा" कहा गया है।[3] आत्मानन्द इसका अर्थ "ईश" करते हैं ।[4]

---

1. जीवात्मनः पारमार्थिकं रूपमस्ति। तदत्रोच्यते । अत्र ऋक्शब्देन ऋक्प्रधानभूताः साङ्गापर–विद्यात्मकाः चत्वारो वेदा उच्यन्ते । अक्षरशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वम् ।....तादृशं देवादीनां स्वरूपलाभास्पदं कृत्स्नवेदैः प्रतिपाद्यं तात्पर्यम्...। ऋग्वेद 1.164.39 पर सायणभाष्य.
2. अश्नुते व्याप्नोति विषयानित्यक्षरम्। तस्मिन्नक्षरे जीवात्मनि।.... एवं सर्वेऽपि वेदाः ब्रह्मात्मैक्यविषया इति ज्ञात्वा ब्रह्मात्मैक्यावधारणं विशिष्टात्मज्ञानम् ।
   ऋग्वेद 1.164.39 पर आत्मानन्दभाष्य.
3. सर्वस्य लोकस्य वृष्टिप्रकाशादिना गोपायितारम्...एवं महानुभावमादित्यम्।... अपश्यं गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपाः स हीमाः प्रजाः गोपयति – इत्यादि तैत्तिरीयकं च द्रष्टव्यम् । ऋग्वेद 1.164.31 पर सायणभाष्य.
4. गोपां गोप्तारमीशम् । वही, आत्मानन्दभाष्य.

ऐसा प्रतीत होता है कि तीसवें मन्त्र में जिस आत्मतत्त्व की चर्चा की गई है, ऋषि ने उसका साक्षात्कार कर लिया है और इसी की घोषणा वह प्रकृत मन्त्र में कर रहा है । ऋषि द्वारा दृष्ट तत्त्व गतिशील होते हुए भी गिरने वाला नहीं है । वह पार्श्ववर्त्ती तथा दूरस्थ सभी मार्गों से चलता है । वह साथ–साथ भी चलता है तथा चारों ओर भी । वह अन्यों के आच्छादक के रूप में भी है तथा लोकों के भीतर बार–बार स्थित होता रहता है । स्पष्ट है कि तीसवें तथा अड़तीसवें मन्त्र में प्रतिपादित जीवात्मा के कुछ धर्म इसमें भी विद्यमान हैं । यदि इसे सूर्य के रूप में भी मान लिया जाए, तो कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद में ही सूर्य को स्थावर तथा जङ्गम सबका आत्मा कहा गया है ।[1]

बत्तीसवें मन्त्र में आत्मज्ञान को दुष्कर बताते हुए जीव के क्लेशादि सहन करने की बात कही गई है। सायण के अनुसार यहाँ गर्भवास के क्लेश के साथ जन्म को प्रतिपादित करते हुए इसके परिहार – हेतु आत्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है ।[2] वेङ्कटमाधव के अनुसार इस जीव को उत्पन्न करने वाला पिता भी यह नहीं जानता कि यह जीव कहाँ से आता है तथा कैसा है ? यदि व्यक्ति इस जीव के बारे में पूर्णतः जान ले, तो वह बन्धन से मुक्त हो जाता है ।[3]

मन्त्र में आए "बहुप्रजाः" पद का अर्थ, सायण ने बहुत बार जन्म लेने वाला अथवा उत्पन्न होकर स्वयं भी अपत्यों का उत्पादन करने वाला, किया है । ऐसा जीव निर्ऋति नामक घोर दुःख का अनुभव करता है ।[4] आत्मानन्द के अनुसार इस मन्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि आत्मज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, न तो कर्म से और न ही ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से ही ।

---

1. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 1.115.1.
2. अत्र गर्भवासक्लेशपूर्वकजननप्रतिपादनेन तत्परिहाराय आत्मा ज्ञातव्यः इति अर्थात् प्रतिपाद्यते । ऋग्वेद 1.164.32 पर सायणभाष्य.
3. य एतच्छरीरं पिता चकार न सः अमुम् वेत्ति जीवं कुतोऽयमागच्छति कीदृश इति ।..... यद्येनं जानाति ततो मुच्यत इति । वही, वेङ्कटमाधवभाष्य.
4. बहुजन्मभाक् । अथवा उत्पन्नः सन् स्वयमप्यपत्योत्पादनेन बहुप्रजाः ।.....निर्ऋतिनामकं प्रदुःखमनुभवति । ऋग्वेद 1.164.32 पर सायणभाष्य.

इसीलिए ज्ञानकर्मसमुच्चय का निराकरण किया गया है ।[1] यहाँ जीव का विविध कष्टों को सहना उसके अज्ञान के कारण है । आत्मज्ञान होते ही वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है । यद्यपि जीव अनश्वर है, तथापि शरीर के साथ सम्बद्ध होने से शरीर के धर्मों से वह भी प्रभावित होता है ।

सूक्त के सैंतीसवें मन्त्र में भी आत्मज्ञान की दुरूहता तथा प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। ऋषि को यह ज्ञात नहीं है कि वह अर्थात् उसका आत्मा किसके समान है ? वह मूढ़चेता है तथा मन अर्थात् इन्द्रियों के वश में होकर जगत् में व्यवहार करता है । मन का अर्थ विचार से भी लिया जा सकता है । ऐसी स्थिति में अर्थ यह होगा कि ऋषि अपने विचारों के बल पर संसार के करणीय कार्यों का निष्पादन करता है । जब ऋत का प्रथम उत्पन्न भाग ऋषि के पास आया, तो उसी समय उसने वाणी के भाग को प्राप्त किया । सायण ने "ऋत" का अर्थ परमार्थ परब्रह्म तथा पहले उत्पन्न होने वाले तत्त्व को प्रत्यक् प्रवणजनित अनुभाव माना है । उन्होंने वाणी के भाग का तात्पर्य ऐकात्म्य का प्रतिपादन करने वाली वाणी के भजनीय अर्थात् शब्दब्रह्म से व्याप्त होने योग्य ब्रह्मपद से लिया है ।[2] आत्मानन्द ने इसे ब्रह्मविद्या रूपी वाक् के भाग अर्थात् भजनीय के अर्थ में लिया है ।[3] वस्तुतः यह वाणी का रहस्य या प्रतिपाद्य है ।

प्रकृत मन्त्र के चतुर्थ चरण का सम्बन्ध इकत्तीसवें मन्त्र के प्रथम चरण के साथ स्पष्टतः परिलक्षित होता है । उसमें रक्षक के दर्शन की बात कही गई है, तो यहाँ वाणी का भाग प्राप्त करने की । दोनों में कोई भेद नहीं है । उन्तालीसवाँ मन्त्र तो परब्रह्म को ही वाणी (वेद–वाणी) के प्रतिपाद्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है ।

---

1. प्राक्प्रतिपादितात्मज्ञानादेव मोक्षः न कर्मणा नापि समुच्चयेत इति वक्तुं ज्ञानकर्मसमुच्चय–निराकरणम् । ऋग्वेद 1.164.32 पर आत्मानन्दभाष्य.
2. ऋतस्य परमार्थस्य परस्य ब्रह्मणः । प्रथमोन्मेषः प्रथमोत्पन्नश्चित्तप्रत्यक्प्रवणजनितोऽनुभावः। .....ऐकात्म्यप्रतिपादिकाया उपनिषद्वाचः....भजनीयं शब्दब्रह्मणा व्याप्तव्यं परं ब्रह्मपदम्। ऋग्वेद 1.164.37 पर सायणभाष्य.
3. ब्रह्मणः सम्बन्धिन्याः अस्याः प्रकृतायाः ब्रह्मविद्यारूपिण्याः वाचः श्रुतेः भागं भजनीयम् । वही, आत्मानन्दभाष्य.

ऊपर विवेचित मन्त्रों के आधार पर हमें जीव का जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसके अनुसार वह अमर्त्य, शरीर के साथ सम्बद्ध पुनः जन्म ग्रहण करने वाला, अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा विचरण करने वाला तथा कर्मानुसार फल प्राप्त करने वाला है । उसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है तथा प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य कष्टों तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है । ऋगादि का प्रतिपाद्य भी वह आत्मतत्त्व ही है

[12] **यज्ञ की अवधारणा** :- मूलतः ऋग्वेद में अनेक देवताओं की स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं । इन स्तुतियों का विनियोग विभिन्न यज्ञों में किया जाता है । प्रस्तुत सूक्त अल्पस्तव है । इसमें स्तुतिपरक मन्त्रों की सङ्ख्या अत्यन्त न्यून है, किन्तु कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे यज्ञीय कर्मकाण्ड की पुष्टि होती है । इन मन्त्रों में 19, 34, 35, 43, 50 तथा 51 वें को ग्रहण किया जा सकता है ।

सर्वप्रथम उन्नीसवें मन्त्र में इन्द्र एवं सोम का उल्लेख प्राप्त होता है । ये दोनों यज्ञ के आधायक हैं । अतः इस दार्शनिक सूक्त में भी हमें यज्ञीय कर्मकाण्ड के सङ्केत प्राप्त होते हैं । चौंतीसवें मन्त्र में ऋषि ने चार प्रश्न उठाए हैं । पहले प्रश्न में पृथिवी की पराकाष्ठा के बारे में पूछा गया है । दूसरा प्रश्न भुवन की नाभि के ज्ञान से सम्बद्ध है । तीसरे प्रश्न के रूप में वर्षक या शक्तिशाली अश्व के "रेतस्" के बारे में पूछा गया है । चौथे प्रश्न में वाणी के परम स्थान के बारे में जिज्ञासा की गई है । सायण ने "नाभि" का अर्थ – संनाह या बन्धन से लिया है, जिसमें सब कुछ बाँध दिया जाता है । अश्व का अर्थ उन्होंने – "व्याप्त आदित्य" किया है ।[1] आत्मानन्द "वृष्णः रेतः" का अर्थ – देहेन्द्रियादि के स्वामी जीव के अश्व अर्थात् इन्द्रियरूप "मनस्" का रेतस् करते हैं।[2] यहाँ इतनी खींचतान के साथ अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है । यद्यपि यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि ऋषि ने किसके लिए "अश्व" शब्द का प्रयोग किया है, तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है

---

1. नाभिः संनाहः बन्धनम् । यत्र सर्वं सन्नद्धं भवति तम् ।..... अश्वस्य व्याप्तस्यादित्यस्य। ऋग्वेद 1·164·34 पर सायणभाष्य.
2. वृष्णो देहेन्द्रियादिस्वामिनो जीवस्य यः अश्वः इन्द्रियम् तस्याश्वस्य मनसो रेतो रयणम् । वही, आत्मानन्दभाष्य.

कि वह तत्त्व इस जगत् का कारण है । इस दृष्टि से इसे आदित्य के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है । ग्रिफिथ ने इसे पिता द्युलोक माना है ।[1] इसी प्रकार दूसरे प्रश्न के रूप में पूछे गए "नाभि" का अर्थ – केन्द्र बिन्दु करना चाहिए, क्योंकि नाभि मध्य में स्थित होता है । वह मूल बिन्दु होता है ।

ऊपर पूछे गए चारों प्रश्नों के उत्तर पैंतीसवीं ऋचा में दिये गए हैं । "वेदि" को पृथिवी की पराकाष्ठा बताया गया है । ग्रिफिथ ने इसे द्युलोक के निकटतम स्थान के रूप में बताया है, जहाँ देवता मनुष्यों के पास आते हैं ।[2] यज्ञ को भुवन की नाभि अर्थात् केन्द्रबिन्दु के रूप में माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सारा जगत् यज्ञ में ही अनुस्यूत है । इसी प्रकार सोम को शक्तिशाली अश्व का "रेतस्" कहा गया है । यह प्रजनन का द्योतक है । अन्तिम प्रश्न के उत्तर के रूप में ब्रह्मा को वाणी का परम स्थान निरूपित किया गया है । ग्रिफिथ ने "ब्रह्मा" का अर्थ – वेद पाठ करने वाले पुरोहित से लिया है ।[3] सायण ने ब्रह्मा को प्रजापति का वाचक माना है ।[4] वस्तुतः यज्ञ के सन्दर्भ में ब्रह्मा का अर्थ इस नाम वाले पुरोहित से ही लेना चाहिए । यज्ञ में चार प्रकार के ऋत्विक् होते हैं – होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा ।[5] ब्रह्मा यज्ञ में वह चौथा ऋत्विक् है, जो शेष तीनों के कर्मों का निरीक्षण करता है और स्वयं मौन रहता है । अतएव ब्रह्मा मौन या अनिरुक्त वाक् का प्रतीक है । यास्क ने ब्रह्मा को "सर्वविद्यः" अर्थात् सब कुछ जानने में समर्थ बताया है ।[6] इसीलिए ब्रह्मा को वाणी का परमस्थान या उत्पत्तिस्थान कहा गया है ।

---

1. **The Stallion:** Dyaus, or Father Heaven.
   ऋग्वेद 1.164.35 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी.
2. **The Earth's extremest limit:** the altar, as the place nearest to heaven, the place where the Gods visit men. वही.
3. **This Brahman:** The priest so named who recites the texts of the Veda. वही.
4. अयं ब्रह्मा प्रजापतिरेव । वही, सायणभाष्य.
5. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.71.11.
6. ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति । ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति । निरुक्त – 1.3.

यदि मन्त्र के चारों चरणों पर विचार किया जाए, तो ज्ञात होता है कि उन सबके द्वारा यज्ञ का ही उपपादन किया गया है । एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि चारों चरणों में क्रमशः इयम्, अयम्, अयम् तथा अयम् पदों का प्रयोग किया गया है । ये चारों निकटता के सूचक हैं । अतः यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि उक्त प्रश्नोत्तर यज्ञ-स्थल पर ही हो रहा है । इससे ऋषि का यज्ञ से निकट सम्बन्ध प्रकट होता है । सोम का उल्लेख होने से प्रकृत यज्ञ को सोमयाग माना जा सकता है ।

सूक्त के तैंतालीसवें मन्त्र में ऋषि ने पहले दूर से धूम-दर्शन की, बाद में उसके कारण भूत अग्नि को देखने की चर्चा की है । वहाँ वीर पुरुषों अर्थात् यजमानों ने चितकबरे सोम को पकाया । इस प्रक्रिया को प्राथमिक धर्म बताया गया है । सायण ने इस मन्त्र में अनुमान प्रमाण की उद्भावना की है । उन्होंने "विषूवता" पद का अर्थ – व्याप्तिमान् किया है । वे "परः" का अर्थ – उसका कारणभूत अग्नि करते हैं । "पृश्नि" का अर्थ उन्होंने शुक्लवर्ण किया है ।[1] ग्रिफिथ ने "पृश्नि" का अर्थ – धब्बेदार तथा "उक्षा" का बैल किया है । वे इसे "सोम" का अभिधायक मानते हुए पूरी प्रक्रिया को बादलों के एकत्र होने का आलङ्कारिक वर्णन मानते हैं ।[2] आत्मानन्द ने भी अनुक्रमणिका के आधार पर "उक्षा" को सोम का अभिधायक माना है ।[3]

वस्तुतः प्रकृत मन्त्र में सोम याग का ही उपपादन किया गया है । इसमें यज्ञ के समय सोम-लता का रस पीया जाता है । उसे ही यजमान गोबर के कण्डे पर पका रहे हैं । उससे उत्पन्न होने वाले धूम को दूर से ही ऋषि ने देखा तथा व्याप्ति ज्ञान के आधार पर वहाँ अग्नि की भावना भी कर ली । बाद में सोम को भी पकाए जाते हुए देखा । इस प्रकार की प्रक्रिया को ऋषि ने

---

1. विषूवता व्याप्तिमता एना अनेन अवरेण निकृष्टेन धूमेन परः परस्तात् तत्कारणभूतमग्निम–
–पश्यम्। उक्षाणं फलस्य सेक्तारम्। पृश्निं शुक्लवर्णम्। ऋ.1.164.43 पर सायणभाष्य.
2. **The spotted bullock:** the Soma. The whole may, perhaps, be a figurative description of the gathering of the rain-clouds. वही, ग्रिफिथ की टिपपणी.
3. अत्रैव मन्त्रे उक्षाणं पृश्निम् – इति उक्षपदेन सोम उच्यते इत्यनुक्रमणिका ।
वही, आत्मानन्दभाष्य.

प्राथमिक धर्म कहा है । तात्पर्य यह है कि ऋषि के काल के पूर्व समय से ही सोमयाग या अन्य याग प्रचलन में थे । प्राथमिक धर्म का तात्पर्य धार्मिक विधान से है ।

सूक्त का पचासवाँ मन्त्र यज्ञ–कर्त्ताओं की 'गति' के बारे में बताता है । देवताओं ने यज्ञ से ही यज्ञ को सम्पन्न किया । वे प्रारम्भिक धर्म थे । वे महिममण्डित देव लोग नाक लोक को प्राप्त कर लिए, जहाँ पहले से ही प्राचीन साध्य देव निवास करते हैं । सायण ने मन्त्र में पहले आए "यज्ञ" का अर्थ – निर्मथ्याग्नि तथा द्वितीय बार आए हुए का – होमसाधन आहवनीय किया है । उनका तात्पर्य यह है कि देवों ने अनुष्ठान हेतु आहवनीयाग्नि को स्थापित किया । देवों का अर्थ उन्होंने यजमान किया है ।[1] आत्मानन्द के अनुसार जो यज्ञ अर्थात् काम्य कर्म से यष्टव्य ईश्वर का यजन करते हैं, वे स्वर्ग में दीप्यमान देव हो जाते हैं ।[2] साध्य देव उन्हें कहते हैं, जिन्होंने पूर्णतः आत्मसाक्षात्कार नहीं किया है, किन्तु वे इसके निकट पहुँच गए हैं । अथर्वन् तथा अङ्गिरा सञ्ज्ञक पितर इस कोटि में आते हैं । ये देवताओं से निम्न कोटि में आते हैं, अतः मन्त्र के प्रथम चरण में आए "देवाः" पद का अर्थ यजमान करना पड़ेगा, क्योंकि देवताओं के साध्य बनने तथा स्वर्ग प्राप्त करने का कोई महत्त्व ही नहीं है । मनुष्य के लिए ही वह पद अभिलषित हो सकता है । उन्हें देव इसलिए कहा गया है कि अपने कर्म द्वारा वे देवत्व प्राप्त कर सकते हैं । इस दृष्टि से प्रकृत स्थल को उन्तालीसवें मन्त्र के अन्तिम चरण से सम्बद्ध किया जा सकता है, जिसमें देवताओं का स्थान जानने वालों के लिए उनके साथ बैठने की बात कही गई है ।

इक्यावनवें मन्त्र में यज्ञ द्वारा पृथिवी एवं द्युलोक के मध्य सामरस्य की बात कही गई है । जल एक ही है, किन्तु वह सूर्य की किरणों द्वारा ऊपर जाता रहता है । पुनः वही जल नीचे आता है । पर्जन्य भूमि को तृप्त करते हैं तथा द्युलोक को अग्नियाँ तृप्त करती हैं । आत्मानन्द ने "उदक" का पदच्छेद "उत् + अक" करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि देशकालादि में समान होने पर भी

---

1. यज्ञेन निर्मथ्याग्निना यज्ञं होमसाधनमाहवनीयं पूजितवन्तः । अनुष्ठानाय संयोजितवन्त इत्यर्थः। देवाः व्यवहर्त्तारः यजमानाः । ऋग्वेद 1.164.50 पर सायणभाष्य.
2. ये यज्ञेन काम्यकर्मणा यष्टव्यमीश्वरं यजन्ति ते देवा भवन्ति स्वर्गे दीप्यमानाः । वही, आत्मानन्दभाष्य.

दुःख से ऊपर उठा हुआ यह ब्रह्म धर्माधर्मसंस्कारवाली इन्द्रियों तथा प्राणों से उपहित जीव के रूप में देवता इत्यादि का अनुभव करता है तथा नीचे भी मनुष्यादि के रूपों का अनुभव करता है ।[1]

वस्तुतः यज्ञ द्वारा बौद्धिक तथा धार्मिक दोनों पक्षों का समन्वय हो जाता है । चिन्तन बुद्धि का तथा यज्ञ धर्म का लक्षण है । इस प्रकार उक्त मन्त्रों में यज्ञ का निरूपण करते हुए दीर्घतमा ने भी दर्शन तथा कर्मकाण्ड दोनों का ही सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है ।

(13) वाणी का स्वरूप :- सूक्त के अनेक मन्त्रों में वाणी का सम्यक् निरूपण किया गया है । यद्यपि 3, 23, 24, 25, 35, 37, 39, 40 प्रभृति मन्त्रों में वाणी के विषय में कोई न कोई सङ्केत अवश्य किया गया है, तथापि मन्त्र सङ्ख्या 41, 42, 45 और 47 में इसका विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

इकतालीसवें मन्त्र में वाणी को गौरी रूपा मानते हुए उसे जल का तक्षण करने वाली कहा गया है । वह लोक में एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी तथा नवपदी होती हुई तथा परमाकाश में हजारों अक्षरों वाली है । यास्क के अनुसार वह मध्यम अर्थात् मध्यमलोक के ऊपर एकपदी, मध्यम तथा आदित्य के रूप में द्विपदी, चारों दिशाओं के रूप में चतुष्पदी, दिशाओं तथा अवान्तर दिशाओं के रूप में अष्टापदी, दिशाओं, अवान्तर दिशाओं और आदित्य के रूप में नवपदी तथा परम व्योम में बहूदका है ।[2] सायण, आत्मानन्द प्रभृति आचार्यों ने भी वाणी के विभिन्न पदों का उपपादन अपने-अपने ढंग से किया है ।[3]

---

1. समानं देशकालादौ समानमपि उदकं अकात् दुःखात् उद्गतमप्येतद्ब्रह्म अहभिः अहीयमानैः धर्माधर्मसंस्कारैः इन्द्रियैः प्राणैश्चोपहितं जीवभूतं सत् उदेति देवतादित्वमनुभवति । अव च नीचैरपि मर्त्ये मनुष्यादिरूपमनुभवति च ।

   ऋग्वेद 1.164.51 पर आत्मानन्दभाष्य.

2. एकपदी मध्यमेन । द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च । चतुष्पदी दिग्भिः । अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च । नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च सहस्राक्षरा बहूदका परमे व्यवने । निरुक्त 11.40.

3. द्रष्टव्य - प्रकृत शोध प्रबन्ध के सप्तम अध्याय में "वाक्तत्त्व".

उपर्युक्त मन्त्र में "गौरी" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ महिषी होता है । इसीलिए ग्रिफिथ ने इसे महिषी मानते हुए मेघ के रूप में ग्रहण किया है ।[1] सामान्यतः "गो" शब्द का व्यवहार वाणी के लिए भी किया जाता है । यहाँ इसी अर्थ में प्रयुक्त है । वाणी के विभिन्न पदों का अभिप्राय किसी छन्द या छन्दों के विभिन्न चरणों के रूप में लिया जा सकता है । इस दृष्टि से विचार करने पर हमें ऋग्वेद में नव चरणों वाला कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता है, जबकि तीन चरणों वाला गायत्री छन्द प्रधान होते हुए भी यहाँ परिगणित नहीं है । अतः वाणी के पदों के रूप में ऋषि की मूल दृष्टि के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है । परम व्योम में वाणी को सहस्राक्षरा कहने का तात्पर्य उसको अपरिमित मानना है ।

सूक्त के बयालीसवें मन्त्र में इसी वाणी से समुद्रों को प्रवाहित होने वाला बताया गया है । समुद्र के जल के कारण चारों दिशाएँ जीवित हैं । वहीं से अक्षर निकलता है, जिसके आधार पर सारा विश्व जीवित है । सायण ने समुद्र का अर्थ – मेघ तथा अक्षर का – उदक किया है ।[2] यास्क एवं वेङ्कटमाधव ने भी उदकपरक अर्थ ही किया है ।[3] आत्मानन्द ने "मुद्रा" का अर्थ – ब्रह्मविद्या तथा जो इसके सहित हो अर्थात् इससे एकवाक्यता को प्राप्त करने वाली अवान्तरवाणी को समुद्र कहा है।[4] ज्ञातव्य है कि वाणी ने अपना उत्पत्ति-स्थान समुद्र में बताया है ।[5] इस प्रकार वाणी के अधिष्ठान के रूप में समुद्रों का प्रवाहित होना तथा उनसे ही अक्षर की उत्पत्ति होना – दोनों बातें उपपन्न हो जाती हैं । उसी अक्षर पर सारा विश्व आश्रित है ।

---

1. **The buffalo hath lowed** : the great rain-cloud has thundered. ऋग्वेद 1.164.41 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी.
2. समुद्राः वृष्ट्युदकसमुन्दनाधिकरणभूताः मेघाः । अक्षरमुदकम् । ऋग्वेद 1.164.42 पर सायणभाष्य.
3. द्रष्टव्य – वही, यास्क एवं वेङ्कटमाधव की व्याख्याएँ.
4. मुदम् आनन्दं राति ददाति इति मुद्रा ब्रह्मविद्या इति च । तत्सहिताः तदेकवाक्यतां गताः अवान्तरवाचः समुद्राः । वही, आत्मानन्दभाष्य.
5. ऋग्वेद 10.125.7.

पैंतालीसवें मन्त्र में वाणी के चार भागों की चर्चा आई है, जिसे इकतालीसवें मन्त्र में प्रतिपादित "चतुष्पदी" गौरीवाक् के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है । वाणी के इन चारों स्थानों या रूपों को ब्रह्मवेत्ता मनीषी ही जानते हैं । इसके तीन रूप गुहा में निहित हैं तथा मनुष्य मात्र इसके चौथे रूप का व्यवहार करते हैं । दार्शनिक दृष्टि से इन चार रूपों को व्याकरणदर्शन में प्रतिपादित वाणी के चार भेदों – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में समझा जा सकता है । परा वाणी मूलचक्र में, पश्यन्ती नाभि में, मध्यमा हृदय में तथा वैखरी कण्ठ में स्थित होती है ।[1] इस प्रकार वाणी के चार रूप हैं ।

सूक्त के उन्चासवें मन्त्र में ऋषि ने वाणी को सरस्वती देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जो आज भी लोकविश्रुत है । उसने सरस्वती के स्तन को सुखकारक, रत्नों को धारण करने वाला, धनों को धारण करने वाला तथा सुष्ठु प्रदाता कहा है । सरस्वती उस स्तन से समस्त वरणीय पदार्थों को पुष्ट करती है । ऋषि ने सरस्वती के इस प्रकार के स्तन को पीने के लिए अपनी तरफ करने की प्रार्थना की है । सायण ने "स्तन" का अर्थ – शिशुस्थानीय प्राणियों के पान-हेतु लौकिक एवं वैदिक अच्छे शब्दों के रूप वाला स्तन किया है । उन्होंने वसुवित् का अर्थ – धनों का वेत्ता, प्राप्त करने वाला या प्राप्त कराने वाला किया है ।[2] आत्मानन्द ने इस मन्त्र में वाक्, देवता तथा नदी के रूप में तीन प्रकार की सरस्वती की कल्पना करते हुए प्रत्येक विशेषण की तदनुकूल व्याख्या की है ।[3]

ऋषि द्वारा उपर्युक्त मन्त्रों में किये गए वाणी के निरूपण से इसकी सर्वव्यापकता सिद्ध होती है । एक तरफ वाणी का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है, तो दूसरी तरफ सरस्वती या वैखरी के रूप में उसका लौकिक पक्ष । वस्तुतः वाणी सर्वत्र अनुप्रविष्ट है । जगत् का

---

1. परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
   हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।। नागेश – परमलघुमञ्जूषा, पृष्ठ 23.
2. स्तनः स्तनवच्छिशुस्थानीयानां प्राणिनामाप्यायनकारी लौकिकवैदिकसुशब्दरूपः स्तनः । वसुवित् वसूनां वासयित्रीणां धनानां वेत्ता लब्धा वेदयिता वा ।
   ऋग्वेद 1.164.45 पर सायणभाष्य.
3. तत्र वाग्रूपिणी देवतारूपिणी नदीरूपिणी च क्रमादुक्ता ।
   वही, आत्मानन्दभाष्य.

व्यवहार इसके बिना असम्भव है । यह प्राणिमात्र में समायी हुई है । इसी तथ्य को ऋषि ने अनेक रूपों में स्पष्ट किया है ।

अस्यवामीय सूक्त के ऊपर किये गए विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृत सूक्त में सृष्टिविद्या से सम्बद्ध अनेक पहेलियों को निरूपित किया गया है । ऋषि के काल में सृष्टि के जिन रहस्यों पर विचार किया जाना अपेक्षित था, उसने यहाँ कहीं विस्तृत तो कहीं संक्षिप्त रूप से कर दिया है । संवत्सर की अवधारणा बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है । पूरी सृष्टि–प्रक्रिया में इसका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । वस्तुतः इसी में पूरी सृष्टि पिरोयी गई है । उसे कालचक्र के रूप में तथा विभिन्न ऋतुओं के विभाग के रूप में देखना ऋषि की मौलिक विशेषता है । इसी प्रकार आदित्य को इसके साथ सम्बद्ध करना भी महत्त्वपूर्ण है । सूक्त में 3, 5, 6, 7 इत्यादि सङ्ख्याओं का रहस्यात्मक प्रयोग किया गया है । सृष्टि के सन्दर्भ में माता–पिता तथा वत्स की अवधारणा नितान्त अपेक्षित है । ऋषि ने अनेक मन्त्रों में इस तथ्य को स्फुट किया है । "वत्स" के रूप में यह "जगत्" अर्थात् सृष्टि ही हमारे सम्मुख आती है । ऋषि ने जगत् के आदि कारण को जानने की इच्छा व्यक्त की है । इस दृष्टि से उसने विभिन्न प्रकार के तत्त्वज्ञों का स्वरूप प्रदर्शित किया है । पूरे सूक्त में अनेकत्र "गो" के स्वरूप का निरूपण किया गया है । यह "गो" अपने "वत्स" को देखकर शब्द करती है, वत्स भी ऐसा ही करता है । इस प्रकार के स्वाभाविक तथा साहित्यिक वर्णन भी सूक्त में उपलब्ध होते हैं ।

सृष्टि के अतिरिक्त जो आधुनिक दर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, उन पर भी ऋषि ने सम्यक् दृष्टिपात किया है । ऋषि द्वारा प्रस्तुत "जीव" की धारणा एवं शरीर से उसका सम्बन्ध–प्रतिपादन आधुनिक या परवर्ती दार्शनिक जगत् के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसी प्रकार "अज" को परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करना भी इस सूक्त की प्राथमिक और मौलिक विशेषता है । देवैक्य का प्रतिपादन भी बहुत स्पष्ट शब्दों में किया गया है । दार्शनिक वृत्ति को याज्ञिक कर्मकाण्ड से जोड़ना सर्वविध सामञ्जस्य का प्रतीक है ।

अभिव्यक्ति का एक माध्यम काव्य या कोई भी रचना है । ऋषि ने उसके तत्त्वों तथा प्रतिपाद्य को भी सम्यक् निरूपित किया है । वस्तुतः काव्य का प्रमुख उद्देश्य परमतत्त्व को स्पष्ट करना ही है । इसी दृष्टि से ऋषि ने वाणी का भलीभाँति प्रतिपादन किया है । यहाँ तक कि उसे सरस्वती के रूप में भी मण्डित किया है ।

अध्याय – 5

पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10.90) एवं उसमें निहित तत्त्व

(क) पुरुष शब्द का तात्त्विक विवेचन

(ख) पुरुष सूक्त

(ग) सूक्त में विद्यमान विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा

(1) पुरुष का सहस्रत्व
(2) दशाड्.गुलम्
(3) इदं सर्वम्
(4) महिमा
(5) त्रिपाद
(6) पुरुष का विष्वड्.–क्रमण
(7) विराट्
(8) आदिम यज्ञ
(9) यज्ञपुरुष
(10) बर्हिषि प्रौक्षन्
(11) साध्य, ऋषि और देव
(12) सर्वहुत्–यज्ञ
(13) पृषदाज्यम्
(14) वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु
(15) वेद का आविर्भाव
(16) पञ्च पशुओं की उत्पत्ति
(17) चार वर्णों की उत्पत्ति
(18) ब्रह्माण्डीय अवयवों की उत्पत्ति
(19) सप्त परिधियाँ
(20) इक्कीस समिधाएँ
(21) पुरुष–पशु
(22) प्रथम धर्म
(23) नाकलोक

(क) "पुरुष" शब्द का तात्त्विक विवेचन

प्राचीन वाङ्मय में "पुरुष" शब्द का प्रयोग "आत्मा" और "परमात्मा" दोनों अर्थों में प्राप्त होता है । सामान्यतः इसका निर्वचन "पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः" किया जाता है । इस रूप में इसका अर्थ होगा – शरीर में निवास करने वाला आत्मा । "शतपथब्राह्मण" में पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि "दृश्यमान लोकों" को "पुर" कहते हैं, उस पुर में रहने वाला व्यापक तत्त्व "पुरुष" है ।[1] "पिपर्ति इति पुरुषः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे पदार्थों को भरने वाले, किंवा सबमें अनुस्यूत तत्त्व को पुरुष कहते हैं । इसी प्रकार यदि "पुरः शेते इति पुरुषः" ऐसी व्युत्पत्ति की जाए तो अर्थ होगा – सभी पदार्थों के पूर्व में स्थित पुरुष । "पृ" धातु का अर्थ पूर्ण या आप्यायित करना भी होता है । इस दृष्टि से इसका अर्थ हो सकता है – जो साधकों को पूर्ण या आप्यायित करने वाला है, तृप्ति एवं शान्ति देने वाला है, वह पुरुष है । बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि "आत्मा ने इन सबसे पूर्व सारे पापों को जलाया, अतः वह पुरुष कहा जाता है ।"[2] "पुरुष" की एक और व्युत्पत्ति – "पुरुषु बहुषु शेते" भी की जा सकती है । इसका अर्थ होगा – बहुतों में शयन करने वाला । सायण ने अव्यक्त महदादि से विलक्षण चेतन तत्त्व को पुरुष माना है ।[3] उन्होंने उसी स्थल पर प्राणिसमूह की समष्टि के रूप में स्थित ब्रह्माण्डशरीरी विराट् नामधारी को भी पुरुष माना है ।[4]

यास्काचार्य ने "पुरुष" का निर्वचन तीन प्रकार से किया है ।[5] "पुरिषादः" "पूः" पूर्वक "सद्" धातु से बनता है, जिसके अर्थ विशरण, गति और अवसाद हैं । स्कन्दस्वामी ने गति अर्थ

---

1. "इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः"। शतपथब्राह्मण – 13.6.2.1.
2. स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः । बृहदारण्यकोपनिषद् – 1.4.1.
3. "अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः"। ऋ.10.90.1 पर सायण का विनियोग.
4. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेशो विराडाख्यो यः पुरुषः । वही, सायणभाष्य.
5. पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा । यास्क – निरुक्त, 2.3.1.

को ग्रहण करके उसे भोक्ता और शरीरधारी कहा है ।[1] दुर्गाचार्य ने पूः का अर्थ शरीर अथवा बुद्धि करते हुए इसमें विषयोपलब्धि के लिए रहने वाले को पुरुष माना है ।[2] यास्क के दूसरे निर्वचन "पुरिशयः" के अनुसार "पुर" में शयन करने वाले को पुरुष कहते हैं । उनका तीसरा निर्वचन "पूरयतेर्वा" पुरुष को अन्तर्यामी होकर सर्वत्र व्याप्त होने वाला प्रतिपादित करता है ।

स्वामी दयानन्द ने "पुरुष" को सारे संसार में व्याप्त होकर रहने वाला माना है । उनका तात्पर्य है कि जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा हो, वह पुरुष है ।[3]

आचार्य उव्वट ने पुरुष को नारायणनामधारी पुरुष माना है ।[4] जबकि महीधर ने उसे अव्यक्त, महदादि से विलक्षण चेतन पुरुष ही माना हे ।[5]

गीता में क्षर, .अक्षर और उत्तम पुरुष के रूप में तीन प्रकार के पुरुष बताए गए हैं । सम्पूर्ण प्राणियों को "क्षर" तथा आत्मा को "अक्षर" कहा गया है ।[6] इन दोनों से पृथक् परमात्मा को "उत्तम पुरुष" का अभिधान दिया गया है ।

वैदिक पृष्ठभूमि में धर्म या तत्त्व की दृष्टि से "पुरुष" की धारणा महत्त्वपूर्ण है । इसमें "पुरुष" शब्द से विश्व के अन्तिम सत्य पुरुषरूप परमेश्वर का सङ्केत किया गया है । वेदों में आदिपुरुष को अग्निरूप अथवा सूर्यरूप में स्वीकार किया गया है । अग्निचयन में आहित "हिरण्मय पुरुष" इसी "सौर पुरुष" का प्रतिनिधित्व करता है । तामस पाश के छिन्न हो जाने पर साधक

---

1. पुरं शरीरं भोक्तृत्वेन गच्छतीति । निरुक्त – 2.3.1 पर स्कन्द-भाष्य.
2. पूः शरीरं बुद्धिर्वा तयोरसौ सीदतीति पुरिषादः इति पुरुषः । वही, दुर्गवृत्ति ।
3. पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति पुरुषः ।

   दयानन्द – ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टि–उत्पत्ति विषय ।
4. शुक्लयजुर्वेद–संहिता – 31.1 पर उव्वट भाष्य.
5. वही, महीधर भाष्य.
6. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

   क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।

   उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । गीता – 15.16–17.

आदित्यवर्ण उस महान् पुरुष को जानकर मृत्यु को अतिक्रान्त कर जाता है । परम पुरुष ही वास्तविक अयन है । इस अयन तक पहुँचने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है ।[1] मानव–चेतना, काल–चेतना तथा विश्व–चेतना में "पुरुष" तत्त्व के रूप में स्थित है । आदित्य में स्थित पुरुष कालचैतन्य है । इस कालचैतन्य के अभाव में संवत्सरात्मक काल का ज्ञान असम्भव है । ऐसी स्थिति में ऋतुचक्र भी निरन्तर प्रवर्तित नहीं हो सकता । विश्वचेतना का परमतत्त्व विराट् पुरुष है । उसी की एक मूर्च्छना मानव–चैतन्य आत्मा है । उपनिषदों का प्रतिपाद्य यही मानव–चैतन्य आत्म पुरुष है । इसी दृष्टि से बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से इसी आत्म पुरुष के बारे में जिज्ञासा की है ।[2] ऋग्वेद के विद्वान् महदुक्थ में उसी की मामांसा करते हैं । अध्वर्यु अग्निचयन में उसी का विचार करते हैं । सामवेदी महाव्रत में इसी का चिन्तन करते हैं । पृथिवी, स्वर्ग, वायु, आकाश, जल, ओषधियों, वनस्पतियों, चन्द्रमा, नक्षत्रों तथा समस्त प्राणियों में इसी की ब्रह्म के रूप में उपासना की जाती है ।[3]

(ख) पुरुषसूक्त

"पुरुषसूक्त" कृष्ण यजुर्वेद को छोड़कर लगभग सभी संहिताओं में मिलता है । यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का नब्बेवां सूक्त है । शुक्लयजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय में यह सम्पूर्ण सूक्त उपलब्ध होता है । इसके अन्त में छः नई ऋचाएँ जोड़ दी गई हैं, जिसे "उत्तरनारायण" कहते हैं । इस प्रकार कुल बाईस ऋचाएँ हो गई हैं । इसमें मन्त्रक्रम के अतिरिक्त मन्त्रगत पदों में भी पार्थक्य है। सामवेद (1.13) में संख्या तीन सौ सत्रह से लेकर इक्कीस तक मात्र पाँच ऋचाओं को परिवर्तन के साथ ग्रहण किया गया है । अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड का छठां सूक्त भी पुरुषसूक्त है तथा यह क्रम और पद दोनों दृष्टियों से ऋक् तथा यजुष् से कुछ भिन्न है । तैत्तिरीय आरण्यक (3.12) में पुरुषसूक्त की सोलह ऋचाओं के अन्त में दो त्रिष्टुप् और जोड़ दिये गए हैं ।

---

1. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.18.
2. तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । बृहदारण्यकोपनिषद् – 3.9.26.
3. एतं ह्येव बहृवृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा एतस्यामेतं दिव्येतं वायावेतमाकाश एतमप्स्वेतमोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते । ऐतरेयारण्यक – 3.2.3.

"पुरुषसूक्त" दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है । इस सूक्त में जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । यह सूक्त स्तवनात्मक न होकर वर्णनात्मक है । इसके अतिरिक्त इसमें तथ्यों का भी स्पष्टतः निरूपण किया गया है । वेद को समझने के लिए इस सूक्त को समझना आवश्यक माना जाता है । इस सूक्त में जहाँ मानव–व्यवहार की व्याख्या की गई है, वहीं दार्शनिक तत्त्वों का भी आख्यान है । यही कारण है कि यह सूक्त ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों में निर्विवाद रूप से परिगणित है । यह सूक्त बहुत लोकप्रिय है । इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि इसमें किसी बाह्य पदार्थ से जगत् की सृष्टि न बताकर जनसामान्य द्वारा बोधगम्य पुरुष से ही सृष्टि का विकास दर्शाया गया है । अतः लोगों की भावनाओं के सन्निकट होने के कारण यह सूक्त अधिक लोकप्रिय हुआ । सामान्यतः इस सूक्त के आधार पर "पुरुषमेध" की कल्पना की जाती है । ऋग्वेद तथा ऐतरेयब्राह्मण में उपलब्ध शुनःशेप का उपाख्यान भी पुरुषमेध को सङ्केतित करता है । वस्तुतः ऋग्वेद के युग में भी पुरुषमेध नहीं होता था । ब्राह्मणों तथा सूत्रों में वर्णित पुरुषमेध शुद्ध रूपक है । यज्ञ परम्परा के सूत्र अत्यन्त प्राचीनकाल में भी उपलब्ध होते हैं । यहूदी तथा भारतीय आर्यों में यज्ञ अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी, किन्तु कहीं भी नरमेध की प्रथा के प्रमाण नहीं मिलते हैं । वस्तुतः इस प्रकार की कथाओं का सङ्केत देवता के प्रति अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तु का समर्पण करना है ।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[1] में "सर्वेश्वरवाद" अथवा "एकेश्वरवाद" की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है । यज्ञों के प्राधान्य के कारण ही ऋषियों को धार्मिक जगत् में उन्हीं से सम्बद्ध रूपकों पर आधृत होना पड़ा । वैदिक ऋषि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को यज्ञमय मानता है । इसलिए सृष्टिकर्म भी यज्ञ ही है । विराट् पुरुष यज्ञ में अपने को अर्पित करके अनेक रूपों में प्रकट होता है । प्रस्तुत सूक्त में विराट् पुरुष और उसके अङ्गों का वर्णन किया गया है । इस सूक्त के ऋषि नारायण तथा देवता पुरुष हैं । मन्त्र सङ्ख्या एक से लेकर पन्द्रह तक अनुष्टुप् तथा सोलहवाँ मन्त्र त्रिष्टुप् में उपनिबद्ध है ।

[ग] सूक्त में विद्यमान विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा

पुरुष एवं उससे उत्पन्न सृष्टि के बारे में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्त में आए विभिन्न तत्त्वों की समीक्षा आवश्यक है । इसे निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है ।

---

1. ऋग्वेद – 10.90. इस सूक्त के सभी मन्त्र तथा उनके हिन्दी-अनुवाद परिशिष्ट "क" में दिये गए हैं ।

(1) **पुरुष का सहस्रत्व** :- सूक्त के प्रथम मन्त्र में पुरुष को "सहस्रशीर्षा", "सहस्राक्ष" और "सहस्रपात्" कहा गया है । यहाँ सायण ने "सहस्र" को उपलक्षण माना है । अतः उनके अनुसार इसका अर्थ "अनन्त शिरो से युक्त पुरुष" हुआ ।[1] संसार के सभी प्राणी उस पुरुष से ही उत्पन्न होते हैं, अतः उनका शरीर भी उसी पुरुष का है । उव्वट ने "सहस्र" शब्द को अनेक का पर्याय माना है ।[2] महीधर ने इसे "बहुत्व" का वाचक माना है और इसका अर्थ "असंख्य शिरों वाला" किया है ।[3] यदि "सहस्र" को बहुत्ववाची न मानकर संख्यावाचक माना जाएगा, तो उसकी दो हजार आँखें माननी पड़ेंगी, जबकि मन्त्र में ही उसे "सहस्राक्ष" बताया गया है । वस्तुतः पुरुष के अड्.गों की सहस्रता उसकी अनन्तता, सार्वभौमिकता और अलौकिकता का द्योतक है । अद्वैत की दृष्टि से विचार करने पर अधिदैवत जगत् के सहस्रों ब्रह्माण्डों के सहस्रों द्युलोक शिर होंगे, सहस्रो सूर्य-चन्द्र नेत्र होंगे और सहस्रों भूमियाँ पैर होंगे । आधिभौतिक जगत् के सहस्रों प्राणियों के सहस्रों शिर मानों उस एक अद्वैत पुरुष के ही सहस्रों शिर हैं । अनन्त नेत्र और पैर मानों उसी के अनन्त नेत्र और पैर हैं । मुंशीराम शर्मा ने द्वैतदृष्टि से लक्षणा का आश्रय लेते हुए "सहस्र शीर्षा" का अर्थ अनन्त ज्ञान, "सहस्राक्ष" का सर्वदर्शिता और "सहस्रपात्" का अर्थ अनन्तगतिशीलता तथा सर्वव्यापकता या सर्वप्राप्तता किया है ।[4] इस रूप में परमेश्वर एक ऐसा पुरुष है, जिसके ज्ञान, दर्शन तथा प्राप्ति (व्यापकता) की कोई सीमा नहीं है । इस प्रकार पुरुष के सहस्रत्व में उसकी सार्वभौकिता, दिव्यता और नित्यता (अमरता) निहित है ।

(2) **दशाड्.गुलम्** :- प्रथम मन्त्र में ही आए इस पद का अर्थ सायण ने "दश अड्.गुल स्थान" करते हुए उसे उपलक्षण माना है । वह पुरुष ब्रह्माण्ड के अन्दर ही नहीं, अपितु बाह्य पदार्थों में भी व्याप्त होकर स्थित है ।[5] ग्रिफिथ ने "दशाड्.गुलम्" को मानव के हृदय का वह स्थान बताया है, जहाँ आत्मा का निवास है ।[6] उव्वट ने इसका अर्थ "दश अड्.गुल के प्रमाण वाला

---

1. द्रष्टव्य - 10.90.1 पर सायण-भाष्य.
2. शुक्लयजुर्वेद - 31.1 पर उव्वट-भाष्य.
3. वही, महीधरभाष्य.
4. शर्मा मुंशीराम - वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 39.
5. ऋग्वेद - 10.90.1 पर सायणभाष्य.
6. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद और टिप्पणी.

हृदय प्रदेश" अथवा "नासिका का अग्रभाग" किया है ।[1] दश अङ्गुली मोड़ने पर मुट्ठी बँध जाती है और उसके अन्दर की सभी वस्तुएँ व्यक्ति के अधीन होती है । इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड तो उस पुरुष की मुट्ठी के अन्दर है ही, इसका अतिक्रमण करके भी अर्थात् इसके बाहर भी वही है, यह तात्पर्य भी हो सकता है । मन्त्रस्थ भूमि का अर्थ पृथ्वी ही नहीं, अपितु समस्त ब्रह्माण्डों की समष्टि से है ।

पुरुष के शिर, चक्षु और पाद को सहस्र के साथ जोड़ने में भी ऋषि का कोई अभिप्राय हो सकता है । उसका शिरोभाग सृष्टि से अस्पृष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उसका स्थान ऊपर है । पाद का तात्पर्य सीमित या सान्त सृष्टि से प्रतीत होता है तथा इन दोनों – सृष्टि से परे और सृष्टिगत रूपों के द्रष्टा के रूप में स्थित पुरुष इनमें पार्थक्य को सूचित करता है । उसका चक्षुष्मान् होना दिव्यता और भौतिक सृष्टि का भेदक तत्त्व प्रतीत होता है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि "दशाङ्गुल", "जीवात्म पुरुष" है, जो अपने पैर की दश अङ्गुलियों पर स्थित है तथा पुरुष से अवर है और पुरुष उसका अतिक्रमण करके स्थित है ।

(3) **इदं सर्वम्** :– आचार्य सायण, उव्वट और महीधर ने सूक्त के द्वितीय मन्त्र में आए "इदम्" का अर्थ "यह वर्तमान जगत्" किया है ।[2] वस्तुत "इदं सर्वम्" का तात्पर्य दृश्यमान सृष्टि या भौतिक जगत् से है । यहाँ पुरुष की भौतिक जगत् से अभिन्नता प्रतिपादित की गई है । यह पूरा ब्रह्माण्ड मृत्यु के अधीन है । एक अमृत तत्त्व है, जो इस पूरे ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करने वाला है । सभी भौतिक पदार्थ अन्न हैं तथा सभी प्राण इनके भोक्ता हैं ।अन्न तत्त्व मर्त्य है, किन्तु प्राणतत्त्व अमृत है ।

(4) **महिमा** :– सूक्त के तृतीय मन्त्र में आया "महिमा" पद पुरुष के अतिरिक्त इस जगत् के महत्त्व को भी द्योतित करता है । देश–काल की सीमा में आबद्ध यह ब्रह्माण्ड पुरुष की महिमा का प्रतिफल है । पुरुष की महिमा की कोई सीमा नहीं है । उसे न तो तारों वाले आकाश तक केन्द्रित किया जा सकता है और न भौतिक पदार्थों के सूक्ष्म रूप तक ही । वस्तुतः उसे मानव–

---

1. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.1 पर उव्वटभाष्य.
2. उक्त मन्त्र पर सायण, उव्वट एवं महीधर–भाष्य. द्रष्टव्य.

मस्तिष्क तथा विज्ञान के विभिन्न उपकरणों से भी नहीं नापा जा सकता है । इस दृश्यमान जगत् के अनन्त स्वरूप का वर्णन करने में वाणी कम पड़ जाती है ।

[5] त्रिपात् :– साधारणतः ब्रह्म या पुरुष को चार पैरों वाला माना जाता है । उसका एक भाग ये सारे प्राणी हैं तथा तीन भाग इस सांसारिक सृष्टि से परे हैं । यहीं इस ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष की जड़ें निहित हैं । यदि आदिपुरुष को अक्षय स्रोत के रूप में देखा जाए, तो उसे तीन भागों वाला तथा इस ब्रह्माण्ड को एक भाग मानना पड़ेगा । जितना मर्त्य भाग है, उसका तीन गुना अमर्त्य भाग है । यह विभाग जगत् और जीव की दृष्टि से है । जगत् बार–बार जन्म लेकर पुनः प्रलय में लीन हुआ करता है । जीव भी कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में आया–जाया करता है । इन दोनों की अपेक्षा से ही पुरुष को कर्त्ता तथा भोक्ता के रूप में एक पाद से सम्बद्ध कर के उपस्थित किया गया है । पुरुष का अपना वास्तविक रूप तो सर्वातिशायी और अगोचर है ।

यद्यपि पुरुष अखण्ड है, उसका भाग नहीं किया जा सकता, उसकी कोई इयत्ता नहीं है, तथापि यह संसार ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षा अल्प है इसीलिए पाद–विभाग किया गया है ।[1] वस्तुतः यह विश्व पुरुष के एक भाग में ही स्थित है ।अतः मन्त्र में आया "पाद" शब्द उसका परिमाण बताने के लिए नहीं आया है, बल्कि वह देश–विशेष को निर्दिष्ट करता है । स्वामी दयानन्द की भी ऐसी ही मान्यता है ।[2]

[6] पुरुष का विष्वङ्–क्रमण :– सूक्त के चौथे मन्त्र में पुरुष का चतुर्दिक् क्रमण विहित है । इसमें सर्वोपरि गतिशीलता का सङ्केत किया गया है, जो सृष्टि की मूल प्रवृत्ति है तथा जिसके द्वारा एक साथ ही देश और काल का परिच्छेद हुआ है । "साशन" तथा "अनशन" पदों से "चेतन" तथा "अचेतन" तत्त्व अभिप्रेत है । "अचेतन" पदार्थों को "चेतन" अपना आहार बना लेते हैं । मिट्टी "अचेतन" है, जल उसे खा जाता है, जल को अग्नि, अग्नि को वायु और वायु को आकाश खा जाता है । अतः सापेक्ष दृष्टि से एक "अनशन" तथा दूसरा "साशन" बनता जाता है । आदिपुरुष ने इन दोनों को चारों ओर से व्याप्त कर लिया । यह कार्य भी उसके मायाच्छन्न चतुर्थांश ने ही सम्पन्न किया, क्योंकि उसका मूल त्रिपात् तो ऊपर द्युलोक में अमृतरूप में अवस्थित हो गया था । आचार्य सायण और महीधर ने "ऊर्ध्व उदैत्" का अर्थ – इस अज्ञानकार्य संसार से बहिर्भूत तथा

---

1. द्रष्टव्य – ऋ. 10.90.3 पर सायणभाष्य.
2. द्रष्टव्य – स्वामी दयानन्द – ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, सृष्टिविद्या-विषय

इसके गुण–दोषों के संस्पर्श से रहित पुरुष उत्कर्षपूर्वक स्थित हुआ, किया है ।[1] उस पुरुष का पाद या लेश यहाँ माया में सृष्टि और संहार के रूप में बार–बार आता है । माया में आने के बाद वह पुनः देव, मनुष्य, तिर्यग् आदि रूपों में आने के बाद वह पुनः देव, मनुष्य, तिर्यग् आदि रूपों में विविध प्रकार से होता हुआ चेतन और अचेतन को लक्ष्य कर के व्याप्त हो जाता है ।[2] आचार्य सायणएवं महीधर के इस भाष्य के आलोक में वेदान्तदर्शन की वह प्रक्रिया स्पष्टतः परिलक्षित होती है, जिसके अनुसार अज्ञान अथवा माया की उपाधि से विशिष्ट चैतन्य को ही नामरूपात्मक जगत् कहा गया है । आचार्य शङ्कर के शब्दों में – "एक ही परमेश्वर जो माया को जानता है तथा कूटस्थनित्य और विज्ञान-धातु है, अविद्या या माया के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पित कर लिया जाता है ।[3] पुरुषसूक्त में वर्णित "त्रिपात्पुरुष" वेदान्त का मायोपाधिरहित कूटस्थ नित्य ब्रह्म प्रतीत होता है, जो सदा एकरस है । इसके अतिरिक्त मन्त्र में जिस एक पाद के इस लोक में पुनः होने की बात कही गईहै, वह वेदान्तप्रतिपादित मायोपाधिविशिष्ट ब्रह्म प्रतीत होता है, जो अनेक प्रकार से स्थावर–जङ्गम जगत् के रूप में व्यक्त है ।गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है – मैं एक अंश से इस पूरे जगत् को विशेष रूप से धारण करके स्थित हूँ ।[4]

(7) विराट् :– सूक्त के पाँचवे मन्त्र में आदिपुरुष से विराट् की उत्पत्ति बताई गई है । सायण एवं महीधर ने विराट् का अर्थ – "जिसमें विविध पदार्थ विराजमान हों वह विराट् है", किया है ।[5] इसकी व्याख्या – विशेषेण राजते इति विराट्, अर्थात् जो विशेष रूप से दीप्तिमान् हो वह विराट् है, भी की जा सकती है । स्वामी दयानन्द ने विराट् का अर्थ करते हुए लिखा है – "विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य–चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है – इत्यादि लक्षण वाला जो यह

---

1. द्रष्टव्य, ऋग्वेद 10.90.4 पर सायण एवं महीधरभाष्य.
2. वही.
3. एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविदनेकधा विभाव्यते । ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य – 1.3.19.
4. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । गीता – 10.42.
5. ऋग्वेद – 10.90.5 पर सायण एवं महीधरभाष्य.

आकाश है, वही विराट् कहलाता है ।[1] इस प्रकार उनके मतानुसार विराट् का अर्थ आकाश है । वस्तुतः विराट् का अर्थ स्पष्ट करने के लिए तीन श्रेणियाँ बनानी पड़ेंगी । प्रथम श्रेणी स्वयम्भू, दूसरी विराट् या विराज् तथा तीसरी वैराज पुरुष की श्रेणी होगी । प्रथम श्रेणी पिता की, द्वितीय माता की और तृतीय सन्तति की है । पहली दो श्रेणियाँ अप्रकट हैं और तीसरी सूर्य या वैश्वानर के रूप में प्रकट है । प्रत्येक उत्पत्ति में माता और पिता की आवश्यकता होती है । सृष्टि के प्रारम्भ में ऋत पिता और सत्य माता है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋत को पिता कहा गया है तथा सूर्य को उसका पुत्र होने का सङ्केत किया गया है ।[2] सूर्य का एक नाम इन्द्र भी है । एक अन्य मन्त्र में इन्द्र अर्थात् सूर्य को सत्य का सूनु कहा गया है ।[3] इसके द्वारा सत्य का माता होना प्रतिपादित होता है । सत्य का पुत्र ही सत्य का पालक है ।

पुरुष की उक्त त्रिविध स्थिति के अतिरिक्त पुराणों तथा भागवत–परम्परा में नारायण पुरुष की धारणा भी दृष्टिगत होती है । इस परम्परा के अनुसार पितृतत्त्व स्वयम्भू को नर तथा मातृतत्त्व विराज् को नार कहा जाता है । नार ही आपः अर्थात् जल है । इस सार्वभौम माता–पिता के युग्म से उत्पन्न सन्तति नारायण कहलाती है । यह नारायण ही सूर्य, हिरण्यगर्भ, मनु, अग्नि, इन्द्र, प्राण इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है । मनु ने अपनी स्मृति में इसे स्पष्टतः प्रस्तुत किया है ।[4] मन्त्रस्थ "विराजो अधि पूरुषः" द्वारा इसी वैराज नारायण पुरुष की ओर सङ्केत किया गया है । सायण एवं महीधर ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है – विराज् के शरीर को अधिकरण बनाकर उस शरीर का अभिमानी एक पुरुष उत्पन्न हुआ । सर्ववेदान्त-वेद्य वही परमात्मा अपनी माया से ब्रह्माण्ड रूप विराट् देह की सृष्टि कर उसमें जीव के रूप में प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती – ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्या-विषय.
2. अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि । ऋग्वेद – 8.6.10.
3. ऋग्वेद – 8.69.4.
4. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
   ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायणः स्मृतः ।
   एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
   इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।। मनुस्मृति 12.123.

हुआ ।[1] विराट् की प्रस्तुत व्याख्या में वेदान्त दर्शन का स्वरूप और भी स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष उपस्थित होता है । वेदान्त दर्शन में स्थूल शरीर की समष्टि के अभिमानी मायोपाधिविशिष्ट चैतन्य का नाम "विराट्" या वैश्वानर है । वहाँ स्थूल शरीर की व्यष्टि के अभिमानी जीव को विश्व कहा गया है ।[2]

विराज् से उत्पन्न वैराज पुरुष ने पीछे तथा आगे की भूमि का अतिक्रमण कर दिया । सायण और महीधर ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है – उत्पन्न होने वाला वह विराट् पुरुष अतिरिक्त हो गया – देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि रूपों वाला हो गया । देव इत्यादि की सृष्टि के पश्चात् भूमि एवं शरीरों की रचना की ।[3] इन विद्वानों ने 'पुरः' का अर्थ शरीर किया है । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने भूमि को द्यौः का भी द्योतक माना है । उनके अनुसार मन्त्रस्थ "पश्चात्" पद भूमि के लिए और पुरः अर्थात् पुरस्तात् का प्रयोग द्यौः के लिए किया गया है ।[4] इसका भाव यह निकाला जा सकता है कि वह वैराज पुरुष द्युलोक तथा पृथिवी का अतिक्रमण कर दिया अर्थात् इनकी सीमा से परे हो गया ।

(8) **आदिम यज्ञ** :– सूक्त के छठें मन्त्र में आदिम यज्ञ के उपादानों–सामग्रियों की चर्चा की गई है । सायण एवं महीधर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है – पूर्व कथित क्रम से शरीर रचना हो जाने के बाद देवों ने उत्तरसृष्टि की कामना की । उस समय तक कोई भी बाह्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ था । इस कारण यज्ञ सम्पन्न करने हेतु हविः का अभाव था । इसी समस्या के समाधान के लिए देवताओं ने पुरुष के स्वरूप की हवि के रूप में मानसिक आकल्पना की और उसी पुरुष-हवि से मानस–यज्ञ सुप्रतिष्ठित हुआ । इस यज्ञ में आज्य, समिधा एवं हवि के रूप में

---

1. ऋग्वेद 10.90.5 पर सायण और महीधर का भाष्य.
2. एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विरादित्युच्यते ।
   एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते । सदानन्द वेदान्तसार, खण्ड 31–32.
3. ऋग्वेद 10.90.5 पर सायण एवं महीधर भाष्य.
4. Bhūmi which also implies Dyauh........ Dyauh is Purastāt and Bhūmi is Paśchāt.
   अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 172.

क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुओं का उपयोग किया गया ।[1] तात्पर्य यह है कि देवताओं को हविष्य जुटाने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा, क्योंकि यज्ञ आरम्भ करने के पूर्व ही कालचक्र का प्रवर्तन हो चुका था । ऋतुऐँ क्रमशः अपनी-अपनी बारी से आने-जाने लगी थीं । उनमें से वसन्त को आज्य बनाया गया । आज्य तपाए गए घृत को कहते हैं । घृत चिक्वण होता है । वसन्त भी चिक्वणता - सरसता का प्रतीक है । इसके आगमन पर जड़-चेतन अखिल जगत् रसस्निग्ध हो उठता है । जिस प्रकार घृताहुति देने से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही वसन्त के आने से सबका अन्तःस्थल उत्फुल्ल हो जाता है । इसीलिए वसन्त को आज्य कहा गया है । सूखी समिधा ही शीघ्र आग पकड़ती है । ग्रीष्म में कोई भी वस्तु जल्दी सूख जाती है । सूर्य की किरणें वनस्पतियों के रस को खींच लेती है । इस प्रकार ग्रीष्म अग्नि के लिए शीघ्र जलने योग्य सामग्री को प्रस्तुत कर देता है। इसीलिए ग्रीष्म को इध्म या समिधा के रूप में प्रकल्पित किया गया है । शरद् ऋतु में हव्य अन्नों - चावल, उड़द, मूंग, तिल इत्यादि की फसलें तैयार हो जाती हैं । यही कारण है कि मन्त्र में हवि शरद् के साथ समीकृत है ।

आचार्य उव्वट ने उक्त मन्त्र में आत्मयज्ञ को निष्पादित किया है । उनके अनुसार जिस प्रकार इन्द्र आदि देवों ने पुरुष-हवि से यज्ञ किया और उसमें वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् को क्रमशः आज्य, इध्म तथा हवि के रूप में प्रयुक्त किया गया उसी प्रकार से योगिजन आत्मयज्ञ का सम्पादन करते हैं । आत्मयज्ञ से योगी लोग अमृतस्वरूप देदीप्यमान पुरुष-प्रतीक आत्मा के द्वारा सम्यक् अधिकार प्राप्त करते हैं । इस आत्मयज्ञ में सत्व, रजस्, तमस् गुणों का हवन किया जाता है । वसन्त सत्वगुण का, ग्रीष्म रजोगुण का तथा शरद् तमोगुण का प्रतीक है ।[2] डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने यज्ञ के आधार को त्रिमूर्त्तिपरक माना है, जो तीन ऋतुओं के प्रतीक के रूप में मन्त्र में निर्दिष्ट है । ये तीनों कालचक्र या संवत्सर की तीन तीलियाँ हैं तथा द्रव्य-यज्ञ के तीन तत्त्वों - आज्य, ईंधन और हविष्यान्न को द्योतित करती हैं ।[3] उन्होंने वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को भी कालचक्र की तीलियों

---

1. ऋग्वेद - 10.90.6 पर सायण तथा महीधर के भाष्य.
2. द्रष्टव्य - उक्त मन्त्र पर उव्वट-भाष्य.
3. The foundation or the basic pattern of the sacrifice is that of trinity, symbolised here as three seasons.
   अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण - वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 173.

के रूप में माना है । इसके अतिरिक्त उनके मत में तीन देव – अग्नि, वायु और आदित्य, तीन लोक – पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः, तीन द्वन्द – गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती, तीन पुरोहित तथा तीन प्राण भी ब्रह्माण्डीय सृष्टि के त्रिमूर्तिपरक तत्त्व हैं ।[1]

(9) **यज्ञ–पुरुष** :– सूक्त के सातवें मन्त्र में पुनश्च यज्ञ का सम्पादन प्रस्तुत किया गया है । वस्तुतः यह अग्रजात यज्ञपुरुष विराट् से उत्पन्न होने वाला वैराज पुरुष ही है । आदिम यज्ञ में आदिपुरुष ही हवि के रूप में आकल्पित था । यहाँ पहले उत्पन्न वैराज पुरुष का यज्ञ के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है । डॉ.अग्रवाल ने इसे द्वैतीयक यज्ञ माना है ।[2]

(10) **बर्हिषि प्रौक्षन्** :– आचार्य सायण एवं महीधर ने "बर्हिषि" का अर्थ – मानसिक यज्ञ और "प्रौक्षन्" का "प्रोक्षितवन्तः" किया है ।[3] ग्रिफिथ ने प्रथम पद को यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली पवित्र घास कहा है ।[4] वस्तुतः यह पवित्र घास कुशा है, जिसका प्रयोग यज्ञीय कर्मकाण्ड के समय किया जाता है । डॉ.अग्रवाल ने अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए इसे प्रजावाचक मानकर वैराज पुरुष या मनु से उत्पन्न प्रजाओं के रूप में स्वीकार किया है ।[5] सभी प्रजाएँ मनुष्य, पशु और वनस्पति इन तीन रूपों में सृष्ट है तथा इन तीनों श्रेणियों में एक तथ्य सर्वनिष्ठ है कि ये सभी अपने अस्तित्व के लिए अन्न या रस पर आश्रित हैं । गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है – मैं रसात्मक सोम होकर सभी ओषधियों को पुष्ट करता हूँ ।[6] मूर ने "प्रौक्षन्" का अर्थ "बलि" किया है । उनका

---

1. The foundation or the basic pattern of the sacrifice is that of trinity, symbolised here as three seasons. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 173.
2. वही, पृष्ठ 173.
3. ऋग्वेद – 10.90.7 पर सायण एवं महीधर के भाष्य.
4. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
5. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 174.
6. पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः । गीता – 15.13.

तात्पर्य है कि पवित्र घास अर्थात् कुशा पर पुरुष की बलि दी गई ।[1] पीटर्सन ने इसका अर्थ "छिटकना" किया है ।[3] वस्तुतः सृष्टि की पूर्वावस्था देवयुग की अवस्था है । इसमें प्राणतत्त्व की प्रबलता है । पुरुष यज्ञार्थ तप रहा है । इसी तप से, प्राण के श्रम से स्वतः स्वेद की बूँदे प्रकट हुईं । इसी से विराट् पुरुष का सेचन किया गया । यज्ञ-प्रक्रिया में वेदी पर कुशाएँ बिछाई जाती हैं। उन्हीं कुशाओं पर यजमान बैठता है । कुशाओं से ही उसके ऊपर जल छिड़का जाता है । कुशों को सर्वत्र पवित्राधायक माना गया है ।

उव्वट ने इस मन्त्र का अर्थभी आत्मयज्ञपरक किया है । जिस प्रकार अग्निष्टोम यज्ञ में कुशप्रोक्षित पुरुष उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार आत्मयज्ञ में प्राणायाम से प्रदीप्त पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणायाम की साधना से दिव्यज्ञान का उद्भव होता है । बर्हि प्राणायाम एवं पुरुष दिव्यज्ञान का प्रतीक है । इन्द्र, साध्य एवं ऋषियों ने उस पुरुष से यजन किया है । योगी कपिल इत्यादि एवं अन्य ऋषि इस आत्मयज्ञ में प्रणवपुरुष से यज्ञ करते हैं ।[3] उव्वट के विचार से विधिपरक यज्ञ एवं आत्मयज्ञ में कोई विभेदक रेखा नहीं है ।

(11) **साध्य, ऋषि और देव :-** आचार्य सायण एवं महीधर ने "साध्य" का अर्थ सृष्टिसाधन के योग्य प्रजापति आदि तथा "ऋषि" का अर्थ तदनुकूल मन्त्रद्रष्टा किया है ।[4] पीटर्सन ने इनका अर्थ क्रमशः पवित्र, ऋषि और देव किया है ।[5] मैकडानेल के अनुसार साध्य प्राचीन स्वर्लोकीय प्राणियों के समूह का बोधक है ।[6] ग्रिफिथ के अनुसार साध्य, याज्ञिकों का एक वर्ग है, जिसका सम्बन्ध प्राचीन देव याज्ञिकों से है ।[7] यह शब्द निघण्टु (1.5.14) में रश्मिवाचक नामों के साथ

---

1. मूर - ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 371.
2. पीटर्सन - हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृष्ठ 323.
3. द्रष्टव्य - शुक्लयजुर्वेद-संहिता - 31.9 पर उव्वट भाष्य.
4. ऋग्वेद 10.90.7 पर सायण एवं महीधर के भाष्य.
5. पीटर्सन - हिम्स फ्राम द ऋग्वेद.
6. मैकडानेल - वैदिक रीडर फार स्टूडेन्ट्स, पुरुषसूक्त मन्त्र 7 की टिप्पणी.
7. ऋग्वेद - 10.90.7 पर ग्रिफिथ का अनुवाद एवं टिप्पणी.

पठित है, अतः नैरुक्तों ने इसे रश्मिवाचक ही माना है । ऋषि शब्द की व्याख्या करते हुए शतपथ-ब्राह्मण में बताया गया है कि जिन्होंने श्रम तथा तपस्या की वे ऋषि कहलाए ।[1] ऋग्वेद में भी इसी आशय का एक मन्त्र आया है ।[2] निरुक्त में मन्त्रों – स्तोत्रों का दर्शन करने के कारण ऋषियों को ऋषि कहा गया है ।[3] डॉ.अग्रवाल ने साध्य को देवताओं का ही एक विशेष नाम माना है । देवों और ऋषियों में भेद प्रदर्शित करते हुए उन्होंने बताया है कि ऋषि मन के प्राचीनतम सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा साध्य देव प्राणतत्त्व का । एक असत् है तो दूसरा सत् है । पहला धारणाओं अथवा मस्तिष्क को द्योतित करता है, तो दूसरा प्राणों के द्वारा जीवन्तता को । पहला "असत्सृष्टि" है और इसका परिणाम दूसरा सत् सृष्टि है । पहले का सम्बन्ध पूर्वयुग से है और दूसरे का उत्तरयुग से । साध्यदेवों को पूर्वदेव माना गया है, जो ऐसी शक्तियाँ हैं कि अपने उद्गम में छिपी हुई है तथा देवों के देवदूतीय शक्तियों के बराबर है ।[4] पुरुष सूक्त के ही सोलहवें मन्त्र में साध्यों का निवास स्थान नाकलोक में बताया गया है ।

जयदेव वेदालङ्कार ने इस मन्त्र की दूसरी पङ्क्ति का अर्थ करते हुए लिखा है – उस विराट् के पूजन से देव, साध्य और ऋषि प्रादुर्भूत हुए ।[5] सम्भवतः उन्होंने "अजयन्त" का अर्थ "उत्पन्न हुए" किया है । यज् धातु का अर्थ कहीं भी उत्पन्न होना नहीं बताया गया है अपितु इसका अर्थ यजन-पूजन करना ही होता है ।[6] अतः वेदालङ्कार जी का अर्थ नितान्त भ्रामक एवं अशुद्ध तथा अपरम्परागत प्रतीत होता है ।

(12) सर्वहुत्-यज्ञ :- पुरुषसूक्त के आठवें मन्त्र में यज्ञ को सर्वहुत् कहा गया है। सायण ने इसका अर्थ – "सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्" अर्थात् जिसमें सर्वात्मक

---

1. ये यत्पुरास्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषन् तस्माद् ऋषयः । शतपथब्राह्मण – 6.1.1.1.
2. ऋग्वेद 10.109.4.
3. ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः । निरुक्त – 2.3.3.
4. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 176.
5. वेदालङ्कार, जयदेव – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 257.
6. यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु – धातुपाठ, 1027.

पुरुष का हवन किया गया है" किया है ।[1] महीधर ने "सर्वं हूयते यस्मिन् सःसर्वहुत्" अर्थात् जिसमें सब कुछ हवन किया जाता है, ऐसा अर्थ किया है ।[2] ग्रिफिथ ने महान् यज्ञ[3] और पीटर्सन ने पूर्णतः अनुष्ठित यज्ञ[4] इस प्रकार अनुवाद किया है । वस्तुतः इसका अर्थ – जिसमें सबका हवन किया जाता है, करना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है । सायण ने यज्ञ का अर्थ मानस यज्ञ तथा महीधर ने "पुरुषमेध यज्ञ" किया है ।[5] उव्वट ने इसे "अग्निष्टोम यज्ञ" माना है । मूलतः वे इसे आत्मयज्ञ ही मानते हुए कहते हैं – इस प्रकार के सर्वहुत् आत्म-यज्ञ के द्वारा उत्पन्न ज्ञानरूपी तेज से योगिजन सारे पशुओं तथा सारे भूतों को करतलगत देखते हैं ।[6]

(13) पृषदाज्यम्ः– पृषत् च तद् आज्यमिति । आज्य का अर्थ – तपाया गया घृत होता है । सायण महीधर ने "पृषदाज्यम्" का अर्थ "दधिमिश्रित घृत" किया है ।[7] ग्रिफिथ इसे बूँद के आकार का घी मानते हैं ।[8] पीटर्सन "बटर" अर्थात् घी अर्थ करते हैं ।[9] मैकडानेल इसे घनीभूत – जमा हुआ घृत मानते हैं ।[10] यज्ञ–प्रक्रिया में घी का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रायः प्रत्येक यज्ञ में हविष्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से घृत का हवन किया जाता है । ऐसी स्थिति में हवन करते समय घी की बूँदें यत्र–तत्र टपकती रहती हैं । अतः यहाँ "पृषदाज्यम्" का अर्थ "घी की बूँदें" करना सुसङ्गत है । ऐसा करने से ही "सम्भृतम्" (एकत्र किया गया) पद का अर्थ इसके साथ पूर्णतः बैठ पाएगा । घृत उर्वरता का प्रतीक है । इसीलिए मन्त्र में उससे पशुओं की उत्पत्ति बताई गई है ।

---

1. ऋग्वेद 10.90.8 पर सायणभाष्य.
2. वही, महीधर भाष्य.
3. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
4. वही, पीटर्सन का अनुवाद.
5. वही, सायण और महीधर–भाष्य.
6. शुक्लयजुर्वेद संहिता – 31.6 पर उव्वटभाष्य.
7. ऋग्वेद 10.90.8 पर सायण–महीधर भाष्य.
8. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
9. वही, पीटर्सन का अनुवाद.
10. वही, मैकडानेल का अनुवाद.

इस घृत को हवन के पश्चात् अग्नि से एकत्र किया गया है, अतः इसका अग्नि के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है । वस्तुतः यह सृष्टि यज्ञ का ही परिणाम है और यज्ञ अग्नि पर आधारित है । अतः अग्नि इस ब्रह्माण्डीय सृष्टि का ऐसा देवता है, जिसके द्वारा सारी दैवी शक्तियाँ सृष्टि से प्रवृत्त होती है । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सृष्टि के लिए अग्नि को बीज और सोम को माता माना है । उन्होंने सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान जलराशि को मातृतत्त्व के रूप में माना है । ऐसा प्रतीत होता है कि जलराशि ही यज्ञ के समय सोमरस के रूप में उपस्थित है ।[1]

(14) वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशु :– आचार्य सायण एवं महीधर ने वायु देवता से सम्बद्ध पशुओं को वायव्य, लोकप्रसिद्ध वन्य पशुओं को आरण्य तथा गाँव में होने वाले गो, अश्व इत्यादि को ग्राम्य पशु माना है ।[2] पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रायः इन शब्दों के यही अर्थ स्वीकार किये हैं ।[3] यहाँ वायु, वन और ग्राम इन तीनों से सम्बद्ध पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । ध्यातव्य यह है कि मन्त्र में जलीय पशुओं की चर्चा नहीं की गई है । डॉ. अग्रवाल ने तीनों प्रकार के पशुओं को तीन प्रकार के प्राणीय ऊर्जा (Prānic Energy) का प्रतीक माना है, जो किसी भी पशु–स्वरूप के निर्माण में अपनी भूमिका का निर्वाह करती है ।[4] यहाँ ग्राम्य पशुओं से पञ्च भौतिक तत्त्वों का सङ्केत प्राप्त होता है, जो एक साथ ही रहते हैं । वायव्य पशु प्राणतत्त्व का सङ्केत देते हैं तथा आरण्य पशु, जो अपनी इच्छा से इधर–उधर विचरण करते हैं, मनस्तत्त्व को द्योतित करते हैं । मन भी स्वेच्छया इतस्ततः भ्रमणशील है । यह स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी, मन, जीवन तत्त्व (प्राण) और भौतिक तत्त्व के सम्मिश्रण से ही बना है ।

डॉ. मुंशीराम शर्मा ने आज्य और त्रिविध पशुओं के साथ ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों को युक्त किया है । उन्होंने पृषदाज्य को ब्रह्मचर्याश्रम, ग्राम्य पशु को गार्हस्थ्य, आरण्य को वानप्रस्थ तथा

---

1. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 177.
2. ऋग्वेद 10.90.8 पर सायण एवं महीधर के भाष्य.
3. द्रष्टव्य, उक्त मन्त्र पर ग्रिफिथ, पीटर्सन और मैकडानेल के अनुवाद.
4. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 178.

वायव्य को संन्यास आश्रम का प्रतीक माना है ।[1] आरण्य तथा वायव्य पशुओं को बाँधा नहीं जा सकता । वे अरण्य एवं आकाश (वायु) में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते हैं ।

(15) **वेद का आविर्भाव** :- सूक्त के आठवें मन्त्र में पशु-सृष्टि का उल्लेख करने के पश्चात् ऋषि ने नवें मन्त्र में वेद के आविर्भाव को बताया है । डॉ.अग्रवाल ने आधुनिक शब्दों में पशुसृष्टि को स्वरूप (Form) तथा वेद के आविर्भाव को विचार (Idea) माना है ।[2] ये दोनों ऐसे यज्ञ हैं, जो एक-दूसरे का निष्पादन करते हैं । स्वरूप बिना विचार के नहीं बन सकता और न स्वरूप के बिना विचारों का ही कोई अर्थ हो सकता है । नवें मन्त्र के अनुसार उसी सर्वहुत् यज्ञ से ऋचाएँ अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, छन्द तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए । ऋग्वेद में स्थित मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं । जिन मन्त्रों में अर्थ के कारण पाद व्यवस्थित रहते हैं, उन्हें ऋक् कहते हैं ।[3] उव्वट के शब्दों में ऋक् नियत अक्षर और पादों वाली होती है ।[4] गेय ऋचाओं को साम कहते हैं ।[5] ऋक् और साम से पृथक् मन्त्रों को यजुष् कहते हैं ।[6] उव्वट के शब्दों में अनियत अक्षर और पादों वाले मन्त्रों को यजुष् कहते हैं ।[7] मन्त्रस्थ "छन्दांसि" पद का अर्थ सायण और महीधर ने गायत्री आदि छन्द किया है ।[8] मूर ने इसे अथर्ववेद का वाचक माना है ।[9] पीटर्सन भी इन्हीं का अनुगमन करते हैं ।[10] वस्तुतः अथर्ववेद के छन्दोबद्ध होने के कारण "छन्दांसि" को उसका वाचक माना जा सकता है । डॉ.अग्रवाल ने प्रथम तीन वेदों को तीन अग्नियों तथा चतुर्थ अर्थात्

---

1. शर्मा, डॉ.मुंशीराम - वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 49.
2. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण - वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 176.
3. तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । जैमिनिसूत्र - 2.1.35.
4. नियताक्षरपादावसाना ऋक् । उव्वट - शुक्लयजुर्वेदसंहिता - 1.1. पर भाष्य.
5. गीतिषु सामाख्या । जैमिनिसूत्र - 2.1.36.
6. शेषे यजुः । वही - 2.1.37.
7. अनियताक्षरपादावसानं यजुः । उव्वट - शुक्लयजुर्वेदसंहिता - 1.1.
8. ऋग्वेद 10.90.9 पर सायण एवं महीधर के भाष्य.
9. मूर - ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 5, पृष्ठ 373.
10. ऋग्वेद 10.90.9 पर पीटर्सन का अनुवाद.

अथर्ववेद को सोम का प्रतीक माना है ।[1] डॉ.शर्मा ने वाणी के इन चार प्रकारों को ऋत और सत्य में अन्तर्भावित किया है । उन्होंने सम्पूर्ण गद्यात्मकता को सत्य तथा पद्यात्मकता को ऋत माना है ।[2] उव्वट ने इस मन्त्र का भी अध्यात्मयज्ञपरक अर्थ करते हुए लिखा है – पहले बताए गए प्रणवपुरुष से आत्मयज्ञ के प्रदीप्त हो जाने पर मनुष्य स्वतः ज्ञान का अधिष्ठान बन जाता है ।[3]

{16} **पञ्चपशुओं की उत्पत्ति** :– सूक्त के दशम मन्त्र में पाँच पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । वे पशु हैं – अश्व, ऊपर तथा नीचे दोनों ओर दाँत वाले पशु, गाय, भेड़ और बकरियाँ । उक्त सभी पशु मनुष्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं । इसके साथ ही यज्ञ की सफलता में पशुओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । अतः मानवसृष्टि के पूर्व मानवोपयोगी पशुओं की सृष्टि आवश्यक थी । सायण, उव्वट, महीधर इत्यादि विद्वानों ने "उभयादतः" का अर्थ गधे, खच्चर इत्यादि किया है ।[4] डॉ.अग्रवाल ने इसे "पुरुष पशु" के लिए प्रयुक्त माना है ।[5] उन्होंने पाँच पशुओं को पाँच प्रकार के प्राण सम्बन्धी स्पन्दों के रूप में स्वीकार किया है । अश्व गति का एक प्रभावशाली प्रतीक है, जो मूल बिन्दु से आगे की तरफ जाता है । पुरुष में गति के सारे रूप विद्यमान हैं । गाय एक ऐसी शक्ति का प्रतीक है, जो बाहर से मूलबिन्दु की ओर आती है । वस्तुतः यह आन्तरिक गतिशीलता का प्रतीक है । उक्त पशुओं में हर प्रकार की गतिशीलता दृष्टिगत होती है । अश्व अपकेन्द्रीय गति तथा गाय अभिकेन्द्रीय गति का प्रतिनिधित्व करते हैं । भेड़ मन्दगति तथा बकरियाँ त्वरित गति को सूचित करती हैं । पुरुष में ये सभी प्रकार की गतियाँ विद्यमान हैं ।[6]

{17} **चार वर्णों की उत्पत्ति** :– सूक्त के ग्यारहवें मन्त्र में पुरुष के विभिन्न अङ्गों की सञ्ज्ञाओं के बारे में जिज्ञासा की गई है । वस्तुतः पुरुष को समस्त चराचर जगत् का

---

1. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 179.
2. शर्मा, डॉ.मुंशीराम – वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 50.
3. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.7 पर उव्वट भाष्य.
4. ऋग्वेद 10.90.10 पर सायण, महीधर एवं उव्वट भाष्य.
5. The animal with teeth on both sides is Purush.
   अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 179.
6. वही, पृष्ठ 179.

कारण माना गया है । पशुओं की सृष्टि के पश्चात् मानवीय सृष्टि अपेक्षित है । यह मानवीय सृष्टि पुरुष के ही विभिन्न अड्.गों से हुई है । बारहवें मन्त्र में यह बताया गया है कि उस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ, दोनों भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, जाँघों को वैश्य बनाया गया तथा उसके पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार यहाँ चारों वर्णों की उत्पत्ति उस पुरुष के ही विभिन्न अड्.गों से बताई गई है । ऋग्वेद में सर्वप्रथम हमें यहीं चार वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है । समाज की सुदृढ़ व्यवस्था के लिए चारों वर्णों का होना आवश्यक है । ब्राह्मण आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है । आधुनिक शब्दों में इसे विधायिका कहा जा सकता है । राजन्य या क्षत्रिय शारीरिक शक्ति का प्रतीक है । इसे कार्यपालिका कहा जा सकता है । ब्राह्मण का सम्बन्ध मुख से होने से उसमें समस्त ज्ञानराशि तथा विचारणाशक्ति निहित है । अतः कोई भी निर्णय वह भलीभाँति विचार करके ही देगा । क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना है । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण या मस्तिष्क द्वारा सुझाए गए कार्यों में वह प्रवृत्त होता है । सामान्य रूप से भी कोई समस्या या सड्.कट आने पर व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी रक्षा हाथों से ही करता है । वैश्य का कार्य अन्य तीनों वर्णों का भरण–पोषण करना तथा शूद्र का कार्य सबकी सेवा करना है । इस प्रकार चारों वर्णों के परस्पर प्रेम एवं सौहार्द्र से ही यह समाज भलीभाँति चल सकता है । वैदिक ऋषियों की यह चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था, विच्छेद और भेद–भाव के लिए नहीं है, अपितु परस्पर प्रेम एवं सहयोग की भावना बढ़ाने के लिए है ।

डॉ. मुंशीराम शर्मा ने इस विभाजन को पशुओं तक भी व्याप्त माना है । उनके अनुसार गो ब्राह्मण है, अश्व क्षत्रिय है, अजा वैश्य है तथा अवि शूद्र है । पक्षियों में हंस ब्राह्मण है, श्येन क्षत्रिय है, वया वैश्य है और काक शूद्र है ।[1] मन्त्र में ब्राह्मणादि को पुरुष के विभिन्न अवयवों के रूप में उपस्थित किया गया है । ये समस्त अवयव यज्ञकर्त्ता देवों के रूप में ही हैं । इनका उद्देश्य यज्ञ को निरन्तर आगे बढ़ाते रहना है । वेद आध्यात्मिक ज्ञानयज्ञ करते हैं, तो ब्राह्मणादि वर्ण सामाजिक यज्ञ की साधना करते हैं । पशु–पक्षी भी इस यज्ञ में सहायक हैं । एक मानव–शरीर ही यज्ञ का सुन्दर क्षेत्र है, जिसके सब अड्.ग परस्पर एकता के सूत्र में बँधे हुए यज्ञ का पुनीत सम्पादन करते हैं । एकत्व में यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता । इसके लिए बहुत्व या विभाग आवश्यक है । यज्ञ में भी ऋत्विक्, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि का देव–विभाग तथा समिधा, आज्य,

---

1. शर्मा, डॉ. मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 55.

हव्य आदि का सामग्री–विभाग है । यह सृष्टि यज्ञ है । इसमें पुरुष की ही आहुति दी गई है । देव यज्ञकर्त्ता हैं, जो उस पुरुष के ही अड्.ग हैं । विभाजन के सभी अड्.ग एक–दूसरे के पूरक हैं। उनके सम्मिलित कार्य की परिणति ही यज्ञ है । डॉ.शर्मा ने ब्राह्मणादि में प्रत्येक के विभक्त कार्य से चेतना का विकास होना भी स्वीकार किया है । उनके अनुसार इस सामाजिक यज्ञ से शूद्रत्व वैश्यत्व में, वैश्यत्व क्षत्रियत्व में, क्षत्रियत्व ब्राह्मणत्व में और ब्राह्मणत्व सर्वहुत यज्ञ पुरुष में विकसित हो रहा है ।[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वेदों को ब्राह्मणादि वर्णों से सम्बद्ध किया गया है । उसके अनुसार वैश्य की उत्पत्ति ऋग्वेद से हुई है, यजुर्वेद क्षत्रिय का उत्पत्तिस्थान है, ब्राह्मणों की प्रसूति सामवेद है तथा शूद्रों की उत्पत्ति अथर्ववेद से है ।[2]

(18) **ब्रह्माण्डीय अवयवों की उत्पत्ति** :– पुरुषसूक्त के तेरहवें तथा चौदहवें मन्त्रों में विभिन्न ब्रह्माण्डीय अवयवों की उत्पत्ति बताई गई है । पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्रों से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुआ । उसकी नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, सिर से द्युलोक हुआ । उसके पैरों से भूमि और कानों से दिशाएँ बनी । मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति बताने का तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा ओषधियों का स्वामी है और मन का भी ओषधियों से प्रगाढ़ सम्बन्ध है । सूर्य ज्योतिः-स्वरूप है अतः ज्योतिः-प्रदायिनी आँखों से उसकी उत्पत्ति सड्.गत है । मुख में ही वाणी प्रतिष्ठित है तथा वाणी अग्नि के तैजस अंशों से निर्मित होती है । इसी प्रकार इन्द्र तथा अग्नि परस्पर सम्बद्ध हैं । इसीलिए मुख से इन्द्र तथा अग्नि दोनों की ही उत्पत्ति बताई गई है । प्राण भी एक प्रकार का वायु है । इस पर पूरा जीवन आश्रित है । अतः प्राणतत्त्व से वायु की उत्पत्ति बताई गई है । नाभि जिस प्रकार शरीर का केन्द्र या मध्यभाग है, उसी प्रकार

---

1. शर्मा, डॉ.मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 57.
2. "ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः यजुर्वेदः क्षत्रियस्याहुर्योनिम्
   सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः ।
   तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.12.9.

अन्तरिक्ष भी ब्रह्माण्ड का मध्यभाग है । इसीलिए पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति बताई गई है । शिर शरीर में सबसे ऊपर स्थित है । वह प्रकाश स्वरूप भी है । इसी प्रकार द्यौः भी ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वस्थ प्रकाशमय स्थान है । इसीलिए इसकी उत्पत्ति शिर से हुई है । भूमि ब्रह्माण्ड से नीचे की ओर स्थित है, इसीलिए उसकी उत्पत्ति पैरों से बताई गई है । शब्द दिशाओं में व्याप्त रहते हैं। वे कानों के विष हैं । अतः दिशाओं की उत्पत्ति कानों से निरूपित की गई है ।

मन्त्र में आए हुए "तथा लोकानकल्पयन्" के द्वारा लोकों की सृष्टि का निर्देश किया गया है । उसी मन्त्र में क्रमशः अन्तरिक्ष, द्युलोक और पृथिवी – इन तीन लोकों की सृष्टि बताई गई है । इस प्रकार पूरी ब्रह्माण्डीय सृष्टि को उपपन्न किया गया है । सारे ब्रह्माण्डीय अवयव भी यज्ञ करने में सन्नद्ध हैं । इनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है, ये सभी समष्टिगत ब्रह्माण्ड के लिए कर्मरत हैं। इनमें से अपने लिए कोई कुछ नहीं चाहता, पुनरपि सबका अस्तित्व यज्ञ द्वारा ही सुरक्षित है । आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों यज्ञ निर्बाध गति से चल रहे हैं ।

(19) **सप्त परिधियाँ** :– यज्ञ के सम्पादन में परिधियों की आवश्यकता होती है ।इनकी सङ्ख्या पन्द्रहवें मन्त्र में सात बताई गई है । ये सात परिधियाँ कौन सी हैं ? इस विषय में आचार्यों ने अपने–अपने मत प्रस्तुत किये हैं । यज्ञ–मण्डप में आहवनीय अग्नि के तीन ओर रखी जाने वाली हरी लकड़ी को परिधि कहते हैं । इनकी लम्बाई बाहु के बराबर होती है । इनका निर्माण पलाश, विकंकत या कर्ष्मरि वृक्ष के काष्ठ से होता है । आहवनीय अग्नि ऐष्टिक एवं याज्ञिक भेद से दो प्रकार का होता है । दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की ओर परिधि लगा दी जाती है, किन्तु पूर्व की ओर परिधि के रूप में आदित्य की ही भावना की जाती है । तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि पूर्व की ओर लकड़ियाँ नहीं रखनीं चाहिए, वहाँ आदित्य स्थित होकर विघ्नकारक राक्षसों को नष्ट करता है ।[1] शतपथब्राह्मण में भी ऐसा ही विधान किया गया है ।[4] इस प्रकार ऐष्टिक और

---

1. न पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति ।
   तैत्तिरीयसंहिता – 2.6.6.3.
2. गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति ।
   शतपथब्राह्मण – 1.3.4.8.

औत्तरवेदिक परधियों का योग करने पर इनकी संख्या छः तथा एक आदित्य को जोड़कर सात हो जाती है । आचार्य सायण एवं महीधर ने गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन सात छन्दों को ही सात परिधियों के रूप में स्वीकार किया है ।[1] उव्वट ने सात परिधियों के रूप में सात समुद्रों – क्षीरोद, लवणोद, इक्षुरसोद, सुरोद, दधिमण्डोद, स्वादूक तथा घृतोद को माना है । उन्होंने गायत्री आदि सात छन्दों का भी उल्लेख करते हुए आत्मयज्ञपरक अर्थ में पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन पञ्चमहाभूतों तथा मनस् और बुद्धि को मिलाकर सात परिधियों की कल्पना की है।[2] डॉ.अग्रवाल ने मन, प्राण (लाइफ) तथा पाँच महाभूतों को सप्त परिधियों के रूप में माना है ।[3] डॉ.शर्मा के अनुसार भू से लेकर सत्य तक (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्) जो सात लोक या धाम हैं, वे ही यज्ञ की सात परिधियाँ हैं ।[4] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सात परिधियों को सात आवरण कहा है, जिनमें समुद्र, त्रसरेणु, मेघमण्डल, वृष्टिजल, उसके ऊपर का वायु, धनञ्जय नामक सूक्ष्म वायु तथा सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा की गणना की गई है ।[5]

बृहदारण्यकोपनिषद् में सात अन्नों का उल्लेख किया गया है । एक अन्न साधारण है, दो अन्न देवों के, तीन आत्मा के और एक पशुओं के लिए है ।[6] साधारण अन्न वह है जो खाया जाता है । हुत और प्रहुत देवों के अन्न हैं । ये दोनों दर्श एवं पूर्णमास यज्ञ की विशिष्ट आहुतियाँ हैं । मन, वाणी और प्राण आत्मा के अन्न हैं । दूध पशुओं का अन्न है । मनुष्य तथा पशु दोनों ही प्रारम्भ में दूध पर ही आश्रित रहते हैं । यज्ञ में अन्नों का विशेष महत्त्व होता है । सात परिधियों को इन सात प्रकार के अन्नों के रूप में भी समझा जा सकता है । स्वर मूलतः तीन हैं – उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित । ये तीन स्वर ही मिश्रण से षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और

---

1. ऋग्वेद 10.90.15 पर सायण एवं महीधर के भाष्य.
2. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 31.15 पर उव्वट भाष्य.
3. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 183.
4. शर्मा, डॉ.मुंशीराम – वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 67.
5. सरस्वती, स्वामी दयानन्द – ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय .
6. बृहदारण्यकोपनिषद् – 1.5.

निषाद के रूप में सात बन जाते हैं । यज्ञ में देवों के आह्वान तथा आहुति इत्यादि प्रदान करने हेतु मन्त्रों, स्तुतियों को गाया जाता है । अतः सात परिधियों के रूप में इन सात स्वरों को भी माना जा सकता है ।

ऐतरेय ब्राह्मण में दिशाओं को परिधि माना गया है ।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण में लोकों को भी परिधि माना गया है ।[2] वैदिक साहित्य में सात संख्या का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया गया है। सप्तधाम[3], सप्तमर्यादाएँ[4], अग्नि की सात रश्मियाँ[5], सात नदियाँ[6], सात विप्र[7], अग्नि के सात धाम[8], सूर्य की सात रश्मियाँ[9] इत्यादि वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं ।

(20) **इक्कीस समिधाएँ** :- यज्ञ में समिधाओं का होना परमावश्यक है । इन्हें सामिधेनी ऋचाओं के द्वारा अग्नि में छोड़कर उसे प्रज्वलित किया जाता है । सूक्त के पन्द्रहवें मन्त्र में इनकी संख्या इक्कीस बताई गई है । सायण और महीधर क्रमशः तैत्तिरीयसंहिता[10] तथा शतपथ-ब्राह्मण[11] के आधार पर बारह मास, पाँच ऋतु (हेमन्त तथा शिशिर को एक मानते हुए) तीन लोक एवं एक आदित्य को मिलाकर इक्कीस समिधाओं के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं ।[12] इस यज्ञ

---

1. 'दिशाः परिधयः ।" ऐतरेय ब्राह्मण, 5.28.
2. इमे वै लोकाः परिधयः । तैत्तिरीय ब्राह्मण - 3.8.814.
3. ऋग्वेद 1.22.16.
4. ऋग्वेद 10.5.6.
5. ऋग्वेद 2.5.2.
6. ऋग्वेद 2.12.3, 12, 3.1.4.
7. ऋग्वेद 3.7.7., 8.31.5., 4.2.15.
8. ऋग्वेद 4.7.5.
9. ऋग्वेद 4.13.3, 16.3.
10. द्वादशमासाः पञ्चर्तव इमे लोका असावादित्य एकविंशः । तैत्तिरीय संहिता 5.1.10.3.
11. द्वादशमासाः पञ्चर्तव इमे लोका असावादित्यः । शतपथब्राह्मण - 7.1.1.34.
12. ऋग्वेद 10.90.15 पर सायण तथा महीधर के भाष्य.

में इक्कीस समिधाओं के स्थान पर उक्त इक्कीस तत्त्वों की भावना की गई ।महीधर के विचार से एक अन्य प्रकार से भी इन समिधाओं की गणना की जा सकती है । इन इक्कीस समिधाओं के प्रतीक के रूप में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति एवं अतिधृति – ये सात छन्द तथा कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अतिकृति और उत्कृति ये सात छन्द, इस प्रकार इन इक्कीस छन्दों को माना जा सकता है।[1] उव्वट के मतानुसार पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश – ये पञ्चमहाभूत, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द – ये पञ्चतन्मात्राएँ, नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र – ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पायु, उपस्थ, पाणि, पाद और वाक् – ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन कुल मिलाकर ये इक्कीस तत्त्व ही आत्मयज्ञ में समिधा के रूप में प्रयुक्त होते हैं ।[2] डॉ. शर्मा ने महत्तत्त्व से लेकर पञ्चतन्मात्राओं तक की सात प्रकृति–विकृतियों के सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन–तीन भेदों से इक्कीस भेद करके उन्हें समिधाओं के रूप में आकल्पित किया है ।[3] डॉ. अग्रवाल ने "त्रिःसप्त" में आए "त्रिः" एवं "सप्त" को क्रमशः त्रिविध पुरुष तथा सप्तविध सुपर्णचिति का प्रतीक माना है ।[4] वैदिक ऋषियों ने अनेक स्थलों पर "त्रिःसप्त" का प्रयोग किया है । उन्होंने आदित्य के त्रिःसप्त पद माने हैं ।[5] गिरि के भी त्रिःसप्त सानुओं को स्वीकार किया है ।[6] नदियों की संख्या भी त्रिःसप्त मानी गई है ।[7]

[21] **पुरुष–पशु :–** आदिपुरुष और यज्ञ दोनों एक ही हैं । सभी देवताओं ने मिलकर ब्रह्माण्डीय यज्ञ सम्पन्न किया । इस यज्ञ में उन्होंने दिव्य पुरुष को ही हविष्य बनाया । पुरुष को ही पशु के रूप में कल्पित किया । जो पुरुष दिव्य और अलौकिक था, वही भूत के रूप

---

1. ऋग्वेद 10.90.15 पर महीधर भाष्य.
2. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.15 पर उव्वटभाष्य.
3. शर्मा, डॉ. मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 67.
4. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 182.
5. ऋग्वेद 8.69.7.
6. ऋग्वेद 8.96.2.
7. ऋग्वेद 10.64.8.

में सामने उपस्थित हो गया । अमर्त्य, मर्त्य के रूप में प्रकट हुआ । यही पुरुष–पशु है, जिसे देवताओं ने यज्ञ सम्पन्न करते समय यूप में बाँधा । डॉ. शर्मा ने देवत्व की सुरक्षा के लिए पशुत्व को बाँधना आवश्यक बताया है ।[1] उन्होंने पशु को बाँधने का एक अन्य तात्पर्य भी स्पष्ट किया है । पशु दर्शन है, ज्ञान है । यज्ञ में ज्ञान आबद्ध किया जाता है, उसका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यज्ञ में कर्मकाण्ड की प्रमुखता है । यज्ञ प्रयोगात्मक ज्ञान है । ज्ञान को आहुत करने का अर्थ है – उसे यज्ञ–कर्म में परिणत करना, आचार के साँचे में ढालना, समाजोपयोगी रूप देना । जब तक ज्ञान बाँधा नही जाएगा और आचरण का रूप नहीं धारण करेगा, तब तक उसका प्रयोजन व्यक्ति एवं समाज के लिए कुछ नहीं है । यज्ञकर्म–रहित ज्ञान कोरी जल्प है । ज्ञान की शोभा तदनुकूल आचरण करने में ही निहित है ।[2] आचार्य उव्वट ने "अबध्नन्" का अर्थ "अगृह्णन्" करते हुए यह बताया है कि योगियों ने समाधि नामक यज्ञ का विस्तार करते हुए पुरुषमेघ के पशु के रूप में ज्ञान को ग्रहण किया ।[3] इस प्रकार उन्होंने पुरुष को ज्ञानस्वरूप माना है ।

{22} **प्रथम धर्म** :– सूक्त की अन्तिम ऋचा में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को सम्पन्न करने की क्रिया को प्राथमिक धर्म कहा गया है । यह यज्ञ उन्नत स्थिति है । इसका सम्बन्धदेवयुग के साथ है । धन रखने वाले धन से, ज्ञानी ज्ञान से यज्ञ कर सकते हैं । जिस व्यक्ति के पास कुछ भी न हो, वह कैसे यज्ञ कर सकता है, उसे अपने से स्वयं से ही स्वयं का यज्ञ करना होगा । आत्मा तो यज्ञरूप है ही । उसे आत्मा के द्वारा ही आत्मयज्ञ सम्पन्न करना होगा । ऐसा यज्ञ करना दुष्कर है । यह देवों द्वारा ही शक्य है । ऋषि इस यज्ञ को प्रथम धर्म इसीलिए कहता है कि यज्ञ अभी देवों तक ही सीमित था । ऋषियों का क्रम देवों के बाद आता है ।

{23} **नाकलोक** :– नाक का शाब्दिक अर्थ – "दुःखरहित" होता है । वेदों में नाकलोक की अवधारणा प्राप्त होती है । यह लोक सूर्य के नीचे है, किन्तु स्वः से ऊपर है । देव सर्वप्रथम इसी लोक में अधिरोहण करते हैं, जहाँ पहले से ही मुक्तात्मा विद्यमान हैं । नाकलोक से

---

1. शर्मा, डॉ. मुंशीराम – वेदार्थ–चन्द्रिका, पृष्ठ 67.
2. वही, पृष्ठ 68.
3. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.15 पर उव्वट भाष्य.

धीरे–धीरे वे द्युलोक तक पहुँच जाते हैं । सूक्त के अन्तिम मन्त्र से एक ध्वनि यह भी निकल रही है कि पूर्वकल्प में जिन जीवों ने साधना द्वारा देवत्व प्राप्त किया था, वे नवीन कल्प में दिव्य सृष्टि में उत्पन्न होकर यज्ञ करते रहे और उसके पश्चात् नाक लोक के अधिकारी बने । साध्य देव वहाँ पहले से ही विद्यमान थे और मोक्ष के आनन्द का उपभोग कर रहे थे । इस प्रकार अन्तिम मन्त्र में यज्ञ का फल बताया गया है ।

डॉ.अग्रवाल ने "नाक" की तात्त्विक व्याख्या की है । उनके अनुसार नाक, एक को दूसरे से पृथक् करने वाले चैतन्य का मध्यबिन्दु है ।[1] पृथिवी से लेकर द्यौः तक तीन लोक हैं – पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्यौः । ये तीनों लोक क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य, इन तीन देवताओं की महिमा के रूप में हैं । "नाक" ऊपर तथा नीचे की विभाजक रेखा के मध्य में स्थित है । ऊपर उसका सम्बन्ध दिव्य शक्तियों से है, साथ ही वह भौतिक सृष्टि से भी सम्बद्ध रहता है । उसका स्थान सूर्य के नीचे है । साध्यदेव उस बिन्दु पर निवास करते हैं, जो अलौकिक को लौकिक या भौतिक सृष्टि से पृथक् करता है । उव्वट ने नाक को सनकादि का स्थान माना है ।[2]

इस प्रकार पुरुषसूक्त में एक पुरुष का अस्तित्व प्रतिपादित करके उसी से सम्पूर्ण सृष्टि का उद्भव बताया गया है । पुरुष को इस सृष्टि का सर्वेसर्वा माना गया है ।अकेला पुरुष ही यह सम्पूर्ण विश्व है, जो प्राचीनकाल से उत्पन्न हुआ तथा जो आगे भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में आर्यों के प्रौढ़ धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है । सृष्टिके उत्पादन में यज्ञ की कल्पना कितनी जागरूक तथा क्रियाशील होती है, इसका परिचय हमें इसी सूक्त में प्राप्त होता है । देवताओं ने इस पुरुष की बलि यज्ञ में की और उससे जगत् के नाना प्राणियों की उत्पत्ति हुई । इसी सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति पुरुष के विभिन्न अङ्गों से बताई गई है । ऋग्वेद के अन्य किसी भी मन्त्र में इन चारों वर्णों के नाम नहीं आए हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि समाज में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था अवान्तर युग में ही हुई ।

---

1. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 185.
2. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 31.16 उव्वट भाष्य.

पुरुष सूक्त में तीन प्रकार के पुरुषों का उल्लेख प्राप्त होता है – आदिपुरुष, विराट् पुरुष तथा उससे उत्पन्न देहाभिमानी जीवात्म पुरुष । सम्भवतः पुरुष सूक्त के आधार पर ही सांख्य दर्शन में पुरुष का बहुत्व प्रतिपादित किया गया है । डॉ.फतहसिंह के मन्तव्यानुसार पुरुषसूक्त में वर्णित पहला पुरुष शुद्ध अथवा निष्क्रिय है । विराज् प्रकृति–पुरुष है और विराज् से उत्पन्न होने वाला पुरुष प्रकृति से आवृत पुरुष है, जिसका यज्ञ में बलिदान हो जाने पर सारे विश्व की सृष्टि होती है ।[1]

कारणता के सिद्धान्त के अनुसार इस सृष्टि की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है – परिणामवाद तथा विवर्तवाद । परिणामवाद के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति यथार्थतः होती है । विवर्तवाद में यह अयथार्थ या भ्रम स्वरूप होती है । पुरुषसूक्त में पूरी सृष्टिप्रक्रिया को पुरुष के अङ्गों द्वारा ही उपपन्न किया गया है । अतः यह सूक्त दार्शनिक दृष्टि से परिणामवाद का पक्षधर प्रतीत होता है । यह वैदिक एकेश्वरवाद (Monotheism) का सर्वोच्च प्रतिपादक है । वैदिक आर्यों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं का परिचायक होने के कारण यह सूक्त नितान्त महत्त्वपूर्ण है ।

---

1. डॉ.सिंह, फतह – वैदिक दर्शन, पृष्ठ 206.

अध्याय – 6

प्रजापति (हिरण्यगर्भ) का स्वरूप एवं हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्वेद 10.121)

(क) प्रजापति या हिरण्यगर्भ का स्वरूप

(ख) हिरण्यगर्भ सूक्त

(ग) सूक्त में विद्यमान विभिन्न पदों की समीक्षा

(1) हिरण्यगर्भः
(2) समवर्तत
(3) कस्मै
(4) आत्मदा
(5) बलदा
(6) अमृत–मृत्यु
(7) प्राणतः
(8) निमिषतः
(9) द्विपदः चतुष्पदः
(10) यस्येमे हिमवन्तो महित्वा
(11) प्रदिशः
(12) येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृळ्हा
(13) स्वः और नाकः
(14) रजसो विमानः
(15) क्रन्दसी
(16) अवसा
(17) तस्तभाने
(18) रेजमाने
(19) मनसा
(20) बृहतीः आपः
(21) गर्भं दधानाः
(22) अग्निं जनयन्तीः
(23) ततः
(24) एकः असुः
(25) दक्षम्
(26) यज्ञं जनयन्तीः
(27) सत्यधर्मा
(28) चन्द्रा आपः
(29) परि बभूव
(30) रयीणां पतयः

[क] प्रजापति या हिरण्यगर्भ का स्वरूप :–

ऋग्वेद के समस्त देवता सर्वशक्तिमान् वर्णित किये गए हैं । अनेक में एक के दर्शन करना विकसित मानवबुद्धि का स्वभाव है । ऋग्वेद के अनेक देवों के प्रति अपने हृदय के भक्तिपूर्ण उद्‌गारों को व्यक्त करते हुए तथा उन सबके लिए यज्ञों का आयोजन करते हुए वैदिक ऋषियों की दृष्टि उन सबके मूल अथवा आदिकर्त्ता की ओर जानी स्वाभाविक थी, जिसे वे संसार के अकेले जनक के रूप में स्वीकार कर सकें और इन्द्र, वरुण आदि देवों में से प्रत्येक को स्रष्टा के रूप में जानने की विषमता से मुक्त हो सकें । यही वह समय था, जब लोगों ने शतक्रतु इन्द्र के अस्तित्व के प्रति भी सन्देह करना प्रारम्भ कर दिया था।[1] इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति भी सन्देह की भावना हमें दृष्टिगत होती है।[2] अतः ऋग्वेद के परवर्त्ती सूक्तों में हमें कुछ ऋषि समस्त देवताओं के मूल कारण की खोज में तत्पर दिखाई देते हैं। कहीं–कहीं अनेक देवों का सम्बन्ध श्रेष्ठ देवता से भी स्थापित किया गया है। एक सूक्त[3] में सत्य को ही निखिल विश्व का आधार माना गया है। यद्यपि "ऋत" और "सत्य" में भेद है, तथापि वहाँ उस "ऋत" के अर्थ में ही "सत्य" प्रयुक्त है, जिसके बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। इसी पृष्ठभूमि में वैदिक ऋषि शनैः शनैः विभिन्न देवताओं की आराधना से सर्वोत्तम देवता की तरफ प्रवृत्त हुए। ऋग्वेद के मन्त्रों में यह विचार भी व्यक्त किया गया कि सभी देवताओं में एक ही दिव्य शक्ति है। सबका सामर्थ्य एक ही है और एक को ही विद्वान् लोग अग्नि, यम, वरुण आदि नामों से पुकारते हैं ।[4] उससे भी आगे एक अन्य भावना हमें दिखाई देती है, जिसके अनुसार एक ही व्यापक शक्ति में समस्त विश्व अधिष्ठित है ।[5] एक देव की पर्येष्टि में संलग्न ऋषियों ने "प्रजापति" अथवा "हिरण्यगर्भ" नामक अमूर्त्त देवता को ढूँढ निकाला। "प्रजापति" का शाब्दिक अर्थ – प्रजाओं का स्वामी होता है । सृष्टिकर्त्ता देव के रूप में प्रजा का अर्थ सम्पूर्ण सृष्टि तथा पति का अर्थ स्रष्टा होगा। इस प्रकार "प्रजापति" में सृष्टि तथा स्रष्टा दोनों ही अन्तर्भूत हैं । ब्रह्माण्ड में दो प्रकार के तत्त्व हैं – देवतत्त्व तथा भूततत्त्व । इनमें देवतत्त्व अमरणधर्मा तथा भूत मरणधर्मा है । प्रजापति दोनों तत्त्वों

---

1. ऋग्वेद 2.12.
2. ऋग्वेद 5.33–34, 6.18.3–4 इत्यादि.
3. ऋग्वेद 10.37.
4. ऋग्वेद 1.164.46.
5. ऋग्वेद 10.82.6.

को अपने अन्दर समाहित किये हुए है । ''प्रजापति'' को 'विश्वकर्मा' के नाम से भी अभिहित किया जाता है । वस्तुतः प्रजापति भी एक यज्ञकर्ता ही है, जिसने जगत् की सृष्टि के लिए स्वयं का हवन कर दिया । यह सृष्टिस्रष्टा के मन में आए हुए विचार का ही परिणाम है ।

''प्रजापति'' को एक स्थान पर ऋषि, होता तथा पिता के रूप में चित्रित किया गया है।[1] ये तीनों रूप क्रमशः ''मनस् तत्त्व'', ''प्राणतत्त्व'' और ''भूततत्त्व'' को द्योतित करते हैं । ''प्रजापति'' में ये तीनों तत्त्व निहित हैं । उसे ''उपांशु'' और ''तूष्णीम्'' भी कहा जाता है । ''तूष्णीम्'' का अर्थ मौन होता है । मौन असीम है, उसी से अखिल सृष्टि उद्भूत है । प्रजापति की सारी अव्यक्त शक्तियाँ ''उपांशु'' या ''तूष्णीम्'' में निहित हैं । शतपथ ब्राह्मण ने उपांशु को प्रजापति का रूप कहा है ।[2] उसी में प्रजापति को ''आत्मन्'' भी कहा गया है । आत्मा के समान ही प्रजापति मनस्तत्त्व, प्राणतत्त्व और वाक्तत्त्व से युक्त है ।[3] ''वाक्'' को पञ्चभूतों का प्रतीक माना जाता है । वस्तुतः सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाना ही सृष्टि है । सूक्ष्म भावों का उत्तरोत्तर विकास स्थूल रूपों में होता है । इस प्रकार सृष्टिप्रक्रिया में सर्वप्रथम ''महत्तत्त्व'' या ''बुद्धि'' का आविर्भाव होता है । इसके पश्चात् ''अहङ्कार'' उत्पन्न होता है । यह व्यष्टिरूप है । इसके अनन्तर ''पञ्चतन्मात्रों'' तथा ''पञ्चमहाभूतों'' की उत्पत्ति होती है । पञ्चभूतों में सबसे सूक्ष्म और प्राथमिक ''आकाश'' है । आकाश का तन्मात्र ''शब्द'' है । ''शब्द'' ही ''वाक्तत्त्व'' है । अतः ''शब्द''या ''वाक्तत्त्व'' को ही पञ्चभूतों के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जाता है । इसीलिए पूर्वोद्धृत ब्राह्मण वचन में ''वाक्'' का अर्थ भूततत्त्व करना इष्ट है । शतपथब्राह्मण में ही एक स्थल पर प्रजनन-क्रिया को प्रजापति कहा गया है ।[4] अन्यत्र ''वाक्'' को प्रजापति के रूप में माना गया है ।[5] प्रजापति को ''मन'' के रूप

---

1. ऋग्वेद 10.81.1.
2. स यदुपांशु तत्प्राजापत्यं रूपम् । शतपथब्राह्मण 1.6.3.27.
3. एतन्मयो वा अयमात्मा मनोमयो वाङ्मयः प्राणमयः । वही, 14.4.3.10.
4. प्रजननं प्रजापतिः । शतपथब्राह्मण 5.1.3.10.
5. वही, 5.1.5.6 तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.3.4.5.

में भी माना गया है ।[1] वस्तुतः प्रजापति पञ्चमहाभूतों के रूप में ही इस सृष्टि में व्यक्त होता है । "ताण्ड्य ब्राह्मण" में कहा गया है कि प्रारम्भ में प्रजापति ने अपना अस्तित्व ग्रहण किया । इसके बाद वह वाक् के साथ संयुक्त होकर उसमें गर्भाधान किया ।[2] इस प्रकार यह सृष्टि पञ्चभूतों के सूक्ष्मतम रूप – वाक् के गर्भ में प्रजापति द्वारा आहित बीज का परिणाम है । वस्तुतः बिना पुरुष और स्त्री का संयोग हुए सृष्टि–प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है । वैदिक अवधारणा के अनुसार पिता, माता तथा जायमान पुत्र – ये तीनों प्रजापति के ही विभिन्न रूप हैं ।[3] डॉ.अग्रवाल ने वैदिक साहित्य के अनुशीलन के आधार पर प्रजापति के अनेक नामों की परिगणना की है । उनमें कुछ प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं – हिरण्यगर्भ, एक, तूष्णीम्, परोक्ष, ऊर्ध्व, नभ्य, स्थाणु, गुहा, उक्थ, अग्र, अमृत, तत्, हृदय, केन्द्र, योनि, गर्भ, अव्यक्त[4] इत्यादि । "शतपथब्राह्मण" के अनुसार प्रजापति के दो रूप हैं – "अनिरुक्त" और "निरुक्त" अथवा "अपरिमित" और "परिमित" ।[5] "अनिरुक्त प्रजापति" शब्दातीत है और "निरुक्त" शब्दब्रह्मस्वरूप । विश्व प्रजापति का परिमित रूप है और उसका "विश्वातीत रूप" अपरिमित या असीम है । जिसको मापा जा सके, उसे "परिमित" कहते हैं तथा जिसकी कोई मात्रा न हो अथवा जिसे मापा न जा सके उसे अपरिमित कहते हैं । "यजुर्वेद" के एक मन्त्र में कहा गया है – प्रजापति गर्भ के भीतर विचरण करता है । वह उत्पन्न न होता हुआ भी विविध रूपों में उत्पन्न होता है । धीर चारों तरफ उसके उत्पत्ति स्थान को देखते हैं । उसमें सम्पूर्ण भुवन अवस्थित है।[6] उक्त मन्त्र के अनुसार प्रजापति के दो रूप हैं – प्रथम रूप अजायमान अर्थात् अज या अजन्मा है । इसे ही गर्भप्रजापति के नाम से जाना जाता है । दूसरा रूप वह है, जो अव्यक्त या गर्भ से ही

---

1. प्रजापतिर्वा हि मनः । शतपथब्राह्मण 4.1.1.22.
2. प्रजापतिरिदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत् मिथुनं समभवत् सा गर्भमाधत्त ।
   ताण्ड्य ब्राह्मण 20.14.2.
3. माता पिता च प्रजापतिः । शतपथब्राह्मण 5.1.5.26.
4. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 125.
5. उभयम्वेतत्प्रजापतिर्निरुक्तानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च । शतपथब्राह्मण 6.5.3.7.
6. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
   तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा । शुक्लयजुर्वेद – 31.19.

उत्पन्न होता है तथा जिसे बहुधा या विजायमान कहते हैं । इसी की सञ्ज्ञा "पुरुरूप" या विश्वभुवन होती है । यह विश्वभुवन जिस अव्यक्त मूलस्रोत में अन्तर्निहित रहता है, वही योनि प्रजापति है ।

प्रजापति को हृदय भी कहा गया है ।[1] हृदय से मन की प्रतिष्ठा होती है । मन के रूप में ही सबसे पहले विश्व तथा व्यक्ति दोनों का आविर्भाव होता है । ऋग्वेद में एक स्थल पर विश्वकर्मा के रूप में प्रजापति की स्तुति की गई है तथा उसे सम्बोधित करते हुए यह कहा गया है – जिसने हम सबको जन्म दिया है, उसे तुम नहीं जानते हो । यद्यपि वह हम सबके भीतर स्थित है, तथापि उसका कोई और ही रूप दिखाई देता है उसके विषय में जितनी चर्चा है, वह सब तुषाराच्छादित है । जो मन्त्रों का गान करने वाले हैं, वे भी केवल गाते रहने से तृप्ति का अनुभव नहीं करते ।[2]

डॉ.अग्रवाल ने पुराणों के आधारपर प्रजापति की पाँच धारणाओं को स्पष्ट किया है – स्वयम्भू प्रजापति, परमेष्ठी प्रजापति, हिरण्यगर्भ प्रजापति, ब्रह्मा प्रजापति और कश्यप प्रजापति ।[3] इनमें से स्वयम्भू प्रजापति सम्पूर्ण सृष्टि का दिव्य स्रोत है । उसे क, ऊर्ध्व, अज, अव्यक्त आदि नामों से जाना जाता है । यह सबका पिता है, जिसमें सृष्टि का बीज निहित है । उसे अपनी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण नहीं चाहिए । इसीलिए मनुस्मृति में उसे "स्वयमुद्‌भौ" कहा गया है ।[4] इसका तात्पर्य यही है कि स्वयं अपनी इच्छा या अपने निमित्त से और अपने ही आभ्यन्तर में लीन उपादान से उस प्रजापति ने स्वयं अपना आविर्भाव इस विश्व के रूप में किया है । परमेष्ठी प्रजापति मातृतत्त्व है । इसे महत् तत्त्व भी कहा जा सकता है । इसकी सृष्टि स्वयम्भू प्रजापति ने अपने स्त्रीभाव के रूप में की । इसी के गर्भ में वह जगत् का बीज आहित करता है । इस प्रकार एक ही प्रजापति पिता और माता इन दो रूपों को धारण करता है । इनसे उत्पन्न होने वाला पुत्र सूर्य है, जिसे हिरण्यगर्भ प्रजापति कहा जाता है । अथर्ववेद में भी कहा गया है कि अदिति–पुत्र आदित्य सूर्य ही हिरण्यगर्भ

---

1. एष प्रजापतिर्यद् हृदयम् । शपतथब्राह्मण 4.5.4.1.
2. ऋग्वेद 10.82.7.
3. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वैदिक लेक्चर्स, पृष्ठ 141.
4. मनुस्मृति 1.7.

है । उसे रोहित भी कहा जाता है ।[1] यह सूर्य पहले समुद्र में छिपा था, जिसे विश्वरचना के तक्षणात्मक धक्कों ने ऊपर उछाला है । समस्त सृष्टि में यह सबसे अधिक सुन्दर, विचित्र और परिपूर्ण कृति है, जो सूर्य के रूप में द्युलोक में प्रत्यक्ष है । कितने ही नामों से उस एक देव का वर्णन किया जाता है । जैसे – रुद्र, महादेव, अर्यमा, वरुण, अग्नि, सूर्य, महायम आदि ।[2] इन्द्र के रूप में भी वही सूर्य द्युलोक में विद्यमान है ।[3] पाश्चात्त्य विद्वान् मैकडानेल का भी विचार यही है कि "हिरण्यगर्भ" की कल्पना उदय होते हुए सूर्य के आधार पर की गई है ।[4] सूर्य अग्नि का ही रूप है । अतएव अग्नि को "अपांनपात्" भी कहा जाता है । द्यावापृथिवी के मध्य चन्द्रमा की स्थिति है । यह चन्द्र अन्तरिक्ष का प्रतीक है । इसे ही ब्रह्मप्रजापति कहा जाता है । पृथिवी को कश्यपप्रजापति के नाम से जाना जाता है । इस प्रकार प्रजापति उक्त पाँच रूपों में अवस्थित है ।

जहाँ तक "प्रजापति" के "हिरण्यगर्भ" रूप का प्रश्न है, वह सूर्य का ही विकसित रूप प्रतीत होता है । वेदों में "हिरण्यगर्भ" महत्त्वपूर्ण प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है । प्राण की सञ्ज्ञा "हिरण्य" है । समस्त विश्व का जो एक बीज या रेत है, जिसकी शक्ति से यह विश्व आविर्भूत होता है, उसे "भुवनस्य रेतः" कहा गया है ।[5] उसी की सञ्ज्ञा हिरण्य है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसी "रेत" और "शुक्र" को हिरण्य कहा गया है ।[6] इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों में हिरण्य की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं तथा सभी सङ्गत हैं । आयु, अमृत, देव, प्राण, तेज, ज्योति तथा सत्य ये सभी हिरण्य के ही पर्याय हैं । इसके अतिरिक्त ये सारे तत्त्व सृष्टि के अनुकूल हैं । इनके प्रतिकूल तम, असुर, अनृत, मृत्यु आदि जो तत्त्व हैं, वे सृष्टि–विरोधी हैं । जो हिरण्यगर्भ है, वही सूर्य या अग्नि है । उसे अपांनपात् या अपांगर्भ भी कहते हैं । प्रलयकाल में जो अवशिष्ट जल या समुद्र के भीतर जो प्राणतत्त्व छिपा रहता है, वही सृष्टि के समय बालक के रूप में जन्म लेता है

---

1. अथर्ववेद 13.1.1.
2. वही 13.4.4–5.
3. स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् । वही 13.3.13.
4. मैकडानेल – ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 135.
5. ऋग्वेद 1.164.36.
6. रेतो हिरण्यम् । तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.8.2.4. तथा- शुक्रं हिरण्यम् । वही 1.7.6.3.

और उसी का रूप अग्नि और सूर्य है । द्युलोक में जो सूर्य है, वह भौतिक पदार्थों का समुदाय तो है, किन्तु ऋषियों ने उसे उस महती शक्ति का प्रतीक माना है, वही विज्ञानघन शक्ति ब्रह्म है । यजुर्वेद के ऋषि ने प्रश्न किया है कि सूर्य के समान दूसरा ज्योति कौन सा है ? उसी ने स्वयं उत्तर भी दिया है कि ब्रह्म सूर्य के समान दूसरा ज्योति है ।[1] इसका अर्थ यह है कि हम जिस विभ्राट् ज्योति के सूर्य के रूप में नित्य दर्शन करते हैं, वह उस महान् विज्ञानमय या चैतन्यमय शक्ति का प्रतीक है, जो समस्त विश्व का मूल कारण है और जिसके ज्ञानमय तप से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, वही ब्रह्म है । इसी दृष्टि से सूर्य को चराचर का आत्मा कहा गया है ।[2] प्रश्नोपनिषद् में उसी उदीयमान सूर्य को प्रजाओं का प्राण कहा गया है ।[3] मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि की इच्छा करने वाले स्वयम्भू ने ध्यान कर अपने शरीर से पहले जल की सृष्टि की और बीज डाला । वह बीज सूर्य के समान प्रकाश वाला स्वर्णिम अण्डा हो गया । उसमें से सम्पूर्ण लोक के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए । उस अण्डे में संवत्सरपर्यन्त निवास कर भगवान् ने अपने ध्यान से स्वयं ही उस अण्डे के दो टुकड़े कर दिये । उन दोनों टुकड़ों से उन्होंने द्युलोक एवं पृथिवीलोक का निर्माण किया ।[4] इन उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि सूर्य ही विकासक्रम में प्रजापति या हिरण्यगर्भ बन गया । हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण में भी कहा गया है कि पहले सर्वत्र जल ही था । उन जलों ने सोचा कि कैसे प्रजनन किया जाए । इस प्रकार विचार करके उन्होंने तपस्या करना प्रारम्भ किया । तपस्या करती हुई जलराशि में सुनहला अण्डा उत्पन्न हुआ । उत्पन्न होकर वह अण्डा संवत्सरपर्यन्त स्थित रहा । पुनश्च उससे सम्पूर्ण सृष्टि हुई ।[5]

---

1. शुक्लयजुर्वेद 23.47 तथा 23.48.
2. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋग्वेद 1.115.1.
3. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । प्रश्नोपनिषद् 1.8.
4. मनुस्मृति 1.8.9.12.13.
5. आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यँस्ता-स्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूवा, जातो ह तर्हि संवत्सर आस। शतपथब्राह्मण 11.1.6.1.

"प्रजापति" या "हिरण्यगर्भ" को ऋग्वेद के एक सूक्त में "क" नाम से अभिहित किया गया है ।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण" में एक कथा आई है कि प्रजापति ने देवों के पीछे इन्द्र को बनाया और कहा – जाओ तुम इन देवों के अधिपति बनो । देवों ने कहा – तुम हो कौन? हम तुमसे बड़े हैं । इन्द्र प्रजापति के पास आया और बोला – देव कहते हैं तुम हो कौन ? हम तुमसे बड़े हैं । प्रजापति के पास वह तेज था, जो आदित्य में है । इन्द्र ने कहा – अपना वह तेज मुझे दे दो तो मैं देवों का अधिपति बन सकूँगा । प्रजापति ने कहा – इसे दे दूँ तो फिर मैं क्या रहूँगा ? इन्द्र ने कहा – तुम "क:" रहोगे । अतएव प्रजापति या हिरण्यगर्भ की सञ्ज्ञा "क" है ।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी कथा का अनुवर्तन किया गया है ।[3]

(ख) हिरण्यगर्भ सूक्त :-

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ इक्कीसवां सूक्त प्रजापति या हिरण्यगर्भ सूक्त के नाम से जाना जाता है । इसके ऋषि प्रजापति-पुत्र हिरण्यगर्भ तथा देवता "क" शब्दाभिधेय प्रजापति हैं । सम्पूर्ण सूक्त में दश ऋचाएँ हैं, जो त्रिष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध हैं ।[4] ऋग्वेद के देवमण्डलों में सर्वोच्च देवता की सर्वोत्तम शब्दों में स्तुति करने वाला यह सूक्त वैदिक साहित्य में अनुपम है । इसकी महत्ता इस कारण भी है कि इसमें वैदिक कालीन भारतीय ऋषियों द्वारा कल्पित देवों में सबसे आश्चर्यजनक देवता "क" को प्रतिष्ठित किया गया है । वालिस के मन्तव्यानुसार हिरण्यगर्भ से सुवर्णबीज एवं कनकप्रभ प्रकाश की योनि से सूर्य का ज्ञापन होता है । इस सूक्त में सूर्य को ब्रह्माण्ड की उदात्त एवं महती शक्ति में उपन्यस्त किया गया है । सूर्य से ही समस्त देव एवं मानुष-रूप का उद्भव होता है ।[5] यह सूक्त "कस्मै" सर्वनाम पद द्वारा निरन्तर सर्वोच्च देवता के अन्वेषण में तत्पर है।

---

1. ऋग्वेद 10.121.
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.2.10.1-2.
3. ऐतरेय ब्राह्मण 3.21.
4. उक्त सूक्त के मन्त्र तथा उनके हिन्दी-अनुवाद परिशिष्ट "क" में दिये गए हैं ।
5. वालिस – कास्मोलॉजी ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 50.
   (ग्रिफिथ – हिम्न्स ऑफ द अथर्ववेद में उद्धृत).

अन्तिम ऋचा में प्रजापति को परमदेवता के रूप में अधिष्ठित कर जिज्ञासा का अवसान किया गया है । यह प्रजापति सृष्टि के प्रथम प्रभात में उत्पन्न हुआ और यही आकाश, जल एवं जीवन्त प्राणियों का स्रष्टा है । यह शरीर तथा बल को प्रदान करने वाला है, इसके अनुशासन में समस्त देव तथा प्राणी रहते हैं । अमृत तथा मृत्यु इसी की छाया है । गतिशील तथा श्वास लेने वाले प्राणियों का प्रजापति अकेला राजा है । इसी ने द्युलोक तथा पृथिवीलोक को धारण कर रखा है और दृढ़ गनाया है । देवताओं में एकमात्र देव प्रजापति है । सम्पूर्ण चराचर इसी महान् देवता में अनुविद्ध हैं ।

(ग) सूक्त में विद्यमान विभिन्न पदों की समीक्षा :-

सूक्त की महनीयता का अवबोध प्राप्त करने के लिए इसके अन्तर्गत आए विभिन्न शब्दों का अध्ययन करना आवश्यक है । इन शब्दों का अध्ययन निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) **हिरण्यगर्भ** :- प्रस्तुत सूक्त का यह प्रथम पद है । आचार्य सायण ने इसके तीन अर्थ प्रकट किए हैं । पहला अर्थ "सुवर्णमय अण्डे का गर्भ बना हुआ प्रजापति" किया है । दूसरा अर्थ - 'जिसके उदर में स्वर्णमय अण्डा गर्भ के समान स्थित है, वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहा जाता है', किया है ।[1] उन्होंने तीसरा अर्थ - "ब्रह्माण्डरूप हिरण्य में गर्भ के रूप में स्थित प्रजापति", किया है ।[2] उव्वट ने इसका अर्थ - 'हिरण्यगर्भ नाम वाला पुरुष' किया है ।[3] महीधर के अनुसार इसका अर्थ - "हिरण्य पुरुष के रूप में विद्यमान ब्रह्माण्ड में गर्भ के रूप में अवस्थित प्रजापति" है ।[4] इस प्रकार भारतीय विद्वानों ने हिरण्यगर्भ को प्रजापति ही माना है । पीटर्सन ने "हिरण्यगर्भ" का अर्थ - "स्वर्णिम बीज" किया है ।[5] वस्तुतः "हिरण्यगर्भ" का सूर्य के साथ निकट का सम्बन्ध है । वह सुवर्णमय देवता है । सूर्य के लिए हिरण्याक्ष, हिरण्यपाणि, हिरण्यजिह्व,

---

1. ऋग्वेद 10.121.1 पर सायण-भाष्य.
2. तैत्तिरीय संहिता 4.1.8.3.
3. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 13.4, 23.1, 25.10 पर उव्वट-भाष्य.
4. वही - महीधर भाष्य.
5. पीटर्सन - हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृष्ठ 331.

हिरण्यकेश, हिरण्यहस्त आदि विशेषण प्रयुक्त होते रहे हैं ।[1] यहाँ तक कि सूर्य के वस्त्रों को भी सुनहरा बताया गया है ।[2] उसे सुनहरे रथपर विचरण करने वाला भी कहा गया है ।[3] सूर्य के अनेक रूप हैं – सविता, विष्णु, भग, पूषा, वरुण, मित्र, अर्यमा, दक्ष, अंश इत्यादि ।[4] सूर्य के इन सभी रूपों तथा विशेषणों पर विचार करने से यह पता चलता है कि सूर्य ही कालान्तर में हिरण्यगर्भ के रूप में विकसित हो गया । इस प्रकार के विकास का मुख्य कारण यह है कि वैदिक ऋषि अब किसी भी मूर्त देवता को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने के पक्ष में नहीं थे । उनकी जिज्ञासा का अवसान किसी अमूर्त देवता की कल्पना में ही सम्भव था । इसीलिए उन्होंने मूर्त देवता सूर्य के वर्णादि के आधार पर 'हिरण्यगर्भ' की कल्पना की ।

(2) **समवर्तत** :– यह पद सम् उपसर्गपूर्वक /वृत् धातु के लङ् लकार, आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है । आचार्य सायण ने इसका अर्थ "उत्पन्न हुआ" किया है । उन्होंने हिरण्यगर्भ को माया के अध्यक्ष सृष्टि की कामना वाले परमात्मा से उत्पन्न होना स्वीकार किया है।[5] उव्वट ने इसका अर्थ –'प्रथम शरीरधारी हुआ[6]' तथा महीधर ने –'स्वयं शरीरधारी हुआ[7]' किया है । पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ 'सत्ता में आया या उत्पन्न हुआ' है ।[8] मैकडानेल ने "वृत्" धातु का अर्थ – आन्दोलित होना, दोलायित होना, लुढ़कना इत्यादि किया है ।[9] वस्तुतः सृष्टि की प्रारम्भिक

---

1. ऋग्वेद 1.35.8,9,10 इत्यादि.
2. वही – 4.53.2.
3. वही – 1.35.
4. वही – 2.27.1.
5. प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत ।
   ऋग्वेद 10.121.1 पर सायण भाष्य.
6. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 13.4, 23.1, 25.10 पर उव्वट भाष्य.
7. वही, महीधर भाष्य.
8. पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, पृष्ठ 331.
9. मैकडानेल – वैदिक रीडर फॉर स्टूडेन्ट्स, हिरण्यगर्भसूक्त पर टिप्पणी.

अवस्था में हिरण्यमय अण्डा जल में इधर–उधर तैर रहा था । उसकी उत्पत्ति किसी ने भी नहीं देखी। अतः "समवर्तत" का अर्थ यदि "व्यवस्थित रूप से था" किया जाय, तो अधिक सङ्गत होगा ।

(क) **कस्मै** :– आचार्य सायण ने इसके अनेक अर्थ बताए हैं ।

(अ) किम् शब्द का प्रयोग अनिर्ज्ञात स्वरूप होने से प्रजापति के लिए किया गया है ।[1]

(ब) सृष्टि के लिए कामना करने वाला "क" है । इस अर्थ के निष्पादन के लिए सायण ने इसे इच्छार्थक कम् धातु से ड प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना है ।[2]

(स) "क" सुख को कहते हैं, अतः सुखस्वरूप होने से प्रजापति "क" है ।[3]

(द) सायण ने चतुर्थ अर्थ का निष्पादन ऐतरेय ब्राह्मण (3.21) की उस कथा को उद्धृत करते हुए किया है, जिसमें प्रजापति को "क" अभिधान इन्द्र ने दिया । इस प्रकार "क" प्रजापति का नाम है । किम् शब्द सर्वनाम है, अतः चतुर्थी एकवचन में "स्मै" भाव सिद्ध है । यदि इसे यौगिक माना जाय, तो "स्मै" व्यत्यय से मानना पड़ेगा ।[4]

उव्वट ने "कस्मै" का अर्थ "काय" किया है तथा "स्मै" को छान्दस आदेश मानते हुए विभक्तिव्यत्यय स्वीकार किया है ।[5] महीधर ने भी इसे विभक्तिव्यत्यय ही माना है ।[6] "क" को प्रजापति का एक नाम मानने की परम्परा ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर परवर्ती धार्मिक साहित्य तक अविच्छिन्न रूप से पाई जाती है । इस दृष्टि से शतपथब्राह्मण[7], कौशीतकि ब्राह्मण[8], तैत्तिरीय संहिता[9] इत्यादि विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं । प्रायः सभी पाश्चात्त्य विद्वानों ने किम् को प्रश्नवाचक

---

1. किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते । ऋग्वेद 10.121.1, सायण भाष्य.
2. सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः । कमेर्ड प्रत्ययः । वही, सायण भाष्य.
3. कं सुखम् । तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते । वही, सायण भाष्य.
4. वही, सायण भाष्य.
5. तस्मै कस्मै काय इति प्राप्ते "स्मै" आदेशश्छान्दसः । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 13.4 पर उव्वटभाष्य
6. वही, महीधर भाष्य.
7. क वै प्रजापतिः । कमेवैष प्रजाभ्यः कुरुते । शतपथब्राह्मण 2.5.2.11.
8. कौशीतकि ब्राह्मण 6.2.2.5,12, 6.4.3.4 इत्यादि.
9. तैत्तिरीय संहिता 1.7.6.

सर्वनाम के रूप में स्वीकार किया है ।[1] श्रोदर का मत है कि ऋषि अदम्य लालसा एवं उत्कट अनुसन्धित्सा से उस ईश्वर का अन्वेषण करता है, जो जगत् एवं सृष्टि के प्रथम मूल तत्त्व के प्रारम्भ में विद्यमान रहकर सम्पूर्ण जीवन को आकारायित करता है, एवं सम्पूर्ण प्रकृति में अपने आप को अभिव्यक्त करता है । ऋषि देवता को उसकी प्रव्यञ्जना में कभी यहाँ, कभी वहाँ,कभी अन्यत्र बारम्बार देखता है तथा वह उसके सम्बन्ध में सन्देह, अनुसन्धान करने की इच्छा और लालसा से सदैव जिज्ञासा करता है । वह कौन देवता है, जिसके लिए हम अपना हविष्य प्रदान करें ?[2] वस्तुतः प्रस्तुत सूक्त का आविर्भाव उस समय हुआ, जब ऋषि घोर सम्प्रश्नवाद की स्थिति से गुजर रहे थे । उन्होंने अनेक देवताओं के अस्तित्व के बारे में उठे प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया[3] तथा इसके पश्चात् किसी सर्वमान्य देवता को अपने हविष्य का विषय बनाने के लिए उसे ढूँढने लगे । ऐसी स्थिति में उन्होंने हिरण्यगर्भ या प्रजापति को प्राप्त किया तथा उसके विभिन्न चमत्कारात्मक कार्यों का उल्लेख करते हुए उसका नाम न लेकर "किम्" सर्वनाम द्वारा प्रकारान्तर से उसे अभिहित किया । यदि ऋषि को "कस्मै" का अर्थ सीधे "प्रजापति के लिए" करना इष्ट होता, तो मन्त्रों में कहीं न कही "एतादृशाय", "तस्मै" इत्यादि अर्थ वाले विशेषण का प्रयोग अवश्य किया होता । दूसरी बात यह है कि "कस्मै" को प्रश्नवाचक सर्वनाम मानने से अर्थ में भी सौन्दर्य उत्पन्न हो रहा है । जैसे – किस देवता के लिए हवि प्रदान करें ? अर्थात् ऊपर जिसके गुणों का वर्णन किया गया है, उस देवता के लिए ही हविष्य प्रदान करें, ऐसा भाव सामने आएगा । इस प्रकार जिज्ञासा में ही उसका समाधान भी सम्यक् निविष्ट प्रतीत होता है । अतः "कस्मै" को प्रश्नवाचक सर्वनाम के रूप में ही मानना उचित है तथा सम्यक् अर्थावबोध के लिए इसके पूर्व "तदतिरिक्ताय" जोड़ना अपेक्षित है ।

(4) आत्मदा :– सूक्त के द्वितीय मन्त्र में स्थित इस पद के सायण ने दो अर्थ किए हैं ।

(अ) आत्माओं को प्रदान करने वाला, क्योंकि समस्त आत्माओं की उत्पत्ति

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121.1 पर मैक्समूलर, मैकडानेल, लैनमन, पीटर्सन, मूर, ग्रिफिथ, विल्सन इत्यादि के अनुवाद एवं टिप्पणियाँ.
2. श्रोदर – इन्डियन लिटरेचर एन्ड कल्चर, पृष्ठ 80.
3. ऋग्वेद 2.12.

परमात्मा से ही होती है । इस अर्थ में उन्होंने इसे "आत्मन्" पूर्वक दानार्थक "दा" धातु से 'विच्" प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना है ।[1]

(ब) आत्माओं को शुद्ध बनाने वाला । यह अर्थ करने के लिए सायण ने इसकी निष्पत्ति आत्मन् +दैप् शोधने + विच् इस रूप में की है ।[2]

उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ "स्वयं को देने वाला" करते हुए "उपासकों को सायुज्य प्रदान करने वाला" यह फलितार्थ भी किया है ।[3]

प्रायः सभी पाश्चात्त्य विद्वानों ने "आत्मा" का अर्थ प्राण या श्वास मानते हुए इसका अर्थ "श्वास प्रदान करने वाला" किया है ।[4] "आत्मा" शब्द मूलतः आत्मा तथा शरीर दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है । वैदिक साहित्य में उपनिषदों के पूर्व तक यह बहुशः शरीर के अर्थ में ही आता रहा है । शतपथब्राह्मण में अध्यात्म शीर्षक से दिये गए समस्त व्याख्यान शारीरिक रूपक के अर्थ में ही प्रयुक्त प्रतीत होते हैं ।[5] इसके अतिरिक्त इसी ब्राह्मण में यह शब्द अनेक स्थलों पर साक्षात् रूप से शरीर के लिए ही आया है । सायण ने भी इन स्थलों पर इसे शरीर का ही वाचक माना है ।[6] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भी कुछ ऐसे मन्त्र आए हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि सूर्य शारीरिक रोगों का नाशक है ।[7] सूर्य का हिरण्यगर्भ से सम्बन्ध सुविदित ही है । अतः हिरण्यगर्भ

---

1. आत्मनां दाता । आत्मनो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते ।
   ऋग्वेद 10·121·2 पर सायण भाष्य.
2. आत्मनां शोधयिता । दैप् शोधने, आतो मनिन् (पा·3·2·74) इति विच् । वही.
3. आत्मानं ददात्यात्मदाः । उपासकानां सायुज्यप्रदः ।
   शुक्लयजुर्वेद संहिता 25·13 पर उव्वट एवं महीधर के भाष्य.
4. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10·121·2 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन, मूर, मैकडानेल इत्यादि के अनुवाद एवं टिप्पणियां.
5. शतपथब्राह्मण 6·6·1·19, 6·7·1·20, 10·5·2·7 इत्यादि.
6. वही – 6·6·3·15–16, 7·2·2·8, 14,20, 8·3·4·15, 9·1·2·98, 10·5·1·3 तथा इन पर सायण भाष्य.
7. ऋग्वेद 1·50·11–13.

के लिए भी "शरीर का प्रदाता" या शोधक कहना उचित प्रतीत हो रहा है । यदि इसका अर्थ "आत्मा" माना जाय, तो अगले पद "बलदा" के साथ भी इसकी सङ्गति नहीं बैठ पाएगी, क्योंकि पहले शरीर होगा, तभी उसमें शक्ति की भावना की जा सकती है । यदि "आत्मदा" का अर्थ आत्मा को देने वाला तथा "बलदा" का अर्थ बल को देने वाला किया जाय, तो आत्मा तथा बल दोनों ही शरीर के बिना निष्क्रिय प्रतीत होंगे । वैसे भी पूरे सूक्त के अगले मन्त्रों में प्रतिपादित विभिन्न पदार्थों के परिप्रेक्ष्य में पहले "शरीर" का निर्माण अथवा उसकी शोधकता या नैरुज्यता का प्रतिपादन करना इष्ट प्रतीत होता है । यदि "आत्मदा" की निष्पत्ति "दैप्" शोधने से मानें तो भी उसका अर्थ शरीर ही करना पड़ेगा, क्योंकि शोधन क्रिया शरीर की ही सम्भव है । आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य-स्वरूप है । इस दृष्टि से केवल चार्वाक दर्शन के साथ ही सङ्गति नहीं बैठ पाएगी, क्योंकि वहाँ शरीर को ही आत्मा माना गया है । इस प्रकार प्रस्तुत स्थल पर "आत्मा" का अर्थ शरीर को शुद्ध करने वाला मानना उचित प्रतीत होता है । यद्यपि ऋग्वेद में अनेकत्र आत्मा शब्द का प्रयोग जीवात्मा के अर्थ में ही हुआ है, किन्तु यहाँ "बलदा" की सङ्गति की अपेक्षा से इसे शरीरपरक माना गया है।

(5) **बलदा** :- सायण ने इसका अर्थ बलप्रदाता या बल का शोधक किया है ।[1] उव्वट और महीधर ने सामर्थ्य प्रदान करने वाला किया है ।[2] प्रायः पाश्चात्त्य विद्वानों ने इसे बल या शक्ति का प्रदाता माना है ।[3] यदि इसे शोधक के अर्थ में माना जाय, तब भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि बल का शोधन करने का तात्पर्य उसको सही दिशा में लगाना है । सामान्यतः बल होने पर उसका दुरुपयोग करना स्वभाव-सिद्ध है । इसीलिए हिरण्यगर्भ को बल का प्रदाता अथवा शोधक कहा गया है, जिससे कोई उसका दुरुपयोग न कर पाए ।

(6) **अमृत-मृत्यु** :- सूक्त के द्वितीय मन्त्र के ही तृतीय चरण में कहा गया है –

---

1. बलस्य दाता शोधयिता वा । ऋग्वेद 10.121.2 सायण भाष्य.
2. बलं सामर्थ्यं ददाति बलदाः । भुक्तिमुक्तिप्रद इत्यर्थः ।
   शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 25.13 पर उव्वट एवं महीधर के भाष्य.
3. ऋग्वेद 10.121.2 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा मूर के अनुवाद.

जिसकी छाया अमृत है, जिसकी छाया मृत्यु है । सायण ने इसके दो अर्थ किये हैं – प्रथम अमृतत्व तथा दूसरा अमृत या सुधा ।[1] उव्वट और महीधर ने इस मन्त्रांश का अर्थ – जिसका आश्रय अमृतरूप मुक्ति का हेतु है तथा जिसकी अकृपा आवागमन रूप मृत्यु है, किया है ।[2] इस अंश से यही प्रतीत होता है कि अमरत्व तथा मृत्यु दोनों हिरण्यगर्भ के ही अधीन है । जिस प्रकार मनुष्य या किसी की भी छाया उसके अधीन ही होती है, उसी प्रकार अमृत तथा मृत्यु दोनों ही प्रजापति की छाया होने के कारण उसके वशवर्ती हैं । अतः वह जिन्हें चाहे, अमर बना सकता है और जिसे जब चाहे मृत्यु भी प्रदान कर सकता है । इस दृष्टि से उव्वट और महीधर की व्याख्याएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं । पाश्चात्त्य विद्वानों के व्याख्यान भी उक्त तथ्य का विरोध नहीं प्रकट करते हैं ।

(7) **प्राणतः** :– सायण ने तीसरे मन्त्र में आए शब्द "प्राणतः का अर्थ "श्वास लेते हुए" (जगत्) का किया है ।[3] उव्वट ने – श्वास लेते हुए भूतग्राम अर्थात् प्राणिसमुदाय का, ऐसा अर्थ किया है ।[4] महीधर ने इसका अर्थ "जीवधारी" किया है ।[5] पाश्चात्त्यों ने इसे श्वास लेने के अर्थ में ही माना है ।[6] वस्तुतः इस मन्त्र में प्रजापति द्वारा समस्त चेतन प्राणियों पर शासन करने की बात कही गई है, इसीलिए पहले "प्राणतः" पद का प्रयोग करके चेतनों के प्रथम धर्म श्वासन की ओर सङ्केत किया गया है ।

(8) **निमिषतः** :– सायण ने इसका अर्थ पक्ष्मचालन करने वाले किया है ।[7] महीधर ने पलक झपाने को उपलक्षण माना है । उनके अनुसार इसका अर्थ – नेत्र इत्यादि इन्द्रियों के व्यापार

---

1. अमृतममृतत्वम् । यद्वा मृतं मरणं नास्त्यस्मिन्निति, अमृतं सुधा । ऋग्वेद 10·121·2 पर सायण-भाष्य.
2. यस्यच्छायाश्रयो ज्ञानपूर्वमुपासनममृतं मुक्तिहेतुः । यस्य । अज्ञानमिति शेषः । मृत्युः संसार-हेतुः । शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 25·13 पर उव्वट–महीधर-भाष्य.
3. प्राणतः श्वसतः । ऋग्वेद 10·121·3 पर सायण-भाष्य.
4. प्राणतः प्राणनं कुर्वतः भूतग्रामस्य । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 23·3, 25·11 पर उव्वट-भाष्य.
5. प्राणनं जीवनं कुर्वतः । वही, महीधर-भाष्य.
6. मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन इत्यादि के ऋग्वेद 10·121·3 पर अनुवाद.
7. अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः । वही, सायण भाष्य.

में सन्नद्ध सचेतन जगत् का,[1] है । प्रकृत स्थल पर यह विचारणीय है कि सूर्य अमर तथा मरणधर्मा सबको अपने-अपने कार्यों में लगाने वाला है ।[2] इसके अतिरिक्त उषा को समस्त प्राणियों के प्राण एवं जीवन का आश्रय कहा गया है ।[3] उषा का सूर्य से सम्बद्ध होना सुविदित ही है । सूर्योदय होने पर समस्त प्राणी अपने-अपने कार्यों में लग जाते हैं तथा सूर्यास्त होने पर सभी पलक झपा लेते हैं या विश्राम करते हैं । यहाँ प्रजापति को श्वास लेने वाले तथा पलक झपाने वाले जगत् का स्वामी कहा गया है । इस मन्त्र द्वारा भी प्रजापति का सम्बन्ध सूर्य से स्पष्टतः परिलक्षित होता है तथा यह सूर्य का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है ।

{9} **द्विपदः चतुष्पदः** :- इन दोनों पदों के अर्थ क्रमशः दो पैरों वाले तथा चार पैरों वाले है । तात्पर्य यह है कि वह प्रजापति दो पैरों वाले मनुष्यादि तथा चार पैरों वाले गौ, अश्व इत्यादि से युक्त इस संसार का स्वामी है ।

{10} **यस्येमे हिमवन्तो महित्वा** :- चतुर्थ मन्त्र के इस प्रथम चरण के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतभेद है । सायण ने "हिमवन्तः" का अर्थ हिमालय आदि सभी पर्वत किया है ।[4] तात्पर्य यह है कि उन्होंने इसे प्रथमान्त पद माना है, जबकि उव्वट-महीधर ने इसे द्वितीयान्त मानकर "आहुः" के साथ अन्वित किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ होगा - विद्वान् लोग हिमालय आदि पर्वतों को जिसकी महिमा कहते हैं ।[5] पीटर्सन ने इसका अर्थ किया है - वे हिमयुक्त पर्वत उसके हैं ।[6] इसी प्रकार "महित्वा" का अर्थ भी सायण, महीधर और उव्वट तीनों भारतीय आचार्यों ने -

---

1. दृगादीन्द्रियव्यापारं कुर्वतः सचेतनस्य जगतः। शुक्लयजुर्वेदसंहिता 23.3 पर महीधर भाष्य.
2. ऋग्वेद 1.35.2.
3. वही - 1.48.10.
4. हिमवन्तो हिमवदुपलक्षिता इमे दृष्यमानाः सर्वे पर्वता यस्य प्रजापतेर्महित्वा महत्त्वं माहात्म्य-मैश्वर्यमित्याहुः । ऋग्वेद 10.121.4, सायण भाष्य.
5. इमान् हिमवत्प्रभृत्यद्रीन् यस्य प्रजापतेर्महित्वं महिमानमाहुर्बुधाः ।
   शुक्लयजुर्वेदसंहिता - 25.12 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.
6. His are those snowy hills.
   पीटर्सन - हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त.

"महत्त्व, महिमा या ऐश्वर्य को" किया है । इस प्रकार उन्होंने इसे द्वितीया एक वचन का रूप माना है । मूर ने भी उनका अनुगमन करते हुए इसे द्वितीया विभक्ति एकवचन का ही रूप माना है ।[1] वस्तुतः यहाँ महित्वा को तृतीया विभक्ति एकवचन का रूप मानना चाहिए, जैसे कि इसी सूक्त के पिछले मन्त्र में माना गया है । मैक्समूलर ने भी सायण, महीधर तथा उव्वट एवं मूर के द्वारा प्रतिपादित इस रूप का खण्डन करके इसे तृतीया विभक्ति के एकवचन का ही रूप माना है ।[2] इस प्रकार सभी पक्षों पर विचार करके इसका अन्वय – "यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः" करते हुए "जिसकी महिमा से ये हिमालय इत्यादि सभी पर्वत हैं", यह अर्थ करना उचित है । ऐसा अन्वय करना इसलिए भी आवश्यक है कि पिछले तथा आगामी मन्त्रों में भी प्रजापति में कर्तृत्व–भावना प्रतिपादित की गई है । यदि इसका अर्थ – जिसकी महिमा को हिमालय आदि पर्वत कहते हैं, ऐसा किया जाय, तो प्रजापति के कर्तृत्व में व्याघात होगा ।

{11} प्रदिशः :– इसका अर्थ सायण ने आग्नेय आदि कोण किया है ।[3] उव्वट और महीधर ने – पूर्व आदि दिशाएँ किया है ।[4] ग्रिफिथ ने इसे स्वर्गीय क्षेत्र[5] तथा पीटर्सन ने आकाशीय क्षेत्र[6] का द्योतक माना है । सायण का अनुगामी होते हुए भी विल्सन ने इसे पूर्व आदि चार दिशाएँ ही माना है ।[7] वस्तुतः दिशाओं के कोणों को "विदिश" कहा जाता है । सायण ने सम्भवतः "प्रदिश"

---

1. Whose greatness these snowy mountains......declare.
   मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 4, पृष्ठ 16.
2. मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1, पृष्ठ 8.
3. प्राच्यारम्भा आग्नेयाद्याः कोणदिशः ईशितव्याः । ऋग्वेद 10.121.4 सायण भाष्य.
4. पूर्वाद्याः प्रकृष्टा आशाः । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 25.12 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.
5. ग्रिफिथ – हिम्स आफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628.
6. His are the regions of the sky.
   पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद.
7. Whose are these quarters of space.
   विल्सन – ऋग्वेद संहिता, भाग 6, पृष्ठ 417.

का अर्थ "विदिश" के रूप में किया है । अतः यहाँ "प्रदिशः" का अर्थ – पूर्व आदि चार दिशाएं करना ही उचित है ।

⟦12⟧ **येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृळ्हा :–** सूक्त के पाँचवें मन्त्र के प्रस्तुत प्रथम पाद का अर्थ करते समय सायण ने उग्रा को द्यौः का तथा दृढा को पृथिवी का विधेय मानकर – जिसने द्युलोक को उद्‌गूर्ण तथा पृथिवी को दृढ किया, ऐसा अर्थ किया है ।[1] उव्वट और महीधर ने भी उग्रा को द्यौः का विशेषण ही माना है, किन्तु उन्होंने इसका अर्थ "वृष्टिदायिनी किया", यह किया है ।[2] ग्रिफिथ ने "उग्रा" का अर्थ शक्तिशाली[3] तथा पीटर्सन ने महान् किया है । यद्यपि पीटर्सन ने इसे द्यौः का विशेषण माना है । डॉ.विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी ने भी इसे द्यौः का विशेषण मानकर इसका अर्थ "भयानक" किया है ।[5] वे सम्भवतः मैक्समूलर से प्रभावित प्रतीत होते हैं, जिन्होंने उग्रा का अर्थ विचित्र या भयानक किया है ।[6] वस्तुतः उग्रा को द्यौः का विधेय मानना ही उचित है । द्यौः ऊपर तथा पृथिवी उससे नीचे स्थित है । प्रजापति ने ही द्युलोक को उठाकर ऊपर कर दिया होगा । अतः पूरे पाद का अर्थ – जिसके द्वारा द्युलोक ऊर्ध्व स्थित तथा पृथिवी दृढ़ कर दी गई, करना उचित होगा ।

⟦13⟧ **स्वः और नाकः :–** सायण ने स्वः का अर्थ स्वर्ग और "नाकः" का अर्थ "आदित्य किया है ।[7] इसके विपरीत उव्वट और महीधर ने क्रमशः इन दोनों पदों का अर्थ आदित्यमण्डल और स्वर्ग किया है ।[8] मैक्समूलर ने स्वः का अर्थ पृथ्वी तथा नाक का अन्तरिक्ष किया है ।[9] सूर ने

---

1. येन द्यौः उग्रा उद्‌गूर्णविशेषा गहनरूपा वा । ऋग्वेद 10.121.5, सायण भाष्य.
2. उद्‌गूर्णा वृष्टिदायिनी ⟦वृष्टिदा⟧ कृता । शु.य.सं. 32.6 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.
3. Strong. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628.
4. He established the great sky.
   पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, प्रजापति सूक्त.
5. त्रिपाठी, डॉ.विश्वम्भरनाथ – वेदचयनम्, पृष्ठ 165.
6. Sky is fiery मैक्समूलर–वैदिक हिम्स, 1, ऋ.10.121.5 का अनुवाद.
7. स्वः स्वर्गश्च । नाक आदित्यश्च । ऋग्वेद 10.121.5 पर सायण भाष्य.
8. स्व आदित्यमण्डलम् । नाकः स्वर्गो लोकः ⟦स्वर्गोऽपि⟧ शु.य.सं.32.6 पर उव्वट एवं महीधर के भाष्य.
9. The earth and the firmament.
   मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1.

इनका अर्थ क्रमशः आकाश और स्वर्ग किया है ।[1] पीटर्सन ने दोनों पदों को एक साथ मिलाकर इनका अर्थ "स्वर्ग का विशाल क्षेत्र" किया है ।[2] वस्तुतः इन दोनों पदों का अलग–अलग अर्थ करना इष्ट है। स्वः लोक स्वर्ग हैतथा नाक लोक आदित्य लोक से नीचे माना गया है, किन्तु वह स्वः से ऊपर स्थित है । अतः नाक को आदित्य मण्डल या आदित्यलोक कहना उचित नहीं है । यद्यपि जनसाधारण में नाक का अर्थ स्वर्ग से लिया जाता है । इस प्रकार यहाँ दोनों पदों को पृथक् करते हुए "स्वर्ग" और "नाकलोक" अर्थ करना उचित है ।

[14] रजसो विमानः :– सायण, उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – जलों का निर्माता किया है,[3] यद्यपि महीधर और उव्वट ने जल का तात्पर्य वृष्टि के जल से लिया है ।[4] विमानः को वि उपसर्ग पूर्वक मा धातु से शानच् प्रत्यय के योग से निष्पन्न मानना उचित है । लगभग सभी पाश्चात्त्य विद्वानों ने "रजसः" का अर्थ मध्य आकाश (Mid Air) तथा विमानः का "नापने वाला" किया है ।[5] प्रकृत स्थल पर मा धातु का अर्थ 'निर्माण करना' उचित नहीं प्रतीत होता । लोकों को नापना सूर्य या विष्णु का प्रमुख कर्म है ।[6] हिरण्यगर्भ या प्रजापति की अवधारणा ऋषियों ने सूर्य से ही ग्रहण की है, अतः यहाँ प्रस्तुत पदों का अर्थ "लोकों को नापने वाला", करना उचित है ।

[15] क्रन्दसी :– सूक्त के छठें मन्त्र में आए इस पद का अर्थ सायण, महीधर और उव्वट ने द्यावापृथिवी किया है ।[7] मैक्समूलर के अनुसार यहाँ "क्रन्दसी" के स्थान पर "रोदसी" पाठ

---

1. The firmament and the heaven.
   मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग 4, पृष्ठ 16–17.
2. Firmament of heaven. पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद.
3. रजस उदकस्य विमानो निर्माता । ऋग्वेद 10.121.5 पर सायण-भाष्य.
4. उदकस्य वृष्टिलक्षणस्य । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32.6 पर उव्वट एवं महीधर-भाष्य.
5. द्रष्टव्य – 10.121.5 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन, मूर इत्यादि के अनुवाद.
6. ऋग्वेद 1.154.1, 3 इत्यादि.
7. क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ ।
   ऋग्वेद 10.121.6 पर सायण भाष्य एवं शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32.7 पर उव्वट एवं महीधर-भाष्य.

होना चाहिए, किन्तु यह पाठ उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उनका सुझाया गया अर्थ – स्वर्ग और पृथिवी[1] का "क्रन्दसी" के अर्थ से वैषम्य नहीं है और अन्य सबने "क्रन्दसी" पाठ को शुद्ध मानते हुए ही अर्थ किया है । ग्रिफिथ और मूर ने इसका अर्थ – दो युद्ध करती हुई सेनाएं, किया है ।[2] निघण्टु में भी प्रस्तुत पद द्यावापृथिवी के अर्थ में ही परिगणित है ।[3] इस प्रकार इसका अर्थ दो युद्ध करती सेनाएं न होकर द्युलोक एवं पृथिवीलोक है ।

{16} **अवसा** :– सायण ने "अवसा" का अर्थ – रक्षण के द्वारा, किया है[4], किन्तु उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – हवि के रूप में अन्न द्वारा, किया है ।[5] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – इच्छा द्वारा[6] और ग्रिफिथ ने सहायता द्वारा[7] किया है । वस्तुतः यह पद अव् रक्षणे धातु से बना है तथा यहाँ तृतीया विभक्ति एक वचन में प्रयुक्त है । अतः इसका अर्थ होगा – सहायता या रक्षा के द्वारा । उव्वट और महीधर का सुझाया गया अर्थ स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता ।

{17} **तस्तभाने** :– यह शब्द स्तम्भ् धातु से कानच् प्रत्यय के योग से बना है तथा स्त्रीलिङ्ग प्रथमा विभक्ति द्विवचन का रूप है । सायण ने इसका अर्थ – प्रजापति द्वारा निर्मित और स्थिर किए गए, किया है ।[8] उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – समस्त प्राणियों को स्तब्ध करती हुई, किया है ।[9] वस्तुतः यहाँ इस पद का अर्थ – स्तब्ध किए गए या स्थिर बनाए गए, करना सङ्गत प्रतीत होता है ।

---

1. Heaven and earth. मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1.
2. Two armies embattled. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628.
   Two contending armies. मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, 4, पृष्ठ 17.
3. निघण्टु – 3.30.4.
4. अवसा रक्षणेन । ऋग्वेद 10.121.6 पर सायण भाष्य.
5. हविर्लक्षणान्नेन । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32.7 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.
6. By his will मैक्समूलर – वैदिक हिम्स, भाग 1.
7. By his help. ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 628.
8. प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ । ऋग्वेद 10.121.6 पर सायण भाष्य.
9. संस्तम्भमाने सर्वप्राणिजातम् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32.7 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.

[18] रेजमाने :– यह पद भी क्रन्दसी का विशेषण है । सायण ने इसका अर्थ – सुशोभित या चमकते हुए, किया है ।[1] महीधर भी इसी अर्थ के समर्थक हैं,[2] किन्तु उव्वट ने इसका अर्थ – काँपते हुए, किया है ।[3] मैक्समूलर, ग्रिफिथ और मूर ने इसका अर्थ – काँपते हुए, ही किया है ।[4] ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ रेज् धातु कम्पन के अर्थ में प्रयुक्त है ।[5] अतः प्रकृत स्थल पर भी इसका अर्थ – काँपते हुए, करना ही सङ्गत प्रतीत होता है ।

[19] मनसा :– सायण ने मनसा का अन्वय अभ्यैक्षेताम् के साथ करते हुए इसका अर्थ – बुद्धि से देखा,[6] किया है । ग्रिफिथ ने मनसा का अर्थ – आत्मा से तथा मैक्समूलर और मूर ने – मन से, किया है ।[7] वस्तुतः जिस प्रकार तस्तभाने का अन्वय अवसा के साथ किया गया है, उसी प्रकार रेजमाने का मनसा के साथ करना उचित है । इस प्रकार पूरे संश्लिष्ट वाक्य का अर्थ होगा – सहायता के द्वारा स्थिर किए गए तथा मन से काँपते हुए द्युलोक एवं पृथिवीलोक जिसकी ओर देखते हैं ।

[20] बृहतीः आपः :– इसका अर्थ विशाल जलराशि है । सायण ने आपः का अर्थ – जल[8] तथा महीधर और उव्वट ने "सलिल" के लिए इसे प्रयुक्त माना है ।[9] वस्तुतः सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान यह वही जल राशि है, जिसे ऋग्वेद में एक स्थल पर समुद्र कहा गया है ।[10] शतपथ ब्राह्मण में भी इसे ही निर्दिष्ट किया गया है ।[11] नासदीय सूक्त में इसे "अप्रकेत सलिल" का अभिधान दिया गया है ।[12] सुनहला अण्डा इसी जलराशि में तैरता हुआ दृष्टिगत हुआ था । इसी अण्डे से सम्पूर्ण सृष्टि हुई ।

---

1. रेजमाने राजमाने दीप्यमाने । ऋग्वेद 10.121.6 पर सायण भाष्य.
2. रेजमाने शोभमाने । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 32.7 पर महीधर भाष्य.
3. रेजमाने कम्पमाने । वही, उव्वट भाष्य.
4. ऋग्वेद 10.121.6 पर ग्रिफिथ, मैक्समूलर और मूर के अनुवाद.
5. ऋग्वेद 6.50.5, 7.21.3, 8.20.5, 5.60.2, 6.66.9, 7.61.10 इत्यादि.
6. मनसा बुद्ध्या अभ्यैक्षेताम् । ऋग्वेद 10.121.6 पर सायण भाष्य.
7. वही, द्रष्टव्य – ग्रिफिथ, मैक्समूलर और मूर के अनुवाद.
8. ऋग्वेद 10.121.7 पर सायण भाष्य.
9. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.25 पर महीधर एवं उव्वट के भाष्य.
10. ऋग्वेद 1.164.42.
11. शतपथब्राह्मण 11.1.6.1.
12. ऋग्वेद 10.129.3.

(21) **गर्भं दधानाः** :– यह आपः का विशेषण है । आचार्य सायण ने इसका अर्थ – सुनहले अण्डे के गर्भभूत प्रजापति को धारण करती हुई, किया है ।[1] महीधर ने हिरण्यगर्भ के लक्षणभूत गर्भ को धारण करती हुई, ऐसा अर्थ किया है ।[2] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – हिरण्यगर्भ के रूप में बीज, ग्रिफिथ ने सार्वभौम बीज (यूनिवर्सल जर्म), पीटर्सन ने बीज (सीड) तथा मूर ने गर्भ, किया है ।[3] इन सभी अर्थों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ या प्रजापति सबका जनक है और उसे जलराशि ने गर्भ के रूप में धारण किया था । इस प्रकार सारी सृष्टि उन जलों में गर्भ के रूप में विद्यमान थी ।

(22) **अग्निं जनयन्तीः** :– यह भी "आपः" का विशेषण है तथा सायण ने इसका अर्थ – अग्नि से उपलक्षित आकाश इत्यादि सभी भूतों को उत्पन्न करती हुई, किया है ।[4] महीधर ने इसका अर्थ अग्निरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करती हुई, किया है ।[5] उव्वट ने अग्नि को हिरण्यगर्भ का वाचक माना है ।[6] अग्नि का अर्थ मैक्समूलर ने प्रकाश (लाइट), ग्रिफिथ ने अग्नि, पीटर्सन तथा मूर ने भी अग्नि (फायर) किया है ।[7] यहाँ जलराशि से सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति बताई गई है । ऋग्वेद में अन्यत्र भी अग्नि को "प्रथमजा" कहा गया है ।[8] अग्नि का "त्रित आप्त्य" नाम उसके तीन प्रकार का होने और आपः से उत्पन्न होने के कारण ही चरितार्थ है । वस्तुतः उस जलराशि में तैरते हुए सुनहरे अण्डे का प्रकाश अग्नि से भी अधिक तेज था, इसीलिए उसे सीधे अग्नि ही कह दिया गया । उस जलराशि ने हिरण्यगर्भ को धारण किया था तथा वह हिरण्यगर्भ ही ऐसा लग रहा था जैसे अग्नि उत्पन्न हो रहा हो ।

---

1. हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिम् दधानाः । ऋग्वेद 10.121.7, सायण भाष्य.
2. हिरण्यगर्भलक्षणं गर्भं दधानाः । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.25, महीधर भाष्य.
3. ऋग्वेद 10.121.7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन और मूर के अनुवाद.
4. अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीः जनयन्त्यः ।

   ऋग्वेद 10.121.7 पर सायण भाष्य.
5. अग्निरूपं हिरण्यगर्भं जनयन्त्यः । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.25, महीधर भाष्य.
6. हिरण्यगर्भवचनो वाग्निशब्दः । वही, उव्वट भाष्य.
7. ऋग्वेद 10.121.7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एवं मूर के अनुवाद.
8. अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य । ऋग्वेद 10.5.7.

(23) ततः :– सायण ने इसका अर्थ 'गर्भभूत प्रजापति से[1]' तथा उव्वटऔर महीधर ने 'संवत्सरपर्यन्त जल में स्थित गर्भ से,' किया है ।[2] पाश्चात्त्य विद्वानों ने इसका अर्थ तब (देन या देन्स) किया है ।[3] उव्वट और महीधर के व्याख्यान शतपथब्राह्मण पर आधारित प्रतीत होते हैं, जिसमें सौवर्ण अण्डे से संवत्सर के उपरान्त पुरुषप्रजापति की उत्पत्ति बताई गई है ।[4] वस्तुतः ततः पद के भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानों के व्याख्यानों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि इसका अर्थ – "तब" किया जाय तो भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि उस विशाल जलराशि में स्थित हिरण्यमय अण्डे से प्रजापति की उत्पत्ति हुई ।

(24) एकः असुः :– सायण ने "असुः" का अर्थ – प्राणात्मक वायु, किया है ।[5] उव्वट और महीधर ने इसका अर्थ – प्राणरूप आत्मा या लिङ्गशरीर रूप हिरण्यगर्भ, किया है ।[6] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – श्वास (ब्रेथ), ग्रिफिथ और मूर ने आत्मा (स्पिरिट) तथा पीटर्सन ने भी आत्मा (सोल) ही किया है ।[7] वस्तुतः प्राण से ही सभी प्राणी जीवन्त होते हैं । प्राणियों में देवता प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित है । इसीलिए हिरण्यगर्भ को देवताओं के प्राणतत्त्व के रूप में उद्भूत बताया गया है । इससे उसका समस्त प्राणियों का "प्राण" होना प्रतिपादित हो जाता है । आर्नाल्ड ने मन्त्रस्थ "एकः" पद को छन्द की दृष्टि से अतिरिक्त मानते हुए इसे "अधिकाक्षर ऋक्" कहा है ।[8]

(25) दक्षम् :– सूक्त के आठवें मन्त्र में स्थित इस पद का अर्थ सायण ने – प्रपञ्च

---

1. ततो गर्भभूतात्प्रजापतेः । ऋग्वेद 10.121.7 सायण भाष्य.
2. ततो गर्भात् संवत्सरोषितात् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.25 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.
3. ऋग्वेद 10.121.7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन और मूर के अनुवाद.
4. शतपथब्राह्मण 11.1.6.1–2.
5. प्राणात्मकः असुः । ऋग्वेद 10.121.7 पर सायण भाष्य.
6. प्राणात्मक एकः । प्राणरूप आत्मा लिङ्गशरीररूपो हिरण्यगर्भः समवर्तत ।
   शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.25 पर उव्वट एवं महीधर भाष्य.
7. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121.7 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, मूर और पीटर्सन के अनुवाद.
8. आर्नाल्ड – वैदिक मीटर, अनुच्छेद 152, पृष्ठ 102.

रूप से वृद्धि की कामना करने वाले प्रजापति को, किया है ।[1] महीधर ने इसका अर्थ – कुशल प्रजापति को, किया है ।[2] मैक्समूलर तथा मूर ने इसका अर्थ शक्ति (पावर), ग्रिफिथ ने उत्पादक शक्ति (प्रोडक्शन फोर्स) तथा पीटर्सन ने शक्ति (स्ट्रेन्थ) किया है ।[3] वस्तुतः दक्ष का अर्थ उत्पादक शक्ति करना अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि उसी दक्ष या गर्भस्थ प्रजापति से समस्त सृष्टि उद्भूत हुई।

(26) **यज्ञं जनयन्तीः** :– सायण ने "यज्ञ" का अर्थ – यज्ञ से उपलक्षित विकारों को माना है ।[4] उव्वट ने इसका अर्थ सृष्टियज्ञ[5] तथा महीधर ने यज्ञकतर्त्री या सृष्टिकर्त्री प्रजा किया है ।[6] मैक्समूलर ने यज्ञ का अर्थ – यज्ञ (सेक्रीफाइस, लाईट), पीटर्सन और मूर ने भौतिक यज्ञ (सेक्रीफाइस) तथा ग्रिफिथ ने पूजन (वर्शिप) किया है ।[7] सृष्टि की उत्पत्ति के बाद यज्ञ का होना स्वभावसिद्ध है। यह सृष्टि स्वयं ही यज्ञ है । कर्म भी यज्ञ ही है । सृष्टि के बाद देव, ऋषि एवं मनुष्य यज्ञ–क्रिया में सन्नद्ध होंगे, अतएव सृष्टि की उत्पादिका होने के साथ ही साथ आपः को भावी यज्ञ की उत्पादिका होना भी बताया गया है । मन्त्र में आया "आपः" पद द्वितीयान्त अपः होना चाहिए । व्यत्यय से प्रथमा विभक्ति हो गई है ।

(27) **सत्यधर्मा** :– सूक्त के नवें मन्त्र में आए इस पद का, सायण ने – "जगत् को धारण करना जिसका सत्य धर्म है", ऐसा अर्थ किया है ।[8] महीधर ने इसका अर्थ – सत्य को धारण करने या कराने वाला, किया है ।[9] मैक्समूलर ने इसका अर्थ सत्ययुक्त (राइटियस), ग्रिफिथ ने – जिसके नियम सुनिश्चित हैं (हूज लॉज आर श्योर), पीटर्सन ने सत्य और विश्वसनीय (ट्रू एन्ड

---

1. दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिम् । ऋग्वेद 10.121.8 पर सायण-भाष्य.
2. दक्षं कुशलं प्रजापतिम् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.26 पर महीधर-भाष्य.
3. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121.8 पर मैक्समूलर, मूर, ग्रिफिथ और पीटर्सन के अनुवाद.
4. यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं उत्पादयन्तीः । ऋग्वेद 10.121.8 पर सायण-भाष्य.
5. यज्ञं सृष्टियज्ञम् । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 27.26 पर उव्वट-भाष्य.
6. यज्ञशब्देन यज्ञकर्त्री प्रजोच्यते । सृष्टिकर्त्रीरित्यर्थः । वही, महीधर-भाष्य.
7. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121.8 पर मैक्समूलर, पीटर्सन, मूर और ग्रिफिथ के अनुवाद.
8. सत्यमवितथधर्मो जगतो धारणं यस्य सः । ऋग्वेद 10.121.9 पर सायण-भाष्य.
9. सत्यं धरतीति सत्यस्य धारयिता प्रजापतिः ।
   शुक्लयजुर्वेदसंहिता 12.102 पर महीधर-भाष्य.

फेथफुल) तथा मूर ने निश्चित नियमों से शासन करने वाला (रूलिङ्ग बाय फिक्स्ड आर्डिनेन्सेज) किया है ।[1] यह विशेषण ऋग्वेद में अग्नि[2] और सवितृ[3] के लिए भी प्रयुक्त किया गया है । धर्म शब्द को बहुत व्यापक अर्थों में लिया जाता है । मूलतः धर्म का तात्पर्य धारण करने या कराने से ही है । लोक में विभिन्न गुणों को भी धर्म कहा जाता है । जैसे – आग का धर्म जलाना है । प्रकृत स्थल पर धर्म का अर्थ – नियम करते हुए सत्यधर्मा का अर्थ – सत्यरूपी नियम वाला या जिसके विधान अथवा नियम सत्यभूत हैं, करना उचित प्रतीत होता है । इसका अर्थ – अपने आचरण या व्यवहार में सत्यभूत भी किया जा सकता है ।

(28) चन्द्रा आपः :– यहाँ "चन्द्राः", "आपः" का विशेषण है । वस्तुतः "आपः" के स्थान पर द्वितीयान्त पद "अपः" होना चाहिए । सायण ने "चन्द्राः" का अर्थ – आह्लादक जल, किया है ।[4] महीधर ने इसका अर्थ – जगत् के कारणभूत जल, किया है ।[5] मैक्समूलर ने इसका अर्थ "चमकीला" और "शक्तिशाली" जल (ब्राइट एन्ड माइटी), ग्रिफिथ ने "महान्" तथा "चिकना" (ग्रेट एन्ड ल्यूसिड), पीटर्सन ने "महान्" और "चमकीला" (ग्रेट एन्ड शाइनिङ्ग) तथा मूर ने "महान्" और "प्रखर" जल (ग्रेट एन्ड ब्रिलिएन्ट) किया है ।[6] शतपथब्राह्मण में मनुष्यों को ही "आह्लादक जल" कहा गया है ।[7] वहीं इसका कारण प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि इस जगत् की रचना में मनुष्य श्रेष्ठ हैं, अतः वे जल के समान ही सृष्टि के अग्रज हैं ।[8] उव्वट के मतानुसार पितृमार्ग का अनुसरण करने वाले मनुष्य यज्ञ के द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं । इसीलिए शतपथब्राह्मण में मनुष्यों को "आपश्चन्द्राः" कहा गया है ।[9] उव्वट का एक अन्य मत यह भी है कि मनुष्य की

---

1. ऋग्वेद 10.121.9 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन और मूर के अनुवाद.
2. ऋग्वेद 1.12.7.
3. ऋग्वेद 10.34.8.
4. चन्द्रा आह्लादिनीरपः उदकानि । ऋग्वेद 10.121.9 पर सायण-भाष्य.
5. चन्द्रा आह्लादिका जगत्कारणभूता अपः । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 12.102 पर महीधर-भाष्य.
6. ऋग्वेद 10.121.9 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा मूर के अनुवाद.
7. मनुष्या वा आपश्चन्द्राः । शतपथब्राह्मण 7.3.1.20.
8. यो मनुष्यान् प्रथमोऽसृजतेत्येतत्.....। वही.
9. मनुष्या एव हि यज्ञेनाप्नुवन्ति चन्द्रलोकं पितृमार्गानुसारिणः । शु.य.सं. 12.102, उव्वट-भाष्य.

रचना जल से होती है, अतएव जो कारण में है, वही कार्य में भी है । लक्षणा से, आपश्चन्द्राः कहने से मनुष्य का बोध हो जाता है ।[1] महीधर ने भी उक्त मन्तव्यों पर उव्वट का ही अनुगमन किया है ।[2] प्रस्तुत सूक्त में अब तक मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य उपादानों को प्रजापति द्वारा उत्पन्न बताया गया है । यहाँ जलों की उत्पत्ति का निर्देश है । यद्यपि भारतीय विद्वान् उव्वट एवं महीधर ने यहाँ मनुष्यों की सृष्टि की बात कही है, तथापि सायण के अनुसार आह्लादकारी या देदीप्यमान जल राशिकी उत्पत्ति को स्वीकारना ही इष्ट प्रतीत होता है । ऐसा करने से "अप एव ससर्जादौ"[3] इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित जलों की सृष्टि की पुष्टि भी होती है ।

(29) **परि बभूव** :– सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आए इस क्रियापद का अर्थ, सायण ने परिगृह्णाति या व्याप्नोति अर्थात् व्यापक या व्याप्त करने वाला, किया है ।[4] उव्वट ने इसका अर्थ चारों तरफ व्याप्त किया है ।[5] महीधर ने यद्यपि "परि" उपसर्ग का अलग से कोई अर्थ नहीं किया है, तथापि उनका अभिप्राय चारों तरफ से व्याप्त करने से ही है ।[6] मैक्समूलर ने इसका अर्थ – आलिड़्गन करने वाला (इम्ब्रेसेज), ग्रिफिथ ने सम्मिलित करने वाला (कम्प्रीहेन्ड्स), पीटर्सन ने शासक (रूल्स ओवर) तथा मूर ने स्वामी (लॉर्ड) किया है ।[7] वस्तुतः इस मन्त्र में प्रजापति के विभुत्व का प्रतिपादन किया गया है । समस्त पदार्थों के चारों ओर वही स्थित रह सकता है, जो सर्वव्यापी होगा। सर्वव्यापी होने से उसका प्रभुत्व भी स्वतः सिद्ध है । अतः इस दृष्टि से पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा किए गए अनुवाद भी सड़्गत हो जाते हैं ।

(30) **रयीणां पतयः** :– सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अन्तिम पद "रयीणाम्" का अर्थ सायण

---

1. वही, उव्वट-भाष्य.
2. वही, महीधर-भाष्य.
3. मनुस्मृति – 1.8.
4. ऋग्वेद 10.121.10 पर सायण-भाष्य.
5. परि समन्ततः बभूव, आत्मरूपत्वेन । शुक्लयजुर्वेदसंहिता 10.20 पर उव्वट-भाष्य.
6. परिबभूव परिभवितुं समर्थो (न) अभूत् । वही, महीधर-भाष्य.
7. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121.10 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एवं मूर के अनुवाद.

ने 'धनों का' किया है ।[1] उव्वट और महीधर ने भी यही अर्थ किया है ।[2] पाश्चात्त्य विद्वानों में मैक्समूलर ने इसका अर्थ – धनों के स्वामी (लार्ड्स ऑफ वेल्थ्स), ग्रिफिथ ने धनिकों पर अधिकार (रिचेज इन पजेशन), पीटर्सन ने अच्छी वस्तुओं के स्वामी (लार्ड्स ऑफ आल गुड थिंग्स) तथा मूर ने धनिकों के स्वामी, किया है ।[3] भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों के उक्त अर्थों के आलोक में "रयीणाम् पतयः" का अर्थ धनों के स्वामी करना ही उचित प्रतीत होता है । इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि वैदिक ऋषि प्रायः यज्ञादि का आयोजन धन, पुत्रादि की प्राप्ति के निमित्त करते थे ।[4] अतः प्रजापति को समर्पित इस सूक्त के अन्त में इष्ट पदार्थ के रूप में धन प्राप्त करने की कामना ही की गई प्रतीत होती है ।

प्रस्तुत मन्त्र का पदपाठ उपलब्ध नहीं होता । अतः पदपाठ के स्थान पर सर्वत्र केवल संहिता पाठ ही लिखा गया है । केगी का मत है कि सम्भवतः पदपाठ की रचना के पश्चात् इसे संहिता में प्रक्षिप्त किया गया है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि "हिरण्यगर्भ" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद या यह कहें कि वैदिक साहित्य में प्रतीकात्मक है । इसका प्रयोग प्राण के लिए भी किया गया है । अनेक ब्राह्मण वचनों से यह प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भ सूर्य का ही एक विकसित रूप है या ऋषियों ने सूर्य के आधार पर ही हिरण्यगर्भ की कल्पना की । आयु, अमृत, देव, ज्योति, तेज और सत्य – ये सभी हिरण्यगर्भ के ही पर्याय माने जाते हैं । जलों से उत्पन्न होने के कारण हिरण्यगर्भ को ही अपांवत्स, अपांवृषभ, अपांनपात्, अपांगर्भ आदि नामों से अभिहित किया जाता है । ऋग्वेद में सृष्टि करने की अवस्था में ब्रह्म "हिरण्यगर्भ" कहा जाता है । प्रजाओं को उत्पन्न करने और पालन करने की क्षमता के कारण उसे प्रजापति कहा जाता है । ऋग्वेद का हिरण्यगर्भ सूक्त यह प्रकट

---

1. रयीणाम् धनानाम् । ऋग्वेद 10.121.10 पर सायण भाष्य.
2. शुक्लयजुर्वेदसंहिता – 10.20 पर उव्वट एवं महीधर के भाष्य.
3. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.121.10 पर मैक्समूलर, ग्रिफिथ, पीटर्सन एवं मूर के अनुवाद.
4. ऋग्वेद – 2.12.15, 10.125.2 इत्यादि.
5. केगी – दऋग्वेद (अंग्रेजी अनुवाद – द ऋग्वेद, अनुवादक – एरोस्मिथ), पृष्ठ 79.

करता है कि किस प्रकार आदिम मानव उस देवता के स्वरूप को जानना चाहता है,जिसके लिए वह हविष्य प्रदान कर रहा है । ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उनका अनुसरण करने वाले भाष्यकारों – सायण, यास्क आदि की दृष्टि से मन्त्रस्थ "क" शब्द प्रजापति का द्योतक है । उन्होंने प्रजापति अथवा "क" को सुखस्वरूप भी माना है । "क" को सम्प्रश्नवाचक सर्वनाम मानने से सूक्त की प्रभावशालिता और अधिक बढ़ जाती है ।

यह सूक्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसमें नाना देवताओं की उपासना से आकुल होकर ऋषि ने हिरण्यगर्भ नामक एकमात्रदेव की अमूर्त रूप से प्रतिष्ठा कर के उसे सबका स्वामी बताया है । इस सूक्त में हमें एकदेववाद या एकेश्वरवाद के चरम दर्शन प्राप्त होते हैं । प्रथम से लेकर नवम मन्त्र तक ऋषि ने उस देवता को कोई अभिधान नहीं दिया है, किन्तु दशम मन्त्र में उसने उसे प्रजापति का नाम देकर अपनी जिज्ञासा का अवसान किया है । यही नहीं अन्तिम मन्त्र में ऋषि ने एकमात्र देव प्रजापति या हिरण्यगर्भ का सर्वत्र विभुत्व भी प्रतिपादित किया है । इस प्रकार पूरे वैदिक, बल्कि विश्व साहित्य में इस सूक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

अध्याय - 7

वाक्-तत्त्व एवं ऋग्वेद का वाक्सूक्त (10.125)

(क) वाक्-तत्त्व

(ख) वाक्सूक्त

(ग) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा

(1) रुद्रेभिः
(2) वसुभिः
(3) आदित्यैः
(4) विश्वदेवैः
(5) चरामि
(6) बिभर्मि
(7) आहनसम्
(8) त्वष्टारम्
(9) सुप्राव्ये
(10) राष्ट्री
(11) सङ्गमनी
(12) चिकितुषी
(13) भूरिस्थात्राम्
(14) भूर्यावेशयन्तीम्
(15) पुरुत्रा
(16) मया सः
(17) अमन्तवः
(18) उपक्षियन्ति
(19) श्रुधि
(20) श्रुत
(21) श्रद्धिवम्
(22) जुष्टम्
(23) उग्रम्
(24) ब्रह्मापम्
(25) ऋषिम्
(26) रुद्राय
(27) ब्रह्मद्विषे
(28) शरवे
(29) समदम्
(30) पितरम्
(31) अस्य मूर्धन्
(32) योनिः
(33) अप्सु अन्तः समुद्रे
(34) अनुवितिष्ठे
(35) वर्ष्मणा
(36) सुवे
(37) आरभमाणा
(38) प्रवामि
(39) परो दिवा पर एना पृथिव्या

(क) वाक्-तत्त्व :-

जगत् का सारा व्यवहार वाक् के अधीन है । ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् को ब्रह्म कहा गया है ।[1] उपनिषद् में भी वाक् को ब्रह्म माना गया है।[2] ऋग्वेद में ब्रह्मा को वाक् का परम स्थान बताया गया है।[3] इसके अतिरिक्त उसे "ऋत" से भी सम्बद्ध किया गया है।[4] वाक् का स्वरूप हमें ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में उपलब्ध होता है, जिसमें उसे एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी और सहस्राक्षरा कहा गया है।[5] सायण ने गौरी का अर्थ "माध्यमिका वाक्" या "शब्दब्रह्मात्मिका वाक्" किया है।[6] आत्मानन्द ने गौर को शुद्ध ब्रह्म और तत्परा श्रुति को गौरी माना है।[7] डॉ.अग्रवाल ने प्रजापति की विश्व-रचना के लिए उत्पन्न नई शक्ति को वाक् माना है।[8] वस्तुतः वाक् और शब्द दोनों पर्याय हैं । शब्द आकाश का गुण है । पृथ्वी भूतों में स्थूलतम और आकाश सूक्ष्मतम है । अतः पृथ्वी से लेकर आकाश तक के पञ्चभूतों का प्रतीक केवल शब्द या वाक् को ही माना जा सकता है । आकाश का गुण शब्द न केवल आकाश में ही, अपितु पञ्चभूतों में भी व्याप्त है, जबकि गन्ध आदि तन्मात्राएं मात्र अपने-अपने भूतों तक ही सीमित हैं । इस दृष्टि से वाक् पञ्चभूतों की सञ्ज्ञा है, अर्थात् विश्वरचना में प्रयुक्त प्रकृति ही वाक् है । सन्दर्भित मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वाक् की अग्निमयी या प्राणात्मक शक्ति अपने स्पन्दन से सलिल रूपी आदिकारण का तक्षण करती हुई भिन्न-भिन्न रूपों का निर्माण करती है । समष्टि का व्यष्टि भाव में आना ही सृष्टि है, चाहे वह व्यष्टि अणु हो या महत् । वह गौरी वाक् अपनी जिस शक्ति से पृथक्-पृथक् रूपों का निर्माण करती है, उसकी सञ्ज्ञा अक्षर है । जब हम वाक् की कल्पना गौरी या गौ के रूप में करते हैं, तो उसके पदों का भी प्रसङ्ग उपस्थित होता है । पद अक्षर या अक्षरों का समूह है । अक्षर अविनश्वर है । यह

---

1. वाग्घि ब्रह्म - ऐतरेय ब्राह्मण 2.15.
2. वाग् वै ब्रह्म - बृहदारण्यकोपनिषद् - 4.1.2.
3. ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम । ऋग्वेद 1.164.35.
4. वही - 1.164.37 तथा इस पर सायण एवं आत्मानन्द-भाष्य.
5. गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
   अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।। ऋग्वेद 1.164.41.
6. वही - सायण-भाष्य.
7. गौरं शुद्धं ब्रह्म । तत्परा श्रुतिः गौरीः । वही, आत्मानन्द-भाष्य.
8. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण - वेदरश्मि, पृष्ठ 51.

अव्यक्त तत्त्व है, किन्तु भूतों के माध्यम से व्यक्त बनता है । सामान्यतः वाक् के दो रूप होते हैं – एक वाक् तो पृथक–पृथक् अक्षरों के रूप में मनुष्य के कण्ठ से बोली जाती है । यह एक अक्षर, दो अक्षर, चार अक्षर, आठ अक्षर, नव अक्षर के रूप में वाक् का मूर्त्त रूप है । इस प्रकार की वाक् या शब्द "मर्त्या वाक्" है, क्योंकि वह उत्पन्न होने के बाद विलीन हो जाती है । मर्त्या वाक् का स्रोत मर्त्य आकाश या तक्षण द्वारा खण्ड-भाव में आया हुआ आकाश है, किन्तु दूसरे प्रकार की वह वाक् है, जो अक्षर के रूप में मूर्त्त नहीं होती । उसी वाक् के लिए ऋषि ने ऊपर सन्दर्भित मन्त्र में सहस्राक्षरा पद का प्रयोग किया है । सहस्र का अर्थ अनन्त है, जहाँ एक, दो, तीन आदि गिनतियों की अलग सत्ता नहीं होती । इस प्रकार की सहस्राक्षरा वाक् का अधिष्ठान या स्रोत परम व्योम या परमाकाश है । अक्षर ही वाक् का पद या चरण है, जिससे उसे शब्द और वाक्यों के मूर्त्त रूपों का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त होती है । शतपथब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक अक्षर एक–एक रूप का प्रतीक है ।[1] सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक असंख्य अक्षरों का व्यवहार या जन्म हुआ है और होता रहेगा । वे अक्षर भी मर्त्यभाव में अनन्त हैं । इतने असंख्य अक्षरों या रूपों के निर्माण के जो मूलभूत नियम हैं, उन्हीं का मन्त्र में एकपदी, द्विपदी आदि विशेषणों के द्वारा उल्लेख किया गया है ।

एकपदी वाक् वह है, जिसमें गति रूप अक्षरों का भेद उत्पन्न नहीं हुआ हो । एकपदी को तो सहस्राक्षरा वाक् ही कहा जा सकता है, किन्तु यह उसका अमूर्त्त और अनिरुक्त पक्ष कहा जाएगा । उसी का मूर्त्त और निरुक्त पक्ष एक सत्ता वाला विश्व है । यह सारा जगत् मानों उस गौरी वाक् का एक चरण है, इसी के रूप में वह एकपदी बनी हुई है । इस विश्व में जो गति है, वही गौरी वाक् का चरणात्मक भाव है । परमेष्ठी प्रजापति की परमेष्ठिनी वाक् की जो सञ्ज्ञा आम्भृणी वाक् है, वही गौरी है । वह द्युलोक तथा पृथिवी दोनों से परे रहती हुई अपनी ही महिमा से एतत्परिमाणात्मक हो गई ।[2] आचार्य सायण ने एक ही अधिष्ठान–मेघ में वर्तमान वाक् को एकपदी माना है या उनके मतानुसार गमन के साधनभूत वायु के द्वारा वह वाक् एकपदी है । उन्होंने एक अन्य मत प्रस्तुत करते हुए प्रणवस्वरुपा वाक् को एकपदी बताया है ।[3]

---

1. त्वष्ट्राणि वै रूपाणि । शतपथब्राह्मण – 2.2.3.4.
2. परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव । ऋग्वेद 10.125.8.
3. एकपादोपेता एकाधिष्ठाना मेघे वर्तमाना गमनसाधनेन वायुना एकपदी वा । एकरूपा वा प्रणवात्मना । ऋग्वेद 1.164.41 सायण भाष्य.

द्विपदी वाक् के रूप में द्यावापृथिवी को लिया जा सकता है । वाक् ने द्युलोक और पृथिवी लोक में प्रवेश करने की बात स्वयं कही है ।[1] सायण ने मेघ और अन्तरिक्ष रूपी दो अधिष्ठानों वाली वाक् को द्विपदी वाक् कहा है । उन्होंने वैकल्पिक रूप से आदित्य को वाक् का दूसरा पद भी माना है । एक अन्य मत उपस्थापित करते हुए उन्होंने सुप् तथा तिङ्, इन दो पादों से युक्त वाक् को द्विपदी कहा है ।[2]

शतपथब्राह्मण में वाक् को त्रयीमयी धेनु कहा गया है, जिसके चार स्तन हैं । एक स्तन की सञ्ज्ञा वषट्, दूसरे की स्वाहा, तीसरे की स्वधा और चौथे की हन्त है ।[3] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार ऋषि वषट् स्वरूप स्तन का पान करते हैं, देवगण स्वाहास्वरूप स्तन का पान करते हैं, पितर स्वधाकार स्तन से तृप्त होते हैं और मनुष्य हन्तकार स्वरूप स्तन का दुग्धपान करके पोषित होते हैं ।[4] उक्त चारों प्रकार के स्तन शब्दस्वरूप ही हैं, अतः इन्हें चार-पाद मानकर चतुष्पदी वाक् की कल्पना की जा सकती है । सायण ने चार दिशाओं के अधिष्ठान वाली वाक् को चतुष्पदी वाक् माना है । उन्होंने अन्य मतानुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को चार पाद मानते हुए चतुष्पदी वाक् को उपपन्न किया है ।[5]

ऋग्वेद में अग्नि को ऋत का प्रथमजा कहा गया है ।[6] अथर्ववेद ऋत के आठ प्रथमज तत्त्वों की ओर सङ्केत करता है । ये ही आठ वसु हैं, जो मनस्, प्राण,अपान, और पञ्चभूतों के रूप में परिगणित किये जाते हैं ।[7] शतपथब्राह्मण में इन्हें ही अग्नि के आठ रूपों में माना गया है ।[8]

---

1. अहं द्यावापृथिवी आ विवेश । ऋग्वेद 10.125.6.
2. मेघान्तरिक्षाख्यद्वयधिष्ठाना । आदित्यो वा द्वितीयः । द्विपदी सुप्तिङ्भेदेनपादद्वयवती । ऋग्वेद 1.164.41 सायण-भाष्य.
3. द्रष्टव्य, शतपथब्राह्मण – 14.8.9.1.
4. द्रष्टव्य, मार्कण्डेय पुराण – 29.10.11.
5. चतुष्पदी पादचतुष्टयोपेता दिक्चतुष्टयाधिष्ठाना । चतुष्पदी नामाख्यातोपसर्गनिपात भेदेन । ऋग्वेद 1.164.41 सायण भाष्य.
6. अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य । ऋग्वेद 10.5.7.
7. अथर्ववेद – 8.9.21.
8. तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवमः । शतपथब्राह्मण 6.1.3.18.

आगे चलकर पौराणिक साहित्य में ये ही शिव की अष्टमूर्त्तियों के रूप में प्रतिपादित हैं ।[1] इन आठ वसुओं के रूप में वाक् को अष्टापदी माना जा सकता है । सायण ने चार दिशाओं के साथ चार विदिशाओं को संयुक्त कर के वाक् को अष्टपदी माना है । उन्होंने अन्य मत उद्धृत करते हुए सम्बोधनसहित आठ विभक्तियों को अष्टपदी वाक् के रूप में चित्रित किया है ।[2]

नवपदी वाक् का आश्रय नव संख्या है । यह अङ्कों में सबसे बड़ी संख्या है, क्योंकि इसके बाद पुनः एक और शून्य से आरम्भ किया जाता है । नवपदी वाक् को बृहती छन्द के रूप में भी उपनन्न किया जा सकता है, क्योंकि इसके चार पाद और प्रत्येक पाद में नव अक्षर होते हैं ।[3] इन्हीं नव अक्षरों को वाक् के नव पद माना जा सकता है । सायण ने आठ दिशा-विदिशाओं के अतिरिक्त 'ऊपर' को भी एक दिशा मानकर अथवा सूर्य को संयुक्त करके नव अधिष्ठानों वाली वाक् को नवपदी कहा है । अन्य मत के अनुसार उन्होंने अव्यय को आठ विभक्तियों के साथ संयुक्त करके वाक् को नवपदी माना है ।[4]

सहस्राक्षरा वाक् का सम्बन्ध उस परा वाक् से है, जो परम व्योम या परमाकाश में स्थित है । सहस्र का अर्थ अनन्त है । इस वाक् के अनन्त अक्षर या चरण हैं, जो अव्यक्त या अमूर्त्त हैं । जो भौतिक मर्त्यावाक् के रूप में परिणत नहीं हुई, वह सहस्राक्षरा वाक् है । अक्षर उच्चरित न्यूनतम इकाई है, जिसका क्षरण या नाश नहीं होता । परम व्योम या परमाकाश से अक्षर का आविर्भाव होता है और फिर तिरोभाव या अदर्शन हो जाता है । सहस्राक्षरा का सङ्केत उस वाक् से है, जो पारमेष्ठ्य समुद्र में गौरी रूप में भरी हुई परमेष्ठिनी या आम्भृणी वाक् है । अमृता या सहस्राक्षरा वाक् को अर्थ कहा जा सकता है और मर्त्या वाक् को शब्द । अर्थ के रूप में वाक् नित्य है और शब्द

---

1. द्रष्टव्य, लिङ्ग पुराण - 2.12.42-43.
2. अष्टापदी विदिगपेक्षया अष्टपादोपेता अष्टाधिष्ठाना । आमन्त्रितसहिताष्टविभक्तिभेदेन अष्टपदी । ऋग्वेद 1.164.41 सायण भाष्य.
3. षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती । शतपथब्राह्मण 8.3.3.8 तथा ऐतरेय ब्राह्मण 2.24.
4. नवपदी उपरिदिगपेक्षया सूर्येण वा नवदिगधिष्ठाना । साव्ययैरुक्तैरष्टभिर्नवपदी । ऋग्वेद 1.164.41 पर सायण भाष्य.

के रूप में अनित्य है । अर्थ अपरिमित है, शब्द परिमित । अर्थ अनिरुक्त और अमूर्त्त है, शब्द निरुक्त और मूर्त्त । सहस्राक्षरा की तुलना सहस्रशीर्षा या सहस्रपात् पुरुष से की जा सकती है, जो विराट् को जन्म देता है । वाक् और ब्रह्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सायण ने भी सहस्राक्षरा का अर्थ अपरिमित किया है । अन्य मत के अनुसार उन्होंने अनेक आकारों में व्याप्त तथा अनेक ध्वनि के प्रकारों वाली वाक् को सहस्राक्षरा माना है ।[1]

वाक् के उक्त आध्यात्मिक स्वरूप के अतिरिक्त ऋग्वेद में ही इसके चार भेदों को बताया गया है । इन चारों भेदों को मनीषी वेदज्ञ जानते हैं । इनमें से तीन गुहा में निहित हैं तथा चौथी वाक् का व्यवहार मनुष्य करते हैं ।[2] वाक् के ये चार भेद कौन-कौन से हैं ? इसके विषय में सायण ने अनेक प्रकार से व्याख्यान किए हैं । उनके व्याख्यान का प्रथम आधार वेदवादी है, जो प्रणव सहित भूः भुवः तथा स्वः इन तीन व्याहृतियों में वाक् को परिमित मानते हैं ।[3] वैयाकरणों के मतानुसार वाक् के चार भेद – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं ।[4] याज्ञिकों के अनुसार मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और लौकिकी वाक् – ये चार भेद माने गए हैं ।[5] नैरुक्तों के अनुसार वाक्, ऋक्, यजुः, साम तथा व्यावहारिकी वाक् के रूप में परिमित है ।[6] ऐतिहासिकों के अनुसार वाक् के चार भेद हैं – सर्पों की वाक्, पक्षियों की वाक्, क्षुद्रसरीसृप की वाक् तथा व्यावहारिकी वाक् ।[7] आत्मवादियों के अनुसार पशु, तूणव, मृग तथा आत्मा के रूप में वाक् के चार भेद हैं ।[8] अन्य मान्त्रिक

---

1. अपरिमित वचनोऽयम् । सहस्राक्षरा अनेकाकारेण व्याप्ता अनेकध्वनिप्रकारा भवतीत्यर्थः ।
   ऋग्वेद 1.164.41, सायण भाष्य.
2. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
   गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । ऋग्वेद 1.164.45.
3. वही, सायण-भाष्य.
4. वही, सायण-भाष्य.
5. वही, सायण-भाष्य.
6. वही, सायण-भाष्य.
7. वही, सायण-भाष्य.
8. वही, सायण-भाष्य.

प्रकारान्तर से इसे परा पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के रूप में स्वीकार करते हैं ।[1] वाणी का यह भेद नागेश प्रभृति आधुनिक वैयाकरणों को इष्ट है ।[2] उनके अनुसार मूलाधार में स्थित पवन से संस्कृत तथा वहीं रहने वाली शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी वाक् को परावाक् कहते हैं । नाभि तक आये हुए उसी वायु से अभिव्यक्त तथा मनस् तक आने वाली वाक् को पश्यन्ती वाक् कहते हैं । वहाँ से हृदय तक आने वाले उसी वायु से अभिव्यक्त तत्तद् अर्थों के वाचक शब्दस्फोट के रूप में स्थित, किन्तु कानों से न सुनाई देने के कारण सूक्ष्म और जप इत्यादि क्रियाओं में बुद्धि के द्वारा गृहीत वाक् को मध्यमा वाक् कहते हैं । वहाँ से मुख तक आने वाले उसी वायु से ऊपर उठने वाली तथा मूर्धा पर प्रहार करके वापस जाकर पुनः तत्तद् उच्चारण स्थानों के द्वारा अभिव्यक्त और दूसरों के श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य वाक् को वैखरी कहते हैं ।[3] वैसे व्याकरण दर्शन के मुख्य उद्भावक आचार्य भर्तृहरि ने पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में वाक् के मात्र तीन भेद स्वीकार किये हैं ।[4] इन्होंने परा का अन्तर्भाव पश्यन्ती में ही कर दिया है । इस प्रकार वाक् के चार भेद उपपन्न होते हैं । इन चार रूपों में व्याकृत होने का कारण स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीय संहिता में बताया गया है कि वाक् ने स्वयं व्याकृत होने की इच्छा प्रकट की । अतः देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र ने उसे व्याकृत कर दिया ।[5]

महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार वाक् की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा हुई है ।[6] सरस्वती रहस्योपनिषद् में कहा गया है कि सरस्वती देवी अन्तर्दृग् वाले जीवों के समक्ष विभिन्न रूपों में प्रकट

---

1. वही, सायण भाष्य.
2. नागेश परमलघुमञ्जूषा, पृष्ठ 23.
3. परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
   हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।। वही, पृष्ठ 23.
4. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
   अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ।। भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, 1.144.
5. वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् – "इमां नो वाचं व्याकुरु इति"
   तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्प व्याकरोत् । तैत्तिरीय संहिता 6.4.7.
6. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । महाभारत, शान्तिपर्व 232.24.

होती है ।[1] देवीभागवत में देवी ने स्वयं कहा है कि प्रकृति आदि समस्त कारणों का भी कारण यह ब्रह्म मेरा ही रूप है ।[2] ऋग्वेद में ही कहा गया है कि यह ब्रह्म जहाँ तक स्थित है, वहाँ तक वाणी भी प्रसृत है ।[3] अथर्ववेद में वाक् को विराट् कहा गया है ।[4] शतपथब्राह्मण भी इसका समर्थन करता है ।[5] ज्ञातव्य है कि वाक् का आधुनिक प्रचलित नाम सरस्वती, ऋग्वेद में भी प्रयुक्त है ।[6] शतपथब्राह्मण में अन्धकार को दूर भगाने वाले अत्रि नामक पुरोहित को वाक् का पुत्र कहा गया है ।[7] इसी ब्राह्मण में अन्य स्थल पर वाक् अत्रि के साथ समीकृत है ।[8] इसके अतिरिक्त शतपथ एवं ऐतरेय ब्राह्मण में वाक् को सरस्वती से अभिन्न भी बताया गया है ।[9] गन्धर्वों के मध्य निवास करने वाले सोम को लाने वाली देवी वाक् ही है ।[10] निघण्टु के अनुसार यह अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में परिगणित है ।[11]

(ख) वाक्-सूक्त :-

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ पचीसवां सूक्त "वाक् सूक्त" के नाम से जाना जाता है । इस सूक्त की ऋषिका अम्भृण ऋषि की पुत्री "वाक्" है । अतः उसे "वागाम्भृणी" कहते हैं । इसका देवता परमात्मा है । द्वितीय मन्त्र जगती एवं इसके शेष सात मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध

---

1. या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानाऽनुभूयते । सरस्वतीरहस्योपनिषद् – मन्त्र 22.
2. देवी भागवत – 12.8.62–66.
3. यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् । ऋग्वेद 10.114.8.
4. विराड् वाक् । अथर्ववेद 9.15.24.
5. यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् । शतपथब्राह्मण 3.5.1.34.
6. सरस्वति तमिह धातवे कः ।
7. शतपथब्राह्मण 1.4.5.13.
8. वही, 14.5.2.5.
9. वही, 3.9.1.7 तथा ऐतरेय ब्राह्मण 3.1.10.
10. ऐतरेयब्राह्मण 1.27, तैत्तिरीय संहिता 6.1.6.5 तथा मैत्रायणी संहिता 6.1.6.5.
11. निघण्टु 5.5.

है ।[1] शाक्तमत में यही सूक्त "देवीसूक्त" के नाम से विख्यात है ।[2] इस सूक्त में परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई वाक्, सर्वत्र विश्व के अणु–परमाणु में अपने को अनुस्यूत देखती है और उसका वर्णन अत्यन्त उदात्त शब्दों में करती है । विल्सन के मतानुसार इस सूक्त के देवता के रूप में "वाक्" को भी माना जा सकता है । उन्होंने विकल्प के रूप में "परमात्मा" को भी देवता माना है ।[3] ग्रिफिथ ने सूक्त की भूमिका में लिखा है कि वाक्, शब्द का ही मूर्त्त रूप है । यह शब्द प्रथम सृष्टि है तथा आत्मा को द्योतित करता है इसके अतिरिक्त शब्द ही मनुष्यों तथा देवताओं के मध्य संवाद का माध्यम है ।[4]

(ग) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा :–

प्रस्तुत सूक्त के सम्यक् अवबोध के लिए इसमें स्थित विभिन्न व्याख्येय पदों का समीक्षात्मक अध्ययन अपेक्षित है । इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्दों पर विचार किया जा सकता है ।

(1) रुद्रेभिः :– आचार्य सायण ने ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में आए रुद्र शब्द को छः प्रकार से उपपन्न किया है ।[5]

(अ) जो सभी को अन्त समय में रुलाए उसे रुद्र कहते हैं ।

---

1. प्रस्तुत सूक्त के सभी मन्त्र तथा उनके हिन्दी-अनुवाद परिशिष्ट "क" में दिये गए हैं ।
2. त्रिपाठी, विश्वम्भरनाथ – वेदचयनम् (परिशेष 1), पृष्ठ 32.
3. The deity may be considered either as VACH, personified speech, said to be the daughter of Rishi Ambhrina, or as Paramatma.
   विल्सन – ऋग्वेद-संहिता, 6, पृष्ठ 427.
4. Vak is speech personified, the word, the first creation and representative of Spirit and the means of communication between men and Gods.
   ग्रिफिथ – द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 631.
5. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.114.1 पर सायण भाष्य.

(ब) रुत्, संसार नाम का एक दुःख है, जो उसे दूर कर दे या नष्टकर दे वह रुद्र है ।

(स) शब्दरूपी उपनिषदें रुत् हैं, जो उन उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित किया जाय, वह रुद्र है ।

(द) शब्दात्मिका वाणी या उससे प्रतिपाद्य आत्मविद्या को रुत् कहते हैं, जो इस रुत् को उपासकों के लिए प्रदान करे वह रुद्र है ।

(च) आवरण करने वाले अन्धकारादि रुत् हैं, जो इन्हें विदीर्ण करे, वह रुद्र है ।

(छ) देवासुर-सङ्ग्राम के समय रुद्र देवताओं के द्वारा रखे हुए धन को चुराकर भाग गया । असुरों को पराजित करने के बाद देवताओं ने इसे ढूँढकर धन छीन लिया । तब यह रोने लगा। इसीलिए रुद्र कहा जाता है ।

तैत्तिरीय संहिता में भी रोने के कारण ही रुद्र का रुद्रत्व प्रतिपादित किया गया है ।[1] शतपथब्राह्मण में भी रुद्र के रुद्रत्व का यही कारण बताया गया है ।[2] इन सभी व्याख्याओं के आलोक में रुद्र के अनेक स्वरूप हमारे सम्मुख आते हैं । एक तरफ वह लोगों का सहायक है, तो दूसरी तरफ रोने या रुलाने वाला । परवर्ती साहित्य में रुद्र, उग्र देव के रूप में ही जाना जाता है । ऋग्वेद में इसका स्थान गौण है । यह केवल तीन सूक्तों में स्तुत है ।[3] कीथ ने विभिन्न विद्वानों के अनुसार रुद्र के पृथक्–पृथक् स्वरूपों को स्पष्ट किया है ।[4] सायण ने प्रस्तुत मन्त्र में इस पद का अर्थ "ग्यारह रुद्रों के साथ" किया है ।[5]

---

1. सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् । तैत्तिरीय संहिता - 1.5.1.1.
2. यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः । शतपथब्राह्मण - 6.1.3.8.
3. ऋग्वेद 1.114, 2.33 तथा 7.46.
4. द्रष्टव्य - कीथ - रिलीजन ऐन्ड फिलासफी ऑफ वेद, पृष्ठ 146–147.
5. द्रष्टव्य - ऋग्वेद 10.125.1 सायण भाष्य.

(2) **वसुभिः** :– सायण इसका अर्थ – "वसुओं के साथ करते" हैं ।[1] अन्य विद्वानों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है । वसुओं की संख्या आठ बताई गई है – आपः, ध्रुव, सोम, धर या धव, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास । कभी–कभी आपः के स्थान पर "अह" को गिनते हैं ।[2]

(3) **आदित्यैः** :– इसका अर्थ – "आदित्यों के साथ" है । आदित्यों की संख्या बारह बताई गई है । ऋग्वेद में एक स्थल पर मात्र छः आदित्यों को परिगणित किया गया है ।[3] वरुण और मार्तण्ड को इसमें जोड़ देने से इनकी संख्या आठ हो जाती है । ऋग्वेद में ही अन्यत्र अदिति के आठ पुत्रों की चर्चा की गई है ।[4] जो भी वस्तुस्थिति हो, परम्परा में आदित्यों की संख्या बारह ही स्वीकार की गई है ।

(4) **विश्वदेवैः** :– ऋग्वेद में विश्वेदेवाः की संख्या तैंतीस बताई गई है ।[5] इनके नाम को लेकर ऋचाओं में हमें पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है । पृथक्–पृथक् ऋचाओं ने पृथक–पृथक् नामों सहित इनका परिगणन किया है ।[6] पीटर्सन ने इस पद का अर्थ – "सभी देवों के साथ" किया है।[7] वस्तुतः मन्त्र में प्रतिपादित वाक् के स्वरूप को देखते हुए विश्वेदेवाः की संख्या न गिरकर इस पद का अर्थ "सभी देवों के साथ करना ही उचित प्रतीत होता है ।

(5) **चरामि** :– प्रस्तुत पद द्वारा यह प्रतीत होता है कि वाक् एक प्रधान देवी है तथा रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेव, सभी उसके अनुचर या अङ्गरक्षक हैं । इसका एक दूसरा भाव यह

---

1. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.125.1 सायण भाष्य.
2. धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
   प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टावितिस्मृताः ।।
   आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 909.
3. ऋग्वेद – 2.27.1.
4. वही – 10.72.8.
5. वही – 8.35.3.
6. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1.14.3, 10.65.1, 8.28.2.
7. पीटर्सन – हिम्स फ्राम द ऋग्वेद, वाक्सूक्त.

भी लिया जा सकता है कि वाक् उक्त देवरूपों में विद्यमान होकर सम्पूर्ण जगत् में विचरण करती है अथवा दृष्टिगोचर होती है । मित्रावरुण, इन्द्राग्नी तथा दोनों अश्विनी कुमार भी उसी के अङ्.ग हैं ।

‖6‖ **बिभर्मि** :– धारण करती हूँ । सायण ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है – मेरे में सारा जगत् शुक्ति में रजत के समान अध्यस्त होकर दिखाई देता है । माया जगत् के रूप में उद्भासित होती है ।[1] इस मन्त्र में यह बताया गया है कि वाक् ही ब्रह्म के रूप में सबकी धारयित्री है ।

‖7‖ **आहनसम्** :– आचार्य सायण ने द्वितीय मन्त्र में स्थित इस पद के तीन अर्थ किए हैं ।[2]

‖अ‖ आहन्तव्य अर्थात् मारने योग्य या आघात पहुँचाने योग्य,

‖ब‖ अभिषोतव्य अर्थात् रस निचोड़ने योग्य,

‖स‖ शत्रुओं का सामने से वध करने वाला ।

सायण ने ही अन्य स्थलों पर इसके आहन्ता, सेचक, निचोड़े जाते हुए, स्तुति किये गए, शब्दकारी, नियन्ता – दण्डधारक, वध करने वाला, दु:ख देने वाला इत्यादि अर्थ किये हैं ।[3] वेङ्.कट के अनुसार इसका अर्थ – पत्थरों से प्रहार करने वाला अथवा शत्रुओं को मारने वाला है ।[4] यास्क ने एक स्थल पर इसका अर्थ वञ्चनयुक्त अर्थात् वञ्चक[5] तथा अन्य स्थल पर उन्मादक किया है ।[6] राजवाड़े के मतानुसार आहनस् का अर्थ – सुखदायी, प्रिय, रुचिकर एवं आहन: का – प्रिय बहन, है।[7] वस्तुत: प्रस्तुत पद सोम के विशेषण के रूप में आया है । सोम एक लता है, जिसका रस यज्ञ

---

1. मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते । ऋग्वेद 10.125.1 सायण-भाष्य.
2. आहनसमाहन्तव्यमभिषोतव्यं यद्वा शत्रूणामाहन्तारम् । ऋग्वेद 10.125.2 सायण-भाष्य.
3. द्रष्टव्य, ऋग्वेद 2.13.1, 4.42.13, 9.75.5, 10.10.6–8 तथा इन पर सायणभाष्य.
4. सोम: आहना: भवति ग्रावभिराहन्यते यद्वा शत्रूनाहन्ति । ऋ.10.125.2, वेङ्.कट माधवभाष्य.
5. यास्क, निरुक्त 4.15.
6. वही, 5.2.
7. राजवाड़े – निरुक्त का मराठी भाषान्तर, पृष्ठ 272.

के समय निचोड़ा जाता है । मन्त्र में सोम पद का प्रयोग तदधिष्ठात्री देवता के लिए किया गया है । इसका विशेषणभूत "आहनस" शब्द "हन्" धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ हिंसा करना या मारना है। अतः विभिनन वैदिक प्रयोगों को दृष्टि में रखते हुए उक्त पद का अर्थ उत्तेजना लाने वाला किया जा सकता है ।

(8) **त्वष्टारम्** :– त्वष्टा देवताओं का शिल्पी है । वह उनके लिए शस्त्रों का निर्माण करता है । यद्यपि उसके अन्य शारीरिक अङ्गों का वर्णन नहीं उपलब्ध होता, तथापि हाथों अथवा भुजाओं का, जिनके द्वारा वह शस्त्र–निर्माण करता है, प्रायः वर्णन किया गया है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में उसे इन्द्र के वज्र का निर्माण करने का श्रेय प्रदान किया गया है ।[1] कुछ अन्य मन्त्रों में भी इसी प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं ।[2] वह अनेक रूपों का निष्पादक है ।[3] ऋग्वेद में ही उसे गर्भ में दम्पती का निर्माता भी कहा गया है ।[4] वह मनुष्यों, पशुओं के गर्भस्थ बीज को विकसित करता है।[5] मैकडानेल के अनुसार त्वष्टा के विरुद प्रायः उसके गुणों को प्रकट करते हैं, व्यक्तित्व को नहीं ।[6] इस प्रकार ऋग्वेद में त्वष्टा एक कुशल कलाकार के रूप में चित्रित है ।

(9) **सुप्राव्ये** :– यह पद सु + प्र + अव् + ई द्वारा निष्पन्न सुप्रावी शब्द की चतुर्थी एकवचन का रूप है । सायण ने इस पद का अर्थ – शोभन हवि से देवों को तृप्त करने वाले के लिए, किया है ।[7] अन्य स्थलों पर भी आए इसका अर्थ उन्होंने यही किया है ।[8] वेङ्कटमाधव ने इस

---

1. त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् । ऋग्वेद 1.85.9.
2. त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋग्वेद 1.32.2 तथा द्रष्टव्य 5.31.4, 6.17.10 इत्यादि.
3. ऋग्वेद 3.5.19.
4. ऋग्वेद10.10.5.
5. ऋग्वेद 1.188.9.
6. मैकडानेल – वैदिक माइथॉलाजी, पृष्ठ 166.
7. शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे । ऋग्वेद 10.125.2 पर सायण-भाष्य.
8. ऋग्वेद 1.83.1, 2.26.1, 4.25.5–6 तथा इनका सायण-भाष्य.

पद का अर्थ – "भलीभाँति रक्षा करने वाले के लिए" किया है ।[1] पीटर्सन ने इसका अर्थ पवित्र तथा ग्रिफिथ ने उत्साही किया है ।[2] ह्विटने ने इसका अर्थ अत्यधिक उत्साही किया है ।[3] इस शब्द में वर्तमान "अव्" धातु रक्षा या सहायता करने के अर्थ में होती है, अतः मूल धातु तथा अन्य व्याख्याओं के आलोक में इसका अर्थ भलीभाँति रक्षा या सहायता के योग्य करना ही समीचीन प्रतीत होता है । इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यातव्य है कि यज्ञकर्त्ता, देवताओं द्वारा रक्ष्य होता है ।

(10) **राष्ट्री** :– तृतीय मन्त्र में स्थित इस पद को सायण ने ईश्वर का नाम मानते हुए इसका अर्थ – सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी, किया है ।[4] निघण्टु में यह ईश्वर के नामों में पठित है ।[5] वेङ्कट माधव इसका अर्थ "ईशित्री" करते हैं ।[6] विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन, ह्विटने आदि पाश्चात्त्य विद्वान् इसका अनुवाद रानी (क्वीन) करते हैं ।[7] विचार करने पर यह पद राजन् शब्द के स्त्रीलिङ्ग रूप के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है । अतः इसका अर्थ "रानी" किया जा सकता है । यह रानी, राजा की पत्नी न होकर स्वयं शासन करने वाली है अतः इसे शासिका भी कह सकते हैं ।

(11) **सङ्गमनी** :– सायण ने इस पद का अर्थ – "उपासकों के पास पहुँचाने वाली" किया है[8] तथा वेङ्कट माधव भी यही अर्थ स्वीकार करते हैं ।[9] विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन आदि विद्वानों ने इसका अर्थ – एकत्र या सङ्ग्रह करने वाली माना है ।[10] वसूनां, पद के साथ इसे संयुक्त

---

1. सुष्ठु प्ररक्षति इति सुप्रावीः । ऋग्वेद 10.125.2 पर वेङ्कट माधव-भाष्य.
2. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.125.2 पर पीटर्सन एवं ग्रिफिथ के अनुवाद.
3. Very Zealous. ह्विटने, नोट्स टू कोलेब्रूक्स – एसे ऑन द वेदाज, पृष्ठ 113
4. सर्वस्य जगत ईश्वरी । ऋग्वेद 10.125.3 पर सायण भाष्य.
5. निघण्टु – 2.22.1.
6. ऋग्वेद 10.125.3 पर वेङ्कट माधव का भाष्य.
7. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.125.3 पर विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन, ह्विटने के अनुवाद.
8. सङ्गमयित्र्युपासकानां प्रापयित्री । वही, सायण-भाष्य.
9. वही, वेङ्कट माधव का भाष्य.
10. द्रष्टव्य, वही, विल्सन, ग्रिफिथ तथा पीटर्सन के अनुवाद.

करने से इसका अर्थ – "एकत्र करने वाली" करना ही उचित प्रतीत होता है ।

⁅12⁆ **चिकितुषी** :– सायण ने इसका अर्थ – परब्रह्म को जानने वाली, किया है ।[1] ग्रिफिथ ने विचारवती और पीटर्सन ने इसका अनुवाद जानने वाली किया है ।[2] वस्तुतः इस पद को "यज्ञियानां प्रथमा" के साथ अन्वित कर के पूज्यों में प्रथम ज्ञानवाली, यह अर्थ करना उचित है ।

⁅13⁆ **भूरिस्थात्राम्** :– ⁅भूरि + स्था + त्रल + टाप्⁆ सायण ने इसका अर्थ नाना भाव से प्रपञ्च के रूप में अवस्थित किया है ।[3] वेङ्कट माधव ने इस पद का अर्थ बहुत स्थान वाली किया है ।[4] पीटर्सन ने इसका अर्थ – मुझे हर स्थान पर निवास करवाते हुए तथा ग्रिफिथ ने – अनेक घरों में किया है ।[5] वस्तुतः इसका अर्थ अनेक स्थलों पर रहने वाली ही करना सङ्गत प्रतीत होता है ।

⁅14⁆ **भूर्यावेशयन्तीम्** :– ⁅भूरि + आ + विश् + णिच् + शतृ + ङीप्, द्वितीया एकवचन⁆ आचार्य सायण ने इसका अर्थ – अनेक भूतों में जीवभाव से स्वयं को प्रवेश कराती हुई, किया है[6], किन्तु वेङ्कट माधव दूसरा अर्थ प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार "बहुतों को अपने में प्रवेश कराती हुई" यह अर्थ इष्ट है ।[7] ग्रिफिथ, पीटर्सन इत्यादि विद्वानों ने इसका शाब्दिक अर्थ न देते हुए केवल भावार्थ का ही ग्रहण किया है ।[8] सायण तथा वेङ्कट माधव इन दोनों आचार्यों के अर्थों में पार्थक्य

---

1. यत्साक्षात् कर्त्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञातवती । वही, सायण-भाष्य.
2. वही, ग्रिफिथ और पीटर्सन के अनुवाद.
3. बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानाम् । वही, सायण-भाष्य.
4. बहुस्थानाम् । वही, वेङ्कट भाष्य.
5. वही, पीटर्सन तथा ग्रिफिथ के अनुवाद.
6. भूरीणि बहूनि भूतजातान्यावेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीम् ।
   ऋग्वेद 10.125.3 पर सायण भाष्य.
7. भूरि च स्वस्मिन् स्थाने आवेशयन्तीम् । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
8. द्रष्टव्य, वही – पीटर्सन तथा ग्रिफिथ के अनुवाद.

यही है कि एक के अनुसार वाक् भूतों में प्रविष्ट हो रही है औरदूसरे के अनुसार भूत वाक् में प्रविष्ट हो रहे हैं । यदि इन पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो दार्शनिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता । पुनरपि वाक् चित्स्वरूपा है, अतः भूतों में इसका प्रवेश करना अधिक सड़्गत प्रतीत होता है।

(15) **पुरुत्रा** :– इसके अर्थ के विषय में विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है । निघण्टु में पुरु शब्द का बहुवाची नामों में परिगणन किया गया है ।[1] इस प्रकार इसका अर्थ – "अनेक स्थानों पर", करना उचित है ।

(16) **मया सः** :– सूक्त के चतुर्थ मन्त्र के प्रारम्भ में आए हुए इन दोनों पदों के अन्वय को लेकर विद्वानों में मतभेद है । सायण ने "मया सो अन्नमत्ति" के समान ही "यः" सर्वनाम वाले वाक्यों को भी "सः मया एव" के साथ जोड़कर इन्हें एक वाक्य के रूप में स्वीकार किया है।[2] वेड़्कट माधव "मया सः अन्नमत्ति" को मुख्य वाक्य मानते हुए "यः" से प्रारम्भ होने वाले वाक्यों को इस पर आश्रित स्वीकार करते हैं ।[3] ग्रिफिथ और पीटर्सन वेड़्कट माधव का अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं ।[4] वास्तविकता यह है कि वाक् जीवरूप में सबमें समाविष्ट है, अतः प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य वाक् द्वारा ही सम्पन्न होता है । इसलिए प्रस्तुत मन्त्र में यः से प्रारम्भ होने वाले सभी वाक्यों के अन्त में "सः मया" इस प्रकार अन्वय करते हुए, जो कोई कुछ भी करता है, वह मेरे द्वारा ही होता है, ऐसा अर्थ करना समीचीन है । इस दृष्टि से अन्नमत्ति के पूर्व "यः" का अध्याहार उचित है ।

(17) **अमन्तवः** :– (अ + मन् + तु, प्रथमा बहुवचन) सायण ने माम् का इसके साथ अन्वय करते हुए, "इस प्रकार अनतर्यामी रूप से वर्तमान मुझे न मानने न जानने वाले" यह अर्थ किया

---

1. निघण्टु – 3.1.3.
2. योऽन्नमत्ति सा भोक्तृशक्तिरुपया मयैवान्नमत्ति । ऋग्वेद 10.125.4, सायण भाष्य.
3. मया सः अन्नमत्ति यः चक्षुषा विपश्यति च प्राणिति.....। वही, वेड़्कट माधव भाष्य.
4. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.

है । उन्होंने इसका एक अन्य अर्थ – मुझ से सम्बद्ध ज्ञान से रहित, भी किया है ।[1] वेङ्कट माधव इसका अर्थ – अज्ञ, करते हैं ।[2] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका अर्थ – न जानने वाले किया है ।[3] अमन्तु शब्द में विचारार्थक या मननार्थक मन् धातु है, अतः इसका धातुज अर्थ – विचाररहित या मनन रहित होगा । इस प्रकार मन्त्र में इसका अर्थ होगा – मेरे प्रति विचार रहित । विचाररहित होने के कारण अवमानना का भाव भी प्रकट होता है । अतः प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – मुझे न मानने वाले, करना समीचीन है ।

(18) उपक्षियन्ति :– सायण ने इसका अर्थ "उपक्षीण" या संसार से रहित हो जाते हैं, किया है ।[4] स्पष्ट है कि उन्होंने "क्षि" धातु को क्षय होने के अर्थ में माना है । इसके विपरीत वेङ्कट माधव ने इस धातु को निवास करने के अर्थ में मानते हुए इसका अर्थ – मेरे पास वृथा निवास करते हैं, किया है ।[5] ग्रिफिथ ने इसी अर्थ का अनुगमन किया है,[6] किन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ – मेरे नियन्त्रण में है, किया है ।[7] जहाँ तक निवासपरक अर्थ का सम्बन्ध है, यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जिस वाक् ने इसी सूक्त के छठें मन्त्र में ब्रह्मद्विट् को मारने की बात कही है, वह यहाँ अपनी अवमानना करने वाले को अपने पास क्यों आने या निवास करने की बात कहेगी ? अतः प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – मेरे पास या सम्मुख ही नष्ट हो जाते हैं, करना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

---

1. अमन्तवोऽमन्यमाना अजानन्तः । मद्विषयज्ञानरहिताः । ऋग्वेद वही, सायण-भाष्य.
2. अज्ञाः । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
3. They know it not. द्रष्टव्य, वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
4. उपक्षीणाः संसारेण हीना भवन्ति । वही, सायण-भाष्य.
5. ते वृथा माम् उपनिवसन्ति । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
6. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
7. Are under my control., वही, पीटर्सन का अनुवाद.

(19) **श्रुधि** :– यह पद "श्रु" धातु के लोट् लकार का छान्दस रूप है । प्रायः सभी विद्वानों ने इसका अर्थ – "सुनो" किया है, जो सर्वथा उचित प्रतीत होता है ।[1]

(20) **श्रुत** :– (श्रु + क्त, सम्बोधन) सायण ने इसका अर्थ – हे श्रुत विश्रुत सखे । किया है ।[2] वेङ्कट माधव ने भी इसे सम्बोधन का रूप ही माना है ।[3] ग्रासमान, पीटर्सन, ग्रिफिथ प्रभृति विद्वानों ने इसे श्रु धातु के लोट् लकार मध्यम पुरुष, बहुवचन का रूप माना है ।[4] यहाँ तक कि लुडविग ने श्रुत को श्रद्धिवम् के साथ जोड़ते हुए इन्हें एक पद मानने का सुझाव दिया है । ऐसा मानने पर इसका अर्थ होगा – परम्परा द्वारा विश्वसनीय । किन्तु इन दोनों पदों को एक मानना नितान्त अनुचित है । अतः श्रुत को सम्बोधन मानना ही सम्मत है ।

(21) **श्रद्धिवम्** :– सायण ने इसका अर्थ – श्रद्धा द्वारा प्राप्त करने योग्य, किया है।[5] वेङ्कट माधव इसे "श्रद्धेय" के अर्थ में लेते हैं ।[6] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका अर्थ सत्य (क्रमशः ट्रूथ और ट्रू) किया है ।[7] श्रत् का अर्थ भी श्रद्धा या विश्वास होता है । इस प्रकार यहाँ इसका अर्थ – "विश्वसनीय" करना समुचित है ।

(22) **जुष्टम्** :– (जुष् + क्त) सायण ने पाँचवे मन्त्र में आए इस पद का अर्थ – सेवित, किया है ।[8] उन्होंने "इदम्" का अर्थ "ब्रह्मात्मक पदार्थ" किया है ।[9] उनके अनुसार दोनों को एक

---

1. द्रष्टव्य – वही, सायण, वेङ्कट माधव, विल्सन, ग्रिफिथ, पीटर्सन के अनुवाद.
2. ऋग्वेद 10.125.4 सायण भाष्य.
3. वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
4. वही, ग्रासमान, पीटर्सन, ग्रिफिथतथा लुडविग के अनुवाद.
5. श्रद्धिः श्रद्धा । तया युक्तम् । श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थः ।
6. श्रद्धेयम् । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
7. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
8. जुष्टं सेवितम् । ऋग्वेद 10.125.5 पर सायण-भाष्य.
9. इदं वस्तु ब्रह्मात्मकम् । वही, सायण-भाष्य.

साथ संयुक्त करने पर अर्थ होगा – मैं देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा सेवित ब्रह्मात्मक पदार्थ को बताती हूँ । ग्रिफिथ ने जुष्टम् का अर्थ स्वागत योग्य (सहर्ष ग्राह्य) किया है । पीटर्सन भी उन्हीं का अनुगमन करते हैं ।[1] यद्यपि जुष् धातु का अर्थ – प्रीति और सेवन दोनों होते हैं, तथापि यहाँ प्रीति वाला अर्थ ग्राह्य होना चाहिए । सभी लोग वही वस्तु चाहते हैं, जो उन्हें पसन्द होती है, अतः प्रकृत स्थल पर जुष्टम् का अर्थ – अभीष्ट या वाञ्छित करना, अधिक उचित है ।

(23) **उग्रम्** :– (उच् + रन्) सायण ने प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ – "सबसे अधिक", किया है ।[2] अन्यत्र उन्होंने इसका अर्थ उद्गूर्ण या गहनविशेष किया है ।[3] विल्सन इसे भयानक के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं ।[4] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ शक्तिशाली (माइटी) तथा पीटर्सन ने मजबूत (स्ट्रांग) किया है ।[5] वस्तुतः यहाँ उग्र का अर्थ शक्तिशाली करना ही उचित है, क्योंकि शक्ति के अतिरिक्त प्रायः अन्य प्रमुख गुणों से युक्त करने की प्रतिज्ञा वाक् ने इसी मन्त्र के अन्य पदों तथा अगले मन्त्रों में भी की है । इसका अर्थ – सर्वश्रेष्ठ, मान लेने पर अग्रवर्ती गुणों की कोई प्रासङ्गिकता नहीं रह जाती है ।

(24) **ब्रह्माणम्** :– सायण ने इस पद का अर्थ "स्रष्टा" किया है ।[6] नपुंसकलिङ्ग के रूप में आने वाले ब्रह्मन् शब्द का अर्थ – मन्त्र, सूक्त, प्रार्थना, स्तोत्र इत्यादि होता है ।[7] यहाँ यह पद पुल्लिङ्ग के रूप में प्रयुक्त है, अतः इसका अर्थ मन्त्रकर्ता होना चाहिए । ग्रिफिथ, पीटर्सन तथा विल्सन ने इसका अर्थ ब्रह्मन् किया है ।[8] मूर के मतानुसार ब्राह्मण जन्म अथवा स्वभाव से नहीं होता

---

1. Gods and men alike shall welcome वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
2. सर्वेभ्योऽधिकम् । ऋग्वेद 10.125.5 सायण भाष्य.
3. ऋग्वेद 10.121.5 पर सायण भाष्य.
4. ऋग्वेद 10.125.5 पर विल्सन का अनुवाद.
5. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
6. ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि । वही, सायण भाष्य.
7. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 2.12.6.
8. ऋग्वेद 10.125.5 पर ग्रिफिथ, पीटर्सन एवं विल्सन के अनुवाद.

था, अपितु वह देवी की कृपा से ही उस पद पर पहुँच पाता था ।[1] इस दृष्टि से सम्भव है, इसका अर्थ ब्राह्मण हो, किन्तु अगले दो पदों – ऋषि और सुमेधा की पृष्ठभूमि में यहाँ इसका अर्थ मन्त्रकर्त्ता या स्तोता किया जा सकता है ।

(25) **ऋषिम्** :– सायणने यहाँ इसका अर्थ – अतीन्द्रिय विषयों का द्रष्टा किया है ।[2] यास्क ने औपमन्यव के मत में स्तोत्रदर्शकों को ऋषि माना है ।[3] शतपथब्राह्मण के अनुसार भी जिन्होंने श्रमपूर्वक तपश्चर्या की, वे ऋषि कहलाए ।[4] इस प्रकार तपस्या ऋषि बनने का एक हेतु था। मन्त्रदर्शन करना बिना तपस्या के सम्भव नहीं था । ऋग्वेद में भी सप्तर्षियों द्वारा तपस्या करने की बात कही गई है ।[5] पीटर्सन ने ऋषि का अर्थ धर्मप्रवर्तक (प्रोफेट) और ग्रिफिथ ने ऋषि ही किया है ।[6]

(26) **रुद्राय** :– सायण ने यहाँ रुद्राय का अर्थ "रुद्र का" किया है ।[7] उन्होंने पौराणिक पृष्ठभूमि में इसे त्रिपुर–विजय के समय शिव के युद्ध से सम्बद्ध किया है । ऋग्वेद में रुद्र के हेति एवं धनुष् को मारक कहा गया है ।[8] वाक् रुद्र का धनुष तानने में सहायता करती है ।

(27) **ब्रह्मद्विषे** :– सायण ने इसका अर्थ – ब्राह्मणों का द्वेषी, किया है ।[9] ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ भक्ति (डिवोशन) का द्वेषी तथा पीटर्सन ने ईश्वर का द्वेषी किया है ।[10] इस स्थल

---

1. मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट, भाग – 1, पृष्ठ 246.
2. ऋषिमतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि ।
3. ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः । यास्क – निरुक्त, 2.3.3.
4. ये पुरास्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषन् तस्माद् ऋषयः । शत.6.1.1.1.
5. ऋग्वेद 10.109.4.
6. ऋग्वेद 10.125.5 पर पीटर्सन एवं ग्रिफिथ के अनुवाद.
7. रुद्राय रुद्रस्य । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । ऋग्वेद 10.125.6 पर सायण भाष्य.
8. ऋग्वेद 2.33.14 तथा 1.114.10.
9. ब्राह्मणानां द्वेष्टारम् । ऋग्वेद 10.125.6 पर सायण भाष्य.
10. द्रष्टव्य, वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.

के अतिरिक्त सायण ने अन्यत्र इसका अर्थ वैकल्पिक रूप से मन्त्र तथा कर्म का द्वेषी किया है ।[1] कुछ अन्य मन्त्रों में भी यह पद मन्त्रद्वेषी के अर्थ में ही आया है ।[2] अतः उक्त सन्दर्भों के आधार पर यहाँ भी इसका अर्थ – मन्त्रद्वेषी, करना ही उचित प्रतीत होता है ।

‖28‖ **शरवे** :– सायण ने इस पद का अर्थ – 'हिंसक" किया है ।[3] उन्होंने शरु को त्रिपुरनिवासी हिंसक असुर माना है । इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों पर उन्होंने शरु का अर्थ वज्र किया है ।[4] ऋग्वेद में ही दो अन्य स्थानों पर शरु शब्द 'हिंसक" के अर्थ में आया है ।[5] अतः प्रकृत स्थल पर भी इसका अर्थ – "हिंसक" करना सङ्गत प्रतीत होता है ।

‖29‖ **समदम्** :– सायण ने इसका अर्थ – "सङ्ग्राम" किया है ।[6] वेङ्कट माधव इस पद को "कलह" के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं ।[7] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ – युद्ध तथा पीटर्सन ने "कलह" या "संघर्ष" किया है । विल्सन भी इसे युद्ध के अर्थ में ही मानते हैं ।[8] यहाँ वाक् के युद्ध करने का तात्पर्य यह है कि वह अपने याजकों की रक्षा के लिए शब्द के माध्यम से तैयार रहती है तथा आवश्यकता पड़ने पर वस्तुतः युद्ध भी करती है । इस मन्त्र की प्रथम दो पङ्क्तियों से भी वाक् की युद्धकारिता सिद्ध है ।

---

1. ऋग्वेद 2.23.4 तथा 5.42.9 पर सायण-भाष्य
2. ऋग्वेद 3.30.17, 6.52.3, 6.22.8 तथा 7.104.2.
3. शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरम् । ऋग्वेद 10.125.6 पर सायण-भाष्य.
4. ऋग्वेद 1.100.18 तथा 2.12.10.
5. ऋग्वेद 8.67.15 तथा 8.67.20.
6. समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् सङ्ग्रामः । ऋग्वेद 10.125.6, सायण भाष्य.
7. जनाय कलहम् । वही, वेङ्कट माधव.
8. द्रष्टव्य, वही, ग्रिफिथ, पीटर्सन एवं विल्सन के अनुवाद.

(30) **पितरम्** :- तैत्तिरीय ब्राह्मण में द्यौः को पिता माना गया है ।[1] इसी आधार पर सायण ने भी यहाँ पिता का अर्थ द्यौः किया है ।[2] भारतीय परम्परा के अनुसार भी द्युलोक को सबका पिता तथा पृथ्वी को माता माना गया है । वेंङ्कट माधव ने इसका अर्थ - "आदित्य" किया है ।[3] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका सीधा अर्थ - "पिता" (फादर) ही लिया है ।[4] इस मन्त्र में वाक् द्वारा पिता द्युलोक को जन्म देने की बात कही होने से यहाँ विरोधाभास अलङ्कार की प्रसक्ति होती है ।

(31) **अस्य मूर्धन्** :- सायण ने इसका अर्थ - "इस परमात्मा के ऊपर" किया है । इसका कारण प्रतिपादित करते हुए उन्होंने बताया है कि "उस कारणभूत परमात्मा में आकाश इत्यादि सारे कार्य, तन्तुओं में पट के समान सदैव वर्तमान रहते हैं । उन्होंने इसका एक वैकल्पिक अर्थ - "इस भूलोक के ऊपर" भी किया है ।[5] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ - "जगत् की चोटी" (समिट) पर तथा पीटर्सन ने - "जगत् के ऊपर" किया है ।[6] इन अर्थों के परिसर में वस्तुतः इसका अर्थ "परमात्मा के ऊपर" न करके "इस जगत् के ऊपर" करना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि द्युलोक (रूपी) पिता ऊपर ही तो रहता है ।

(32) **योनिः** :- सायण ने "योनिः" का अर्थ "कारण" किया है ।[7] वेङ्कट माधव ने इसका अर्थ "गृहम्" किया है ।[8] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने वेङ्कट माधव का अनुगमन करते हुए इसे गृह का ही वाचक माना है ।[9] वस्तुतः प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ "उत्पत्तिस्थान" करना ही उचित

---

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.7.5.4.
2. पितरं दिवम् । ऋग्वेद 10.125.7 पर सायण-भाष्य.
3. अहं प्रेरयामि आदित्यम् । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
4. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
5. अस्य परमात्मो मूर्धन्युपरि । कारणभूते । तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु पट इव । यद्वा अस्य भूतस्य (भूलोकस्य) मूर्धन्युपरि..........। वही, सायण-भाष्य.
6. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
7. योनिः कारणम् । यद्ब्रह्म चैतन्यं तन्मय कारणमिति । वही, सायण-भाष्य.
8. वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
9. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.

प्रतीत होता है । ज्ञातव्य है कि हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति सलिल से बताई गई है । वह परमात्मस्वरूप है तथा वाक् ने परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया है ।

[33] **अप्सु अन्तः समुद्रे** :– इस मन्त्रांश में स्थित समुद्र शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने बताया है कि "जिससे सारे प्राणी उत्पन्न हों, वह समुद्र अर्थात् परमात्मा" है । इस प्रकार उन्होंने "समुद्र" का अर्थ परमात्मा किया है । उन्होंने अप्सु का अर्थ "व्यापक धीवृत्ति" करते हुए उसके मध्य विद्यमान चैतन्य ब्रह्म को "वाक्" का कारण निरूपित किया है । उनके अनुसार "अप्सु अन्तः" का सामान्य अर्थ "जलों के भीतर" भी ग्राह्य है । इनके अतिरिक्त एक और अर्थ उपन्यस्त करते हुए वे समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में, जलमय देवशरीरों में वाक् के कारणभूत चैतन्यब्रह्म को प्रतिष्ठित करते हैं ।[1] सायण द्वारा प्रतिपादित ये सभी अर्थ आध्यात्मिक हैं । ग्रिफिथ और पीटर्सन इस मन्त्रांश का अर्थ – "जलों के भीतर समुद्र में" ही करते हैं ।[2] वस्तुतः सायण प्रतिपादित गूढ़ अर्थों की कल्पना करने की अपेक्षा सामान्य अर्थ – "जलों के भीतर समुद्र में" करना अधिक सङ्गत प्रतीत हो रहा है ।

[34] **अनुवितिष्ठे** :– सायण ने इस क्रियापद का अर्थ, "समस्त भूतों में प्रवेश करके विविध प्रकार से व्याप्त होकर स्थित होती हूँ" किया है । उन्होंने इसका दूसरा अर्थ – "अपने कारण से युक्त होकर मैं सारे लोकों को व्याप्त करती हूँ" किया है ।[3] ग्रिफिथ तथा पीटर्सन और विल्सन तीनों ने इसका अर्थ, प्रसृत होती हूँ, किया है ।[4] व्याप्त होने तथा प्रसृत होने में कोई भेद नहीं है, अतः इसका अर्थ – विविध प्रकार से व्याप्त होती हूँ, करना उचित है ।

---

1. समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानि इति समुद्रः परमात्मा तस्मिन् । अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः । समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः । यद्वा समुद्रे अन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्मचैतन्यं वर्तते । वही, सायण-भाष्य.
2. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
3. भुवनानि भूतजातान्यनुप्रविश्य विविधं व्याप्य तिष्ठामि ।
   ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि । वही, सायण भाष्य.
4. वही, ग्रिफिथ, पीटर्सन और विल्सन के अनुवाद.

[35] **वर्ष्मणा** :– सायण ने इसका अर्थ, "कारणभूत मायात्मक शरीर से" किया है ।[1] वेङ्कट माधव ने इसका अर्थ – "शरीर से" किया है ।[2] ग्रिफिथ ने इसे ललाट [फोरहेड] तथा पीटर्सन ने सिर [हेड] का द्योतक माना है ।[3] ऋग्वेद में ही यह शब्द "ऊँचे प्रदेश" के अर्थ में आया है ।[4] सायण ने स्वयं एक स्थल पर इसका अर्थ "समुचित देश" किया है ।[5] वस्तुतः वाक् ने इस मन्त्र में अपने को आकाश से लेकर समुद्र पर्यन्त व्यापक बताया है । इसकी ऊँचाई का माप उसके उन्नत प्रदेश सिर की चोटी से लिया जा सकता है । अतः यहाँ इसका अर्थ "शिखा" या "चोटी" करना उचित है ।

[36] **सुवे** :– सूक्त के सप्तम मन्त्र में ही आए हुए इस क्रियापद का अर्थ सायण ने "उत्पन्न करती हूँ" किया है ।[6] इसके समर्थन में वे तैत्तिरीय आरण्यक का वह वचन उद्धृत करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि "आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" ।[7] क्योंकि वाक् परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव कर रही है,अतः उसके द्वारा वे सभी कार्य करणीय होंगे, जो परमात्मा द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं । अथर्ववेद का भाष्य करते समय उन्होंने "सुवे" का वैकल्पिक अर्थ "प्रेरयामि" भी किया है[8], जो प्रकृत स्थल पर वेङ्कट माधव के भाष्य के समान है ।[9] ग्रिफिथ ने इसका अनुवाद "प्रकट करती हूँ" [ब्रिंगफोर्थ] तथा पीटर्सन ने "व्यवस्थित करती हूँ" [सेट ओवर] किया है ।[10]

---

1. वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन । वही, सायण-भाष्य.
2. शरीरेण । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
3. वही, ग्रिफिथ और पीटर्सन के अनुवाद.
4. ऋग्वेद 4.54.4.
5. ऋग्वेद 10.63.4 पर सायण-भाष्य.
6. सुवे प्रसुवे जनयामि । ऋग्वेद 10.125.7 पर सायण-भाष्य.
7. आत्मन आकाशः सम्भूतः । तैत्तिरीय आरण्यक – 8.1.
8. सुवे प्रेरयामि । अथर्ववेद 4.30.7 पर सायण-भाष्य.
9. अहं प्रेरयामि आदित्यम् । ऋग्वेद 10.125.7 पर वेङ्कट माधव-भाष्य.
10. वही, ग्रिफिथ तथा पीटर्सन के अनुवाद.

पिता होते हुए भी द्युलोक को ब्रह्मभावापन्न होकर वाक् का उत्पन्न करना अनुपपत्तिमूलक नहीं प्रतीत होता । अतः प्रस्तुत सन्दर्भ एवं अनेक उपरिनिर्दिष्ट व्याख्यानों के आलोक में "सुवे" का अर्थ – उत्पन्न करने से ही मानना उचित प्रतीत होता है ।

{37} **आरभमाणा** :– सायण ने इसका अर्थ – "कारण रूप से उत्पन्न करती हुई"[1] तथा वेङ्कट माधव ने "संस्तम्भयन्ती" अर्थात् "व्यवस्थित करती हुई" किया है ।[2] ग्रिफिथ और पीटर्सन ने इसका अर्थ – "ग्रहण करती हुई" या अधिकृत करती हुई" किया है ।[3] ध्यातव्य है कि पिछले मन्त्र संख्या सात में वाक् ने सर्वप्रथम पिता द्युलोक को उत्पन्न करने की बात कही है । उसके अनन्तर शेष जगत् की सृष्टि अपेक्षित है । अतः "आरभमाणा" का अर्थ "प्रारम्भ करती हुई" अथवा "सृष्टि प्रारम्भ करती हुई" करना अधिक समीचीन है ।

{38} **प्रवामि** :– सायण ने इसका अर्थ "प्रवर्ते" अर्थात् "स्थित होती हूँ" या "रहती हूँ" किया है ।[4] ग्रिफिथ ने इस पद का अर्थ "गहरी साँस लेती हूँ" {ब्रीद ए स्ट्रांग ब्रेथ} तथा पीटर्सन ने "बहती हूँ" {आई ब्लो} किया है । वस्तुतः यहाँ वायु के समान बहने का तात्पर्य अधिक क्रियाशील होने से है । वायु को शीघ्रगामी देवता कहा गया है ।[5] वाक् को इस विशाल भुवन की सृष्टि करनी है, अतः उसे वायु के समान क्रियाशील होना आवश्यक है ।

{39} **परो दिवा पर एना पृथिव्या** :– यहाँ पर परः का प्रयोग परस्तात् के अर्थ में किया गया है । वाक् ने अपने को द्युलोक तथा पृथिवी से परे बताया है । सायण ने इसे उपलक्षण मानते हुए

---

1. आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती । ऋग्वेद 10.125.8, सायण भाष्य.
2. वही, वेङ्कट माधव भाष्य.
3. Taking hold. वही, ग्रिफिथ एवं पीटर्सन के अनुवाद.
4. प्रवामि प्रवर्ते । वही, सायण भाष्य.
5. "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" । तैत्तिरीय संहिता 5.1.8.1.

वाक् को सारे विकारों से परे असङ्ग–उदासीन–ब्रह्मचैतन्यरूपिणी प्रतिपादित किया है ।[1] वस्तुतः वाक् के इस द्यावापृथिवी से परे होने से उसके "परा" रूप का सङ्केत प्राप्त होता है । वाक् का "परा" रूप गुहा में निहित बताया गया है । उसका तुरीय पक्ष ही मनुष्यों के लिए सुलभ है ।[2]

वाक्सूक्त के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का आधार "वाक्" ही है । इस सूक्त में ऋषिका वाक् ने अपने को संसार की कर्त्री तथा परम शक्ति के रूप में चित्रित किया है । वह जिसे भी जो कुछ चाहती है, बना देती है । मनुष्य के समस्त कार्य वाक् द्वारा ही सञ्चालित होते हैं । यहाँ तक कि खाना–पीना, श्वास लेना आदि सभी क्रियाएँ उसी की प्रेरणा तथा शक्ति द्वारा सम्भव हैं । वह संसार की शासिका है, धन एकत्र करने वाली है तथा पूज्यों में प्रथम ज्ञानवती है, वह समस्त जगत् की उत्पादिका होती हुई पूरे विश्व में विविध रूपों में व्याप्त हो जाती है । सभी देवी–देवता ब्रह्मस्वरूपा वाक् के ही विविध रूप अथवा उसकी ही विभिन्न शक्तियाँ हैं । यहाँ तक कि उसे स्वयं देवताओं ने कई रूपों में पृथक्–पृथक् स्थापित किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाक् सूक्त का दार्शनिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है । वाक् ब्रह्मस्वरूपा ही है । इसीलिए सर्वत्र व्याप्त हो पाना उसके लिए सम्भव है । इस सूक्त में हमें "वाक्", जगत् के अनादि कारण के रूप में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है । "वाक्" की इन महत्ताओं से प्रभावित होकर परवर्ती साहित्य में हमें इसके नाना रूप उपलब्ध होते हैं । यही पराशक्ति वाक्, महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि नामों से अभिहित की जाती है । उसके दण्डात्मक उग्ररूप के परिणामस्वरूप ही पुराणों में चण्डी की प्रभूत प्रतिष्ठा की गई है ।[3] श्री दुर्गासप्तशती के अन्तर्गत उपनिबद्ध मूर्त्तिरहस्य में संसार को देवीमय तथा देवी को

---

1. द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम् । एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमाना–सङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहम् । ऋग्वेद 10.125.8, सायण–भाष्य.
2. ऋग्वेद 1.164.45 तथा इस पर सायण-भाष्य.
3. उग्रचण्डा प्रचण्डा च चण्डोग्रा चण्डनायिका ।
   चण्डा चण्डवती चैव चण्डरूपाति चण्डिका ।।
   कालिका पुराण अध्याय 59 तथा मत्स्यपुराण, अध्याय 263.

विश्वरूपा कहा गया है ।[1] वाक्, शब्दरूप में समस्त जगद्व्यवहार में अनुस्यूत है । इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्त ने सृष्टि में समाई हुई वाक् की स्तुति करते हुए कहा है –

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके   सकलशब्दमयी किल ते तनुः ।
निखिलमूर्त्तिषु मे भवदन्वयो मनसिजासु बहिः प्रसरासु च ।।
इति विचिन्त्य शिवे   शमिताशिवे   जगति जातमयत्नवशादिदम् ।
स्तुतिजपार्चन चिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे ।।[2]

---

1. सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत् ।
   अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम् ।। श्री दुर्गासप्तशती, मूर्त्तिरहस्य ।
2. श्री दुर्गा सप्तशती (गीता प्रेस गोरखपुर) के अन्तिम पृष्ठ 240 पर उद्धृत ।

अध्याय – 8

नासदीय सूक्त (ऋग्वेद 10.129) एवं उसका दार्शनिक पक्ष

(क) नासदीय सूक्त

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा

(1) असत् तथा सत्
(2) रजस्
(3) व्योमा
(4) आवरीवः
(5) शर्मन्
(6) अम्भः किमासीत्
(7) मृत्यु और अमृत
(8) न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः
(9) आनीदवातं स्वधया तदेकम्
(10) तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे
(11) अप्रकेतं सलिलम्
(12) तुच्छ्येन
(13) आभु
(14) तपस्
(15) कामः
(16) मनसो रेतः
(17) सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
(18) अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्
(19) रेतोधाः
(20) महिमानः
(21) स्वधा
(22) प्रयतिः
(23) अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन
(24) यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्

(ग) नासदीय सूक्त में निहित दार्शनिक सिद्धान्त

(1) सदसद्वाद
(2) रजोवाद
(3) व्योमवाद
(4) परावरवाद
(5) आवरणवाद
(6) अम्भोवाद
(7) अमृत–मृत्युवाद
(8) अहोरात्रवाद
(9) देववाद
(10) संशयवाद

(क) नासदीय सूक्त :-

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ उन्तीसवाँ सूक्त सृष्टि-विद्या से सम्बद्ध है । "नासत्" शब्द से प्रारम्भ होने के कारण इसे "नासदीय सूक्त" कहा जाता है । इस सूक्त के ऋषि "परमेष्ठी प्रजापति" तथा देवता "परमात्मा" हैं । इसमें त्रिष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध सात ऋचाएँ हैं ।[1] इस सूक्त को "भाववृत्त" के नाम से भी जाना जाता है । पूरे वैदिक साहित्य में यह सूक्त अनुपम है । हिरियन्ना के अनुसार इसे "भारतीय विचारधारा का पुष्प" कहा गया है ।[2] इसमें एकत्ववादी विचारधारा का सार दृष्टिगत होता है । वैदिक ऋषियों ने "एकदेववाद" या "एकेश्वरवाद" से भी असन्तुष्ट होकर विश्व की अनेकता में एकता को देखा । एक ही सूत्र में सभी वस्तुएँ पिरोयी हुई हैं। विविध घटनाएँ नियमों के अधीन हैं और वे नियम परस्पर सम्बद्ध हैं ।

यदि जगत् को ईश्वर से पूर्णतः भिन्न माना जाय, तो दोनों में कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार एक को दूसरे का नियन्ता नहीं कहा जा सकता । जगत् के शाश्वत क्रम तथा नियमबद्धता के लिए इससे बाहर के पदार्थ को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है । प्रस्तुत सूक्त में ऋषि दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त को स्पष्टतः स्वीकार करता है । वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का एक मूल कारण मानकर उसके स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास भी करता है । वह जगत् को प्रथम कारण के स्वतः विस्तार के रूप में देखता है । सूक्त में प्रयुक्त "तत्" और "एकम्" इन दो पदों से अद्वैत तत्त्व का स्पष्टतः निर्देश प्राप्त होता है । यह "तत्" ही इस जगत् का मूल कारण है । यह अद्वितीय है । यह सर्वोच्च तत्त्व है । इसे ही "एकम्" कहा जाता है । "एकम्" प्राणस्वरूप और परात्पर ब्रह्म है । यह पूर्ण है तथा इससे ऊपर किसी भी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है । यद्यपि इस सूक्त में स्पष्टतः ब्रह्म शब्द का उल्लेख नहीं है, तथापि अन्य प्रतीकात्मक शब्दों द्वारा उसका निर्देश प्राप्त होता है ।

---

1. सूक्त के सभी मन्त्र तथा उनके हिन्दी अनुवाद परिशिष्ट "क" में दिये गए हैं ।
2. हिरियन्ना एम. - भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 41.

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा :-

प्रस्तुत सूक्त के कथ्य को पूर्णतः समझने के लिए इसमें वर्तमान विभिन्न गम्भीर पदों की समीक्षा अपेक्षित है । इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्द विचारणीय हैं ।

(1) **असत् तथा सत्** :- आचार्य सायण ने "असत्" को संसार का मूल कारण मानते हुए उसे शशविषाणवत् अस्तित्वहीन नहीं माना है, क्योंकि अस्तित्वहीन कारण से इस सत्तात्मक जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । उनके अनुसार मन्त्र में "सत्" एवं "असत्" के निषेध द्वारा प्रलयावस्था में मूल कारण की अनिर्वाच्यता प्रतिपादित की गई है ।[1] इस दृष्टि से सायण-मतानुसार इस अनिर्वाच्यता में वेदान्त दर्शन की सदसद्विलक्षण माया का एक अस्पष्ट सङ्केत ग्रहण किया जा सकता है । वेङ्कट माधव ने यहाँ "असत्" का अर्थकारण और "सत्" का अर्थ "कार्य" करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि प्रलयावस्था में परिदृश्यमान कार्यवर्ग और कारणवर्ग नहीं था ।[2] इसके अतिरिक्त अर्थान्तर प्रस्तुत करते हुए उन्होंने "असत्" को प्राण एवं "सत्" को अन्तरिक्ष का वाचक भी माना है ।[3] ग्रिफिथ ने "असत्" उसे माना है, जो वस्तुतः अस्तित्व नहीं ग्रहण करता हो, किन्तु जिसमें अस्तित्व ग्रहण करने की क्षमता विद्यमान हो ।[4] विल्सन ने सत् और असत् को दृश्यमान और अदृश्यमान अस्तित्व मानते

---

1. तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरूपाख्यं न आसीत् । न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति । तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत् । यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि सम्भवति । कुतस्तयोः तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्य-मेवासीदित्यर्थः । ऋग्वेद 10.129.1 पर सायण-भाष्य.
2. असत्-शब्दः कारणवचनः । सत्-शब्दः कार्यवचनः । अयं परिदृश्यमानः कार्यवर्गः कारणवर्गश्च न अभूत् । वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
3. वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.
4. Asat, that does not yet actually exist, but which has in itself the latest potentiality of existence.
वही, ग्रिफिथ की टिप्पणी.

हुए उन्हें भूततत्त्व और आत्मतत्त्व (प्रकृति और पुरुष) कहा है, किन्तु वैदिक विचारधारा में जो सांख्य दर्शन के समान परस्पर भिन्न न होकर एक ही है ।[1] उन्होंने आगे इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि सत् और असत् का निषेध करने का तात्पर्य यही है कि उस समय न तो भूततत्त्व का अस्तित्व था और न आत्मतत्त्व का ।[2] शतपथब्राह्मण में प्रकृत स्थल की व्याख्या करते हुए कहा गया है – आरम्भ में न तो यह असत् था और न ही सत् था । आरम्भ में यह था भी और नहीं भी था । तब यह केवल वह मन ही था । इसीलिए ऋषि द्वारा कहा गया है – तब न असत् था और न सत् था । क्योंकि मन न तो सत् था और न असत् ।[3] इस प्रकार शतपथब्राह्मण ने भी आदिम तत्त्व को मनोरूप मानते हुए उसे अनिर्वचनीय स्वीकार करने के ही सङ्केत दिये हैं । सत् और असत् पर विचार करते हुए राधाकृष्णन् ने कहा है – सत् भी उस समय अपने अभिव्यक्त रूप में नहीं था । केवल इसीलिए हम उसे असत् नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक निश्चित सत्ता है, जिससे सब सत् पदार्थ आविर्भूत हुए । पहली पङ्क्ति में हमारे सिद्धान्तों की अपूर्णता प्रदर्शित की गई है । परमसत्ता को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में ठीक–ठीक नहीं जान सकते । वह ऐसी सत्ता है, जो अपने ही सामर्थ्य से बिना श्वास–प्रश्वास की क्रिया के जीवित है ।[4] स्पष्ट है कि राधाकृष्णन् भी उस सत्ता को अनिर्वचनीय मानने के पक्ष में ही हैं । प्रारम्भ में

---

1. .....Visible and invisible existence, or in Hindu cosmology to matter and spirit (Prakriti and Purusha) which in the Vedic system would not, as inthe Sankhya have a distinct existence.....

   विल्सन – ऋग्वेद संहिता, भाग 6, पृष्ठ 435.

2. .....But that nothing else existed, neither matter nor spirit.....वही, पृष्ठ 435.

3. नेव वा इदमग्रेऽसदासीन्नेव वा सदासीत् । आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् । तद्ध तन्मन एवास। तस्मादेतदृषिपाभ्यनुक्तम् – नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् । नेव हि सन्मनः नेवासत् । शतपथब्राह्मण 10.5.3.1.2.

4. राधाकृष्णन्, डॉ. सर्वपल्ली – भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद) भाग – 1, पृष्ठ 92.

सत् और असत् के निषेध में बौद्धदर्शन के शून्यवाद की झलक देखी जा सकती है, जिसमें परमतत्त्व या शून्य को सत्, असत्, उभय और अनुभय से पृथक् माना गया है ।[1] उदयवीर शास्त्री ने सत् का अर्थ व्यक्त और असत् का अव्यक्त किया है ।[2]

वस्तुतः प्रकृत स्थल पर असत् को कारण तथा सत् को कार्य मानना उचित प्रतीत होता है। सत् का अर्थ पारमार्थिक मूलभूत सत् नहीं, वरन् दृष्टिगत पृथिवी आदि भाव हैं । सृष्टि के पूर्व पृथिवी इत्यादि विद्यमान नहीं थे यही अभिप्राय है । इन दोनों का निषेध करने का तात्पर्य यही है कि प्रलयावस्था में कारण–कार्यभाव नहीं था, अतः किसी प्रकार की भी सृष्टि दृश्यमान नहीं थी । यदि यहाँ असत् को तमोगुण, सत् को सत्त्वगुण तथा मन्त्र में ही अग्रवर्ती पद रजस् को रजोगुण मान लिया जाए, तो सांख्यदर्शन की प्रकृति का स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । ऐसी स्थिति में सृष्ट्यारम्भ में तीनों गुणों के अभाव–प्रतिपादन द्वारा ऋषि तीनों की साम्यावस्था को प्रकट करना चाहता है । जब ये तीनों गुण प्रकृति में ही रहते हैं, बाहर आविर्भूत नहीं होते, उसे ही प्रकृति की साम्यावस्था या प्रलयावस्था कहते हैं । सत्त्व, रजस् तथा तमस् की यही साम्यावस्था प्रकृति है ।[3]

(2) रजस् :– सायण ने निरुक्त को उद्धृत करते हुए रजस् का अर्थ पाताल से लेकर पृथिवी पर्यन्त लोक किया है ।[4] विल्सन ने इसका अर्थ "विश्व" तथा ग्रिफिथ ने "अन्तरिक्ष" किया है ।[5] वस्तुतः जब उस प्रलयावस्था में कारण तथा कार्य कुछ भी नहीं थे, तो इन कार्यभूत लोकों का

---

1. न सन्नासन्न सदसन्नचाप्यनुभयात्मकम् ।
   चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ।। नागार्जुन, माध्यमिक कारिका, 1.7.
2. शास्त्री, उदयवीर – सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ 352.
3. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । साङ्ख्यप्रवचनसूत्र 1.61.
4. व्योम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थः । तथा व्योम अन्तरिक्षं तदपि नो नैवासीत् । व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । ऋग्वेद 10.129.1 सायण भाष्य.
5. वही, विल्सन तथा ग्रिफिथ के अनुवाद.

अस्तित्व कैसे हो सकता है ? अतः यहाँ रजस् पद लोकों के लिए प्रयुक्त है । प्रकृतिपरक अर्थ में इसे रजोगुण कहा जा सकता है ।

{3} **व्योमा** :– सायण ने इसका अर्थ "अन्तरिक्ष" करते हुए इसके साथ परस्तात् का अन्वय करके अन्तरिक्ष से भी उपरिवर्त्ती द्युलोक, सत्यलोक इत्यादि की सत्ता का भी निषेध किया है।[1] विल्सन सायण का ही अनुगमन करते हैं, किन्तु ग्रिफिथ ने परस्तात् का अन्वय रजस् के साथ करते हुए इसका अर्थ – "अन्तरिक्ष से परे आकाश भी नहीं था", किया है ।[2] वस्तुतः यहाँ व्योमा का अर्थ आकाश करना ही उचित प्रतीत होता है तथा परस्तात् का अन्वय रजस् के साथ करना चाहिए ।

{4} **आवरीवः** :– सायण ने इसका अर्थ – "आवरक भूतजात" किया है ।[3] विल्सन और ग्रिफिथ भी उन्हीं का अनुगमन करते हैं ।[4] पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी इसका अर्थ ब्रह्माण्ड करते हैं ।[5] वास्तविकता यह है कि उस समय जब आवृत होने योग्य कोई सृष्टि हुई ही नहीं थी, तो आवरण का प्रश्न ही नहीं उठता, चाहे वह आवरण ब्रह्माण्ड हो या अन्य कोई तत्त्व ।

{5} **शर्मन्** :– यह पद सप्तमी एकवचन में है । सायण ने इसका अर्थ सुखदुःख रूपी भोग से लिया है । उनके अनुसार यह भोक्तृप्रपञ्च का द्योतक है तथा भोग्यप्रपञ्च के समान ही यह भी उस समय नहीं था ।[6] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "आश्रय" किया है ।[7] त्रिवेदी ने भी इसे स्थानवाचक माना है ।[8] वस्तुतः "कुह कस्य शर्मन्" इस प्रकार अन्वय करते हुए – "कौन कहाँ किसके आश्रय में था", यह अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है ।

---

1. ऋग्वेद 10.129.1 पर सायण-भाष्य.
2. No sky beyond it. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
3. आवरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीवः । वही, सायण-भाष्य.
4. वही, ग्रिफिथ एवं विल्सन के अनुवाद.
5. हिरियन्ना, एम. – भारतीय दर्शन की रूपरेखा {हिन्दी अनुवाद}, पृष्ठ 41 पर उद्धृत.
6. शर्मणि सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे भोगे निमित्तभूते सति....। एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानीं नासीदित्युक्तं भवति । वही, सायण-भाष्य.
7. What gave shelter? वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
8. वही, उद्धरण क्रमाङ्क 5 द्रष्टव्य है.

(6) **अम्भः किमासीत्** :– सृष्टि के आरम्भ में (प्रलयावस्था में) असत्, सत्, लोक, आकाश–अन्तरिक्ष तथा इनके आवरणादि के अस्तित्व का निराकरण करने के पश्चात् ऋषि उस समय जल के अस्तित्व के बारे में प्रश्न उपस्थित कर रहा है । यद्यपि आवरण सहित ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का निषेध करने के पश्चात् उसी के अन्तर्गत आने वाले जल का भी निषेध स्वयं सिद्ध है, तथापि कुछ ऐसी उद्धृतियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें सृष्टि के आरम्भ में अथवा प्रथम सृष्टि के रूप में जल की उद्भावना की गई है । ऐसे स्थलों में शतपथब्राह्मण[1], तैत्तिरीय संहिता[2], हरिवंश पुराण[3] और मनुस्मृति[4] तथा ऋग्वेद[5] के नाम लिये जा सकते हैं । इन उद्धरणों के आधार पर कोई प्रलयावस्था में भी जलों के सद्भाव की आशङ्का कर सकता है । इसी आशङ्का के निराकरण के लिए ऋषि ने यह प्रश्न उठाया कि क्या उस समय अथाह गहरा जल था ?[6] उत्तर स्वरूप ध्वनि यही है कि जल भी नहीं था ।

(7) **मृत्यु और अमृत** :– उक्त तत्त्वों का निषेध करने के बाद मृत्यु और अमृत अर्थात् अमरता के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित होता है । सायण के अनुसार सभी प्राणियों द्वारा उपभोग के कारणभूत सारे कर्मों का भोग प्राप्त कर लेने के बाद परमेश्वर के मन में यह विचार आता है कि यह जगत् भोग का अभाव होने के कारण निष्प्रयोजन है । इसी तरह मृत्यु भी सारे संसार का संहार करता है, अतः इस संहर्त्ता मृत्यु से भी क्या प्रयोजन ? ऐसी स्थिति में इस मृत्यु का अभाव उत्पन्न करने वाले अमरण अथवा अमरता से भी क्या प्रयोजन है ?[7] जब मृत्यु की ही सत्ता स्थित नहीं होगी तो अमरता की कल्पना करना ही व्यर्थ है । इस प्रकार मन्त्र में मृत्यु और अमरता दोनों के ही अस्तित्व का निषेध किया गया है ।

---

1. आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास । शतपथब्राह्मण, 11.1.6.1.
2. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तैत्तिरीय संहिता, 7.1.5.1.
3. निराकाशे तोयमये सूक्ष्मे जगति गह्वरे । हरिवंश पुराण, 3.11.
4. अप एव ससर्जादौ । मनुस्मृति, 1.8.
5. ऋग्वेद 10.121.7, 7.49.4, 2.35.13, 10.82.5–6 इत्यादि.
6. द्रष्टव्य, ऋग्वेद 10.129.1 सायण-भाष्य.
7. सर्वेषां प्राणिनां परिपक्वं भोगहेतुभूतं सर्वं कर्म यदोपभुक्तमासीत् तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिदं जगदिति परमेश्वरस्य मनसि संजिहीर्षा जायते । तथैव स मृत्युः सर्वं जगत्संहरत इति किमनेन मृत्युना संहर्त्रा तदभावकृतं वा कथममरणं स्यादिति । वही, सायण-भाष्य.

(8) **न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः** :- अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सबका अधिकरणभूत काल उस समय था ? ऋषि ने प्रस्तुत मन्त्रांश में उसका भी निषेध कर दिया है । सायण ने प्रकेत का अर्थ "प्रज्ञान" किया है ।[1] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ भेदक चिह्न[2] और विल्सन ने सङ्केत[3] किया है । मैक्समूलर इसे भेद करने वाला प्रकाश मानते हैं ।[4] वस्तुतः रात और दिन के भेदक तत्त्व चन्द्रमा और सूर्य हैं । वे उस समय नहीं थे, अतः काल का विभाजन कर पाना सम्भव नहीं था । सायण के अनुसार - अहोरात्र का भी निषेध कर देने से उनसे सम्बद्ध मास, ऋतु, संवत्सर इत्यादि सभी प्रकार के काल का निषेध कर दिया गया है ।[5]

(9) **आनीदवातं स्वधया तदेकम्** :- सायण ने "तत्" का अर्थ सकल वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व किया है । उनके अनुसार यहाँ जीवभावापन्न ब्रह्म का ग्रहण न करके निरुपाधिकब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए ।[6] प्रस्तुत स्थल पर "तत्" तथा "एकम्" पदों का बहुत महत्त्व है । हिरियन्ना के अनुसार सर्वेश्वरवाद में ईश्वरवाद की जो छाया है, उस तक का भी यहाँ अभाव है ।[7] तत् पद द्वारा यह भासित होता है कि चरम तत्त्व भावात्मक है, अर्थात् उसका कहीं न कहीं अस्तित्व अवश्य है । इसी प्रकार "एकम्" पद द्वारा उस तत्त्व का एकत्व प्रतिपादित किया गया है । ग्रिफिथ ने "तदेकम्" पद पर टिप्पणी करते हुए इसे उस एकमात्र मौलिक तत्त्व तथा उस इकाई का प्रतिपादक बताया है, जिससे यह जगत् विकसित हुआ । उन्होंने अपने समर्थन में ऋग्वेद 1.164.6 तथा 46

---

1. रात्र्यां अह्नः च प्रकेतः प्रज्ञानं न आसीत् । वही, सायण-भाष्य.
2. No sign was there, the day's and night's divider.
   वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
3. There was no indication of day or night.
   वही, विल्सन का अनुवाद.
4. वही, मैक्समूलर का अनुवाद.
5. एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरप्रभृतिकः सर्वः कालः प्रत्याख्यातः । वही, सायण-भाष्य.
6. तत्सकलवेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्मतत्त्वमानीत् प्राणितवत् । वही, सायण-भाष्य.
7. हिरियन्ना, एम. - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 42.

का सन्दर्भ भी दिया है ।[1] अविनाशचन्द्र बोस इस स्थल पर वेदान्त के अद्वैतवाद का आधार स्वीकार करते हैं ।[2] मन्त्र में आए "स्वधा" पद का दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । सायण ने यहाँ इसका अर्थ माया किया है और कहा है कि वह ब्रह्म माया के साथ एक या अविभागापन्न था ।[3] कुछ विद्वानों ने "स्वधा" शब्द द्वारा सांख्य दर्शन के बाजी निकालने के प्रयास किये हैं । इनमें उदयवीर शास्त्री अग्रगण्य हैं । उन्होंने प्रकृत स्थल पर "स्वधा" का अर्थ प्रकृति तथा "अवातम्" का निर्दोष चेतनसत्ता" किया है ।[4] वस्तुतः प्रस्तुत मन्त्रांश में एक चेतन सत्ता के अस्तित्व की बात स्वीकार की गई है । यहाँ स्वधा का अर्थ – आन्तरिक शक्ति करना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है । ग्रिफिथ ने भी इसका अनुवाद "निजी स्वभाव" किया है ।[5] विल्सन इसका अर्थ "शक्ति" करते हैं ।[6] इन सब दृष्टिकोणों से यह आभास मिलता है कि स्वधा ही सम्भवतः इस जगत् के मूल कारण के रूप में प्रतिष्ठित है, क्योंकि इसके द्वारा वह परमतत्त्व उस समय भी श्वास–प्रश्वास की क्रिया कर रहा था, जब वायु तक नहीं था । अतः ऐसी अघटनघटनापटीयसी शक्ति द्वारा ही इस विचित्र सृष्टि की रचना सम्भव है ।

डॉ.अग्रवाल ने स्वधा को रहस्य माना है, जिसके विषय में न तो कोई प्रश्न किया जा सकता है और न ही कोई व्याख्या ही की जा सकती है ।[7] यह ब्रह्म की स्वशक्ति है और अपने

---

1. The single primordial substance, the unit out of which the universe was developed. ऋग्वेद 10.129.2 पर ग्रिफिथ की टिप्पणी
2. बोस, अविनाशचन्द्र – हिम्स फ्रॉम द वेदाज, पृष्ठ 305.
3. स्वस्मिन् धीयत ध्रियत आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया । तया तद् ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्। ऋग्वेद 10.129.2 पर सायण-भाष्य.
4. शास्त्री, उदयवीर – सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ 352–353.
5. Breathed by its own nature. ऋ.10.129.2 पर ग्रिफिथ का अनुवाद
6. Own strength, वही, विल्सन का अनुवाद.
7. This स्वधा is a mystery, its obscure nature is beyond explanation or utterance and it exists in him by his own right. अग्रवाल, वासुदेवशरण, स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72.

ही अधिकार से इसकी सत्ता है । ब्रह्म की प्राणन क्रिया इसी पर आश्रित थी । यह प्राणन–क्रिया भी उसकी सृष्टि की इच्छा का परिणाम थी । डॉ. अग्रवाल ने प्राणन को निःश्वसित के रूप में स्वीकार किया है । उनके अनुसार निःश्वसित का ही पर्याय त्रयी विद्या है, क्योंकि निःश्वास या प्राण में भी तीन प्राणों का अन्तर्भाव है । वे तीन प्राण – प्राण, अपान और व्यान हैं । इसी प्रकार का त्रिक या त्रैत त्रयीविद्या में पाया जाता है ।[1]

[10] **तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे** :– इस अंश में यह बताया गया है कि प्रारम्भ में अन्धकार से आवृत अन्धकार था । सायण के अनुसार यहाँ आत्मतत्त्व का आवरक होने के कारण भावरूप अज्ञान को ही तमः कहा गया है, जिसका एक अन्य नाम माया भी है ।[2] इस प्रकार उन्होंने तमः को माया या अज्ञान रूप माना है । उसी माया या अज्ञान को कारण मानकर भूत भौतिक समस्त जगत् को उन्होंने उससे आच्छादित माना है ।[3] इसके साथ ही सायण ने कारणावस्था में कार्य की सत्ता न मानने वाले असत्कार्यवादियों का यहाँ खण्डन भी प्रतिपादित किया है ।[4] वेङ्कट माधव ने यहाँ तमः शब्द को प्रकृति के अभिप्राय में प्रयुक्त माना है ।[5] मन्त्र में आए आवरक तथा आवृत दोनों तत्त्वों को तमः कहा गया है । डॉ. अग्रवाल ने एक को स्वयम्भू का तमस् तथा दूसरे को परमेष्ठी का तमस् माना है । स्वयम्भू पिता है तथा परमेष्ठी माता है । ये जगत् के माता–पिता हैं । स्वयम्भू बीज ब्रह्म है और परमेष्ठी को महद्ब्रह्म या योगी भी कहा गया है । दोनों का एक युग्म

---

1. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72.
2. आत्मतत्त्वस्यावरकत्वान्मायापरसञ्ज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते ।
   ऋग्वेद 10.129.3 सायण-भाष्य.
3. भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमसा गूळ्हम् ।..... तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति । वही, सायण-भाष्य.
4. आच्छादकात् तस्मात्तमसो कामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते । एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यते इत्यसद्वादिनोऽसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः ।
   वही, सायण–भाष्य.
5. वही, वेङ्कट माधव-भाष्य.

है । इस युग्म से व्यक्त सृष्टि में द्यावापृथिवी जन्म लेते हैं, जो इस पूरे जगत् के माता-पिता माने गए हैं ।[1] प्रायः सभी पाश्चात्त्य विद्वानों ने तम का अर्थ अन्धकार किया है ।[2] उक्त सभी तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त यही प्रतीत होता है कि प्रलयावस्था में चाहे जो भी जगत् का कारण विद्यमान था, वह अन्धकारमय था तथा अन्धकार से ही आवृत था । उसका कोई निश्चित स्वरूप जान पाना सम्भव नहीं था ।

(11) **अप्रकेतं सलिलम्** :- ऋषि ने सर्वप्रथम सृष्टि के पूर्व की अवस्था को अन्धकारमय बताया था । अब वह कह रहा है कि उस समय सर्वत्र या यह सब अप्रकेत सलिल था । सायण ने अप्रकेत का अर्थ "अप्रज्ञायमान" किया है ।[3] विल्सन ने इसका अर्थ "अभेदक" किया है ।[4] ग्रिफिथ ने एकदम पृथक् अर्थकरते हुए "अप्रकेत सलिल" को "विचारहीन अव्यवस्था" कहा है ।[5] हमें ऋग्वेद में सलिल के – अम्भः, आपः समुद्र इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं । अनेक प्रमाणों से यह तथ्य पुष्ट है कि आदि में सर्वत्र जल ही था । तैत्तिरीय संहिता भी प्रारम्भ में जल (सलिल) की सत्ता स्वीकार करती है ।[6] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि पहले जल ही थे, उन जलों ने ही सत्य को रचा, सत्य ने ब्रह्म को तथा ब्रह्म ने प्रजापति को रचा ।[7] प्रस्तुत स्थल पर मूल तत्त्व को ही "सलिल" के नाम से अभिहित किया गया है । जिस प्रकार वेदान्त में प्रतिपादित अपञ्चीकृत जल दृश्यमान सामान्य जल से भिन्न है, उसी प्रकार ऋग्वेद में भी मूलतत्त्व के रूप में वर्णित जल सामान्य दृश्यमान जल से भिन्न है । इसी दृष्टिकोण से सम्भवतः मैकडानेल और मूर ने

---

1. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72.
2. ऋग्वेद 10.129.3 पर ग्रिफिथ एवं विल्सन के अनुवाद तथा मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग 5, पृष्ठ 357.
3. वही, सायण-भाष्य.
4. Undistinguishable water. वही, विल्सन का अनुवाद.
5. All was indiscriminated chaos. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
6. आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास । तैत्तिरीय संहिता 5.7.5.
7. आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम् ।
   बृहदारण्यकोपनिषद् – 5.5.1.

"अप्रकेतं सलिलम्" का अर्थ पृथक् या विभक्त न हो पाने वाला जल किया है ।[1] मैक्समूलर ने इसे प्रकाशरहित समुद्र कहा है ।[2] डॉ.अग्रवाल ने आपः तत्त्व का अर्थ प्रकृति या पञ्चभूतों की उस अवस्था से लिया है, जिसमें वह साम्यावस्था में विद्यमान रहता है ।[3] तात्पर्य यह है कि जब पञ्चतत्त्व या पञ्चभूत सर्वत्र व्याप्त थे और उनमें परस्पर कोई खिंचाव या तनाव नहीं था और साथ ही वैषम्य भी नहीं था, उसी अवस्था को "आपः" या "सलिल" कहते हैं । उस अवस्था में ये पञ्चभूत सलिल अर्थात् जलों के भीतर अज्ञात अवस्था में छिपे हुए थे ।

(12) तुच्छ्येन :- सायण ने तुच्छ्य का अर्थ "सदसद्विलक्षण भावरूप अज्ञान" किया है।[4] इस प्रकार वे इसे उपरि वर्णित तमः के रूप में ही मानते हैं । विल्सन ने इसका अर्थ "कुछ नहीं"[5] तथा ग्रिफिथ ने "शून्य और आकारहीन" किया है ।[6] वस्तुतः तुच्छ्य का अर्थ शून्यता ही है । यह शून्यता भी विश्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है । इस दृष्टि से तुच्छ्य का अर्थ सीमाभाव है । विश्व की सृष्टि के लिए सीमाभाव आवश्यक है । सीमा या परिधि के अन्तर्गत ही विश्व की स्थिति हो सकती है ।

---

1. मैकडॉनेल, ए.ए. – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209.
   मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग 5, पृष्ठ 357.
2. All this was a sea without light.
   मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 49.
3. The principle of आपः denotes diffused matter existing in a state of equilibrium and rest.
   अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – द स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर, पृष्ठ 72.
4. तुच्छेन तुच्छकल्पनेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेन । ऋग्वेद 10.129.3 सायण-भाष्य.
5. Covered by a mere nothing, वही, विल्सन का अनुवाद.
6. All that existed then was void and formless.
   वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.

⟦13⟧ **आभु** :– सायण ने इसका अर्थ "चारों तरफ से होने वाला" किया है ।[1] इस दृष्टि से जिसकी सर्वत्र सत्ता होगी वह "ब्रह्म" ही हो सकता है । त्रिवेदी ने भी इसका अर्थ "सर्वव्यापी" किया है ।[2] विल्सन ने इसे विश्व के अर्थ में प्रयुक्त माना है ।[3] मैक्समूलर ने इसे एक "अड्.कुर" माना है ।[4] वस्तुतः यहाँ सर्वोच्च सत्य या ब्रह्म तत्त्व के लिए ही "आभु" शब्द का प्रयोग किया गया है । यह आभु ही अपने किसी अंश में तुच्छ्य द्वारा प्रभावित होकर सृष्टि का रूप धारण करता है । वेड्.कट माधव ने भी आभु को ब्रह्म का ही वाचक माना है ।[5] प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्मरूप आभु को अज्ञानस्वरूप तुच्छ्य या माया द्वारा आवृत बताया गया है । इस दृष्टि से हमें यहाँ वेदान्त दर्शन की सृष्टि–प्रक्रिया का सड्.केत प्राप्त होता है, जो अनन्त ब्रह्म का माया या अज्ञान द्वारा आवरण हो जाने पर ही सम्भव होती है ।

⟦14⟧ तपस् :– ऋषि ने "आभु" अर्थात् परमतत्त्व को "तपस्" की महिमा द्वारा उत्पन्न बताया है । सायण ने "तपस्" को स्पष्ट करते हुए कहा है – वह एक अर्थात् कारणभूत तम के साथ अविभागता या एकरूपता को प्राप्त भी समस्त कार्यरूप जगत्, स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप के माहात्म्य से उत्पन्न हुआ । प्रकृत स्थल पर सायण ने उत्पाद्य पदार्थों के पर्यालोचन को तपस् कहते हुए प्रमाणस्वरूप मुण्डकोपनिषद् के वाक्य को उद्धृत किया है, जिसमें परमेश्वर के सर्वविध ज्ञान को तप कहा गया है ।[6] विल्सन ने तपस् को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि "तपस्" का अभिप्राय

---

1. आ समन्ताद्भवतीति आभु । ऋग्वेद 10.129.3, सायण भाष्य.
2. हिरियन्ना, एम. – भारतीय दर्शन की रूपरेखा ⟦हिन्दी अनुवाद⟧, पृष्ठ 41 पर उद्धृत.
3. That empty united (world) which was covered.....
   ऋग्वेद 10.129.3 पर विल्सन का अनुवाद.
4. मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 49.
5. ऋग्वेद 10.129.3 पर वेड्.कट माधव भाष्य.
6. एकम् एकीभूतं कारणे तमसाविभागतां प्राप्तमपि तत्कार्यजातं तपसः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येन अजायत उत्पन्नम् । तपसः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वं चान्यत्राम्नायते – "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः " । ⟦मुण्डकोपनिषद 1.1.9⟧ वही, सायण भाष्य.

कष्ट से न होकर उत्पाद्यमान वस्तुओं के प्रति विचारमग्नता है ।[1] ग्रिफिथ ने तपस्का अर्थ उष्णता (Warmth) तथा एकम् का अर्थ यूनिट किया है ।[2] यदि ग्रिफिथ के अर्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो यह ज्ञात होगा कि ब्रह्म की अनन्तता तथा सर्वव्यापकता के सम्मुख यह विश्व एक इकाई के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । ज्ञातव्य है कि ग्रिफिथ ने "एकम्" को विश्व का प्रतीक माना है न कि जीवतत्त्व या आत्मा का । शतपथब्राह्मण में भी सृष्टि के कारण के रूप में तपस् को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में एक प्रजापति ही था । उसने ध्यान किया कि "मैं कैसे प्रजारूप होऊँ ?" उसने श्रम किया, उसने तपश्चर्या की और उसने प्रजाएँ उत्पन्न की ।[3]
अविनाशचन्द्र बोस ने तपः को "आध्यात्मिक अग्नि" कहा है ।[4] उमेश मिश्र के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान एकमात्र चेतन तत्त्व को ही वैदिक ऋषि ने तपस् का नाम दिया है । कालान्तर में इसी से जगत् का विकास हुआ और यही सर्वव्यापक सत्ता है, जिससे ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति होती है ।[5] डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार तपस् का अर्थ है – बाहर निकल पड़ना, तात्कालिक बाह्य निष्कासन, एक अन्य सत्ता को बाहर प्रकट करना, शक्तियुक्त प्रेरणा, परमसत्ता का स्वाभाविक अन्तःस्थ धार्मिक जोश । इस तपस् के द्वारा ही हमारे सामने सत् और असत् दो विविध वस्तुएँ आती हैं, अर्थात् अहं और अहंभिन्न,, सक्रिय पुरुष और निष्क्रिय प्रकृति, रचनात्मक तत्त्व और अव्यवस्था में स्थित भौतिक प्रकृति । शेष सारा विकास इन्हीं दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों के एक–दूसरे के प्रति आघात–प्रत्याघात रूपी क्रिया का परिणाम है ।[6] मैकडानेल[7] और मैक्समूलर[8] ने तपस्

---

1. Tapas is said to mean not penance, but the contemplation of the things which were to be created.
   ऋग्वेद 10.129.3 पर विल्सन की टिप्पणी.
2. वही ग्रिफिथ का अनुवाद एवं टिप्पणी
3. प्रजापति र्वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत । स तपोऽतप्यत् । स प्रजा असृजत् । शतपथब्राह्मण 2.5.1.1.
4. Spiritual fire. बोस, अविनाशचन्द्र – हिम्स फ्राम द वेदाज, पृष्ठ 305.
5. मिश्र, उमेश – भारतीय दर्शन, पृष्ठ 36.
6. डॉ. राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद), भाग 1, पृष्ठ 92.
7. मैकडानेल, ए.ए. – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209.
8. मैक्समूलर – द सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ 49.

का अर्थ ऊष्मा (Heat) किया है । ऋग्वेद में भी अभीद्ध तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति बताई गई है ।[1] वहाँ सायण ने "अभीद्ध तपः" का अर्थ – ब्रह्मा द्वारा पहले सृष्टि हेतु किये गए तप से किया है ।[2] इन सभी उद्धरणों द्वारा यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सृष्टि के मूल में तपस् की प्रभूत महत्ता है । यदि सांख्य की दृष्टि से विचार किया जाय, तो "तपस्" पुरुष का प्रतीक प्रतीत होता है । वही परमव्योम में रहने वाले अध्यक्ष के रूप में भी निर्दिष्ट है । वह आदिपुरुष इस विश्व को उत्पन्न होने में अपना सहयोग देकर स्वयं उसका द्रष्टा मात्र रह जाता है । इस प्रकार तपस् रूपी पुरुष के सम्पर्क से अव्यक्त (प्रकृति) व्यक्त रूप धारण कर लेता है ।

(15) **कामः** :– चतुर्थ मन्त्र में यह बताया गया है कि सर्वप्रथम सृष्टि के प्रसङ्ग में काम उत्पन्न हुआ, जो मन का प्रथम बीज था । सायण ने काम का अर्थ "सृष्टि करने की इच्छा" किया है ।[3] ग्रिफिथ और विल्सन ने काम का अर्थ "इच्छा" किया है ।[4] यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो यह ज्ञात होगा कि इच्छा ही इस सृष्टि के मूल में विद्यमान है । शतपथब्राह्मण में प्रजापति के कामप्रयज्ञ का वर्णन उपलब्ध होता है ।[5] इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि यह सृष्टि प्रजापति की इच्छा या काम का ही परिणाम है । इस काम को सृष्टि के विकास के आधारभूत तत्त्व स्त्री–पुरुष के संयोग के रूप में भी देखा जा सकता है ।

(16) **मनसो रेतः** :– काम को मन का बीज कहा गया है । सायण ने यहाँ मनस् का अर्थ अन्तःकरण और प्रथमं रेतः का अभिप्राय "भावी प्रपञ्च का बीजभूत अतीत कल्प में प्राणियों द्वारा विहित प्रथम पुण्यात्मक कर्म" किया है ।[6] ग्रिफिथ ने मनसो रेतः का अर्थ "आत्मा का बीज" किया

---

1. ऋग्वेद 10.190.1.
2. अभीद्धादभितप्ताद् ब्रह्मणा पुरा सृष्ट्यर्थं कृतात्तपसोऽधि । वही, सायण–भाष्य.
3. मनसि कामः समवर्ततसम्यगजायत सिसृक्षा जातेत्यर्थः । ऋग्वेद 10.129.4, सायण–भाष्य.
4. वही, ग्रिफिथ एवं विल्सन के अनुवाद.
5. स परमेष्ठी प्रजापतिः पितरमब्रवीत्, कामप्रं वा अहं यज्ञमदर्शम् । शतपथब्रा. 11.1.6.17–19.
6. मनसः अन्तःकरणस्य सम्बन्धि.... । तादृशं रेतः भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं, प्रथमम् अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म । ऋग्वेद 10.129.4, सायण-भाष्य.

है ।[1] मैकडानेल[2] तथा विल्सन[3] ने इसे 'मन का बीज' कहा है । डॉ.अग्रवाल के अनुसार जो व्यष्टि का निर्माता तत्त्व है, उसे मनस् कहते हैं । वही अहङ्कार है । उसी की सञ्ज्ञा, चिति, संवेग तथा स्मृति आदि अनेक सञ्ज्ञाएँ हैं ।[4] अग्नि का समिन्धन या इन्द्र का जन्म ही मनस्तत्त्व है । ऋग्वेद में इन्द्र को मनस्वी देव के रूप में उत्पन्न बताया गया है ।[5] मन की शक्ति काम है । इसी बीज से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है । सांख्य दर्शन की दृष्टि से विचार करने पर यहाँ काम को महत् या बुद्धितत्त्व भी माना जा सकता है, क्योंकि मन्त्र में इसे मन का बीज या कारण बताया गया है और सांख्य में प्रकृति से उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व मनस् ही है । इसके बाद ही अहङ्कार, तन्मात्रों तथा मन सहित इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है ।

{17} **सतो बन्धुमसति निरविन्दन्** :– इस मन्त्रांश में यह बताया गया है कि कवियों या विद्वानों ने अपने हृदय में विचार करके सत् के बन्धु को असत् में प्राप्त किया । सायण ने यहाँ "सत्" को सत्त्वरूप में इस समय अनुभूयमान समस्त जगत् तथा "असत्" को सद्विलक्षण अव्याकृत कारण का वाचक माना है ।[6] मैकडानेल के अनुसार इसका अर्थ – ऋषियों ने विकसित जगत् का उद्गम अविकसित में पा लिया, है ।[7] मूर ने भी सत् को विकसित और "असत्" को अविकसित अवस्था का द्योतक माना है ।[8] ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर भी असत् से सत् की उत्पत्ति की चर्चा की गई है ।[9] आचार्य सायण ने यहाँ सत् और असत् का विवेचन करते हुए कहा है – उपादानकारण असत्,

---

1. Germs of Spirit. ऋग्वेद 10.129.4, ग्रिफिथ का अनुवाद.
2. Seed of mind. मैकडानेल – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209.
3. ऋग्वेद 10.129.4 का विल्सन द्वारा अनुवाद.
4. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – स्पार्कस् फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 73.
5. ऋग्वेद 2.12.1.
6. सतः सत्त्वेन इदानीमनुभूयमानस्य सर्वस्य जगतः बन्धुं बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं..... असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरविन्दन् निष्कृष्यालभन्त ।
   ऋग्वेद 10.129.4 पर सायण-भाष्य.
7. मैकडानेल – वैदिक रीडर, पृष्ठ 209.
8. मूर – ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग 5, पृष्ठ 360.
9. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत । ऋग्वेद 10.72.2.

अर्थात् नामरूप वर्जित होने के कारण असत् समान ब्रह्म से सत् अर्थात् नामरूपविशिष्टदेवादि उत्पन्न हुए ।[1] वेड्.कट माधव इसका अर्थ करते हुए कहते हैं – असत् अर्थात् ब्रह्म से देवताओं का कारणभू सत् उत्पन्न हुआ ।[2] उद्गीथ ने यहाँ असत् का अर्थ अव्यक्त और सत् का अर्थ व्यक्त किया है ।[3] शतपथब्राह्मण के अनुसार भी पहले असत् ही था । वहाँ इस असत् को ऋषि और प्राण के लिए भी प्रयुक्त किया गया है ।[4] इसी आधार पर डॉ.अग्रवाल ने विवेच्य स्थल पर भी असत् का अर्थ प्राणसृष्टि से लिया है तथा सत् का विश्व रूपी सृष्टि से ।[5] इस प्रकार प्रकृत स्थल पर विवेचित असत् और सत्, कारण तथा कार्य के रूप में ही व्यवस्थित प्रतीत होते हैं । सत् अर्थात् व्यक्त कार्य के बन्धु अर्थात् हेतु को कवियों ने असत् अर्थात् अव्यक्त (कारण) में ढूँढ लिया । इस प्रकार यहाँ हमें सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद का बीज स्पष्टतः परिलक्षित होता है, जिसके अनुसार सत् अर्थात् व्यक्त जगत् रूपी कार्य अपनी पूर्वावस्था में असत् अर्थात् अव्यक्त कारण में विद्यमान था ।

(18) अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् :– प्रस्तुत मन्त्रांश में मूल तत्त्व की स्थिति को दृष्टिगत करते हुए उसके स्थान के बारे में जिज्ञासा की गई है। सायण के अनुसार इसका अर्थ है – वह कार्यवर्ग पहले क्या तिरछा स्थित था ? अर्थात् मध्य में स्थित था ? अथवा नीचे था ?[6] कभी इसका मूल अधः अर्थात् बाहर की ओर मण्डल में और कभी ऊर्ध्व या असत् अर्थात् केन्द्र में है । यहाँ अधः का तात्पर्य भौतिक जगत् से है और उपरि का ब्रह्म से । वस्तुतः वह उस सूर्य की रश्मि के समान है, जो न ऊपर से है और न नीचे से, बल्कि वह किसी तिरश्चीन या तिरछे मार्ग से अर्थात् मध्य से आती है । यही प्राण का भी स्वभाव है । न तो वह नितान्त रहस्यमय है और न नितान्त भौतिक

---

1. तेषामुपादानकारणात् असतः नामरूपवर्जितत्वेनासत्समानाद् ब्रह्मणः सकाशात् सत् नामरूप–विशिष्टं देवादिकमजायत । ऋग्वेद 10.72.2, सायण-भाष्य.
2. वही, वेड्.कट माधव-भाष्य.
3. वही, उद्गीथ-भाष्य.
4. असद्वा इदमग्र आसीत् ।..... के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः ।
   शतपथब्राह्मण – 6.1.1.1.
5. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 74.
6. सः कार्यवर्गः प्रथमतः किं तिरश्चीनः तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत् किं वा अधः अधस्ताद् आसीत् । ऋग्वेद 10.129.5, सायण-भाष्य.

ही, किन्तु देव और भूत के सम्मिलन से उसका जन्म होता है । ऋग्वेद में इन्द्र का जन्म भी तिरछे रूप में ही बताया गया है ।[1] प्रकृत स्थल पर तात्पर्य यही है कि प्राणतत्त्व का जन्म न तो केवल व्यक्त से और न केवल अव्यक्त से ही होता है, अपितु उन दोनों के सम्मिलन से होता है, जो कि मध्यस्थानीय है । यदि प्राण केवल भौतिक होता, तो भी हम उसका पता पा जाते तथा वह यदि केवल अव्यक्त अर्थात् अभौतिक होता तो भी उसके विषय में निश्चित रूप से जाना जा सकता था, किन्तु यह उस सुपर्ण के समान है, जो आकाश से पृथ्वी पर आता है और इसी प्रकार तिरछा होकर प्रवृत्त होता है । कोई भी यह नहीं जानता कि वह कहाँ से आया है और कहाँ जाता है ? सांख्य की दृष्टि से विचार करने पर महत् के अहङ्कार में विकीर्ण होते ही प्रकृति की समष्टि करोड़ों व्यष्टियों में बदल जाती है और इसके साथ ही सृष्टि की सारी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । यहाँ "तिरश्चीनो विततः" द्वारा यह ध्वनि निकाली जा सकती है कि वह अव्यक्त तत्त्व ही व्यक्त होकर ऊपर नीचे तिर्यक् रूप में सृष्टि में सर्वत्र भासित होने लगा ।

{19} **रेतोधाः** :– सायण ने इस पद का अर्थ बीजभूत कर्म के कर्ता और भोक्ता से लिया है ।[2] विल्सन[3] और ग्रिफिथ[4] इसे बीजप्रदाता के अर्थ में लेते हैं । वस्तुतः मैथुनी सृष्टि के लिए बीज प्रदाता और बीजधारक दोनों का होना आवश्यक है । अतः यहाँ रेतोधाः पद द्वारा ये दोनों निर्दिष्ट प्रतीत होते हैं । गीता में श्रीकृष्ण ने अपने को बीजप्रदाता पिता तथा गर्भधारक दोनों बताया है ।[5]

{20} **महिमानः** :– सायण ने इसका अर्थ वियदादि भोग्य पदार्थों से लिया है ।[6] विल्सन

---

1. ऋग्वेद 4.18.2.
2. सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद्भावाः रेतोधाः रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः आसन् । ऋग्वेद 10.129.5, सायण-भाष्य.
3. Shedders of seed. वही, विल्सन का अनुवाद.
4. Begetters. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
5. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । गीता – 14.3.
   .....अहं बीजप्रदः पिता । वही, 14.4.
6. महान्तो वियदादयो भोग्याः आसन् । ऋग्वेद 10.129.5 पर सायण-भाष्य.

तथा ग्रिफिथ इसका अर्थ "शक्तिशाली" करते हैं ।[1] सायण इसे और स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीयारण्यक[2] के आधार पर यह प्रतिपादित करते हैं कि मायासहित परमेश्वर ने सृष्टि करने के उपरान्त उसमें प्रवेश करके स्वयं भोक्तृ तथा भोग्य के रूप में दो भाग किए ।[3] इस प्रकार रेतोधाः अंश भोक्ता है तथा महिमानः अंश भोग्य है । वस्तुतः उक्त दोनों विभाग देवों के ही हैं । उनका प्रथम रूप बीज है तथा द्वितीय महिमानः है, जो सर्वत्र परिधि के रूप में व्याप्त है ।

(21) **स्वधा** :- मन्त्र में स्वधा को निम्नस्तरीय कहा गया है ।[4] सायण ने इसे अन्न का वाचक मानते हुए इसका अर्थ भोग्यप्रपञ्च किया है ।[5] विल्सन ने भी इसे भोग्य के अर्थ में ही लिया है[6], किन्तु ग्रिफिथ ने स्वतन्त्र क्रिया का वाचक माना है ।[7] मैक्समूलर ने इसे "आत्मशक्ति" कहा है ।[8] डॉ. शर्मा इसे सत् धारक स्त्रीतत्त्व मानते हुए इसमें पार्थिवता की भावना करते हैं ।[9] वस्तुतः स्वधाशक्ति रहस्यात्मक है तथा इसका अर्थ कठिन है । यह भूतसृष्टि का कारण है और ब्रह्म में अपनी ही शक्ति से अवस्थित है । यह निम्नश्रेणी की है तथा इसका सम्बन्ध पितृगण से है । सम्भवतः इसीलिए डॉ. अग्रवाल ने इसे वाक् तत्त्व से सम्बद्ध किया है और परमेष्ठी रूप मातृत्व की शक्ति कहा है ।[10] मनु के अनुसार सर्वप्रथम ऋषियों की सृष्टि हुई । ऋषियों से ही पितर उत्पन्न

---

1. Mighty ऋग्वेद 10.129.5, विल्सन और ग्रिफिथ के अनुवाद.
2. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तैत्तिरीय आरण्यक 8.6.
3. एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्वं जगत् सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः । ऋग्वेद 10.129.5 पर सायण-भाष्य.
4. वही, ऋग्वेद 10.129.5.
5. अन्ननामैतत् । भोग्यप्रपञ्चः अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत् । वही, सायण-भाष्य.
6. Food वही, विल्सन का अनुवाद.
7. Free action. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
8. वही, मैक्समूलर का अनुवाद.
9. शर्मा, डॉ. मुंशीराम – वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 98.
10. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण – स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 75.

हुए ।[1] क्योंकि पितरों का सम्बन्ध स्वधा से है तथा पितर इसीलिए स्वधा को अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी का कहा गया है । स्वधा का सम्बन्ध पितरों से होना इस प्रकार भी प्रमाणित होता है कि अब भी पितरों को कव्य देते समय उनके नाम के साथ स्वधा का ही उच्चारण किया जाता है ।

(22) प्रयतिः :- सूक्त के पाँचवे मन्त्र में ही प्रयति को उच्चस्तरीय कहा गया है । सायण ने इसे भोक्ता-तत्त्व माना है ।[2] ग्रिफिथ ने इसे "ऊर्जा"[3] तथा मैकडानेल ने इसे "मानसिक शक्ति"[4] माना है । डॉ. शर्मा के अनुसार प्रयति को ऋत अर्थात् पुंस्तत्त्व कहा जा सकता है और इसमें दिव्यता विद्यमान है ।[5] डॉ. अग्रवाल के अनुसार प्रयति का सम्बन्ध उस महती शक्ति से है, जो संयती लोक में शान्त रहती है । उन्होंने इसे तप तथा सत्य के साथ ही जोड़ा है, जो स्वयम्भू का मनस्तत्त्व है ।[6] मैक्समूलर "प्रयति" का अर्थ इच्छाशक्ति करते हैं ।[7] वस्तुतः प्रयति प्राणतत्त्व है । इसे बीज भी कहा जा सकता है तथा इसका सम्बन्ध देवगण से है । प्रयति पर या उत्कृष्ट है तथा स्वधा अवर है ।

मन्त्र में आए हुए रेतोधाः, महिमानः, स्वधा और प्रयतिः इन चारों पदों पर विचार करने के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि स्वधा का सम्बन्ध महिमानः से तथा प्रयतिः का रेतोधाः से है ।

(23) अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन :- सूक्त के छठें मन्त्र में ऋषि ने इस सृष्टि के तत्त्वज्ञों के बारे में जिज्ञासा की है । इसके अतिरिक्त वह यह भी जानना चाहता है कि इस सृष्टि के उपादान कारण और निमित्त कारण क्या हैं ? इस प्रकार यहाँ हमें संशयवादी प्रवृत्ति के दर्शन

---

1. ऋषिभ्यः पितरो जाताः । मनुस्मृति - 3.201.
2. प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत् । ऋग्वेद 10.129.5 पर सायण भाष्य.
3. Energy up yonder वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
4. मैकडानेल - वैदिक रीडर, पृष्ठ 209.
5. शर्मा, डॉ. मुंशीराम - वेदार्थ-चन्द्रिका, पृष्ठ 98.
6. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण - स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 75.
7. ऋग्वेद 10.129.5 पर मैक्समूलर का अनुवाद.

होते हैं । यदि देवताओं को सृष्टि–तत्त्व से अभिज्ञ कहा जाए तो यह भी असङ्गत होगा, क्योंकि देवों की उत्पत्ति सृष्टि के बाद हुई है । अतः वे अपने पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी सृष्टि के आदिकारण को कैसे बता सकते हैं ? सायण ने देवताओं की सृष्टि भूतसृष्टि के पश्चात् ही प्रतिपादित की है ।[1] वस्तुतः द्युलोक और पृथिवी की सभी शक्तियाँ देवमयी हैं । यजुर्वेद में इन सभी शक्तियों को दिव्य और पार्थिव इन्द्रिय कहा गया है ।[2] स्वयम्भू और परमेष्ठी अव्यक्त तत्त्व हैं तथा इन्हीं से सृष्टि–प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । इस क्रम में सर्वप्रथम द्यावापृथिवी अस्तित्व में आते हैं । प्रथम देव सूर्य द्युलोक का ही देवता है । उसके बाद ही अन्य देवों का अस्तित्व हमारे सम्मुख आता है ।[3] इस प्रकार देवताओं की सृष्टि बाद में हुई, अतः वे इसके आदिकारण को नहीं जान सकते । जब देवता तक इसे नहीं जानते, तो उनके भी बाद में सृष्ट होने वाले मनुष्य इसे कैसे जानेंगे ?

(24) यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् :– सूक्त के अन्तिम मन्त्र में ऋषि, सृष्टि के कारण की जिज्ञासा में आकुल हो उठता है और इसका कोई निराकरण न प्राप्त करके परम व्योम में स्थित इसके अधिपति को ही इस विषय का ज्ञाता अथवा अपनी बुद्धिसीमा से परे होने के कारण उसके ज्ञातृत्व में भी संशय उपस्थित करते हुए अपनी जिज्ञासा का अवसान करता है । एक अन्य स्थल पर भी सृष्टि के अधिष्ठान के बारे में जिज्ञासा करते हुए कहा गया है – वह कौन सा वन था तथा उस वन का वृक्ष क्या था, जिससे विधाता ने द्युलोक और पृथिवी इन दोनों लोकों का तक्षण किया ? हे प्रज्ञावान् तत्त्वदर्शिन् । अपनी मानसिक शक्ति से इन प्रश्नों पर विचार करो कि इन भुवनों को धारण करने वाला तथा इनका अधिष्ठाता कौन है ?[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण में उक्त मन्त्र का उत्तर देते हुए कहा गया है – ब्रह्म वह वन है, ब्रह्म ही वह वृक्ष है, जिसके द्वारा देवताओं ने द्यावापृथिवी का

---

1. देवाः च अस्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतोत्पत्यनन्तरं विविधं यद् भौतिकं सर्जनं सृष्टिस्तेन अर्वाक् अर्वाचीनाः कृतः । भूतसृष्टेः पश्चात् जाता इत्यर्थः ।
   ऋग्वेद 10.129.6 पर सायण-भाष्य.
2. शुक्ल यजुर्वेद – 7.3.
3. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 10.72.2, 3, 8, 9 तथा 7.
4. किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
   मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ।। ऋग्वेद 10.81.4.

निर्माण किया । हे प्रज्ञावान् मनीषियो । मैं अपने विचार की शक्ति से यह कहता हूँ कि भुवनों को धारण करने वाला उनका अधिष्ठाता ब्रह्म ही है ।[1] उक्त दोनों उद्धरणों में जिस अनन्त वन की ओर सङ्केत किया गया है, वह परात्पर ब्रह्म है, जिसके गर्भ में अनेक विश्व लीन हैं । जो असंख्य सृष्टियों को अपनी कुक्षि में धारण करता है । एक–एक विश्व एक–एक वृक्ष के समान है । जिस प्रकार किसी बड़े अरण्य में अनेक वृक्ष होते हैं, उसी प्रकार उस ब्रह्म में अनेक विश्व हैं । ऐसे ब्रह्म को ही परात्पर कहते हैं । डॉ.अग्रवाल ने इस ब्रह्म–वन समीकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है – परात्पर ब्रह्म वन या अरण्य के समान है । उस अरण्य की अधिष्ठात्री शक्ति देवी अरण्यानी है, जो ब्रह्म की ही नित्य–अचिन्त्य शक्ति है । उस वन का प्रत्येक वृक्ष अव्यय ब्रह्म है और उस अव्यय वृक्ष में अनन्त शाखाएँ होती हैं । अतएव उसे सहस्रवल्श वनस्पति कहा जा सकता है । वल्शाकार शाखा है । एक–एक शाखा एक–एक विश्व है । एक–एक शाखा उस अव्यय अवत्थ का एक अंश है । इस प्रकार वन, वृक्ष और शाखा – ये तीनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, पर तीनों का मूल स्वरूप एक ही ब्रह्मतत्त्व है ।[2] सायण ने परमेव्योमन् का अर्थ – सत्यभूत आकाश अर्थात् आकाश के समान निर्मल स्वप्रकाश में, अथवा विशेष रूप से तृप्त अर्थात् निरतिशयानन्द स्वरूप में, अथवा विशेष रूप से व्याप्त अर्थात् देशकाल वस्तुओं से अपरिच्छिन्न में, अथवा विशेष ज्ञाता अर्थात् विशिष्ट ज्ञानात्मा में किया है ।[3] सायण प्रतिपादित ये सभी अर्थ वेदान्त से प्रभावित हैं । सांख्य की दृष्टि से विचार करने पर "अध्यक्ष" को पुरुष का प्रतीक माना जा सकता है । पुरुष स्वयं सृष्टि को उत्पन्न नहीं करता, केवल उसका प्रतिबिम्ब उस पर पड़ता है । वह इस विश्व–प्रपञ्च को उत्पन्न होने में अपना सहयोग देकर स्वयं इसे देखा करता है । चाहे वह अध्यक्ष सांख्य का पुरुष हो या वेदान्त का ब्रह्म, इससे उसकी परमावस्था में कोई अन्तर नहीं हो सकता । ऋषि का तात्पर्य यही है कि इस सृष्टि–रहस्य को इसका स्रष्टा ही जान सकता है ।

---

1. ब्रह्म तद्वनं ब्रह्म स उ वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
   मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।। तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.8.9.
2. अग्रवाल, डॉ.वासुदेवशरण – वेदरश्मि, पृष्ठ 79.
3. परमे उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमन्याकाशे आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे । यद्वा व्योमनि विशेषेण तृप्ते । निरतिशयानन्दस्वरूपे इत्यर्थः । व्योमनि विशेषेण गते व्याप्ते । देशकालवस्तुभिर–परिच्छिन्न इत्यर्थः । अथवा व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि । इदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः । ऋग्वेद 10.129.7 पर सायण-भाष्य.

[ग] नासदीय सूक्त में निहित दार्शनिक सिद्धान्त :-

सृष्टि-विद्या अतीव गूढ़ और गम्भीर है । आदिकाल से ही सभी विचारकों ने इसका भेद जानने के लिए अपने-अपने ढंग से प्रयास किए हैं । वे सारे प्रयास एक दार्शनिक सरणि के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं । नासदीय सूक्त सृष्टि-विद्या की कुञ्जी है । इसमें दृष्टिपात करने पर हमें सृष्टि-सम्बन्धी अनेक मतों के बीज उपलब्ध होते हैं, जिनका पल्लवन संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । इस दृष्टि से पण्डित मधुसूदन ओझा की कृति "दशवाद-रहस्य" का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है । उक्त ग्रन्थ में ओझा जी ने विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध सृष्टि-सम्बन्धी दश सिद्धान्तों के बीज को नासदीय-सूक्त में उपपन्न किया है । यहाँ उन दशों वादों का परिचय देना अपेक्षित है ।

[1] **सदसद्वाद** :- इस विचारधारा के अनुसार इस सत् सृष्टि की उत्पत्ति असत् कारण से हुई है । इसमें असत् को कारण तत्त्व तथा सत् को कार्य माना गया है । ऋग्वेद में ही दो युगों का सङ्केत उपलब्ध होता है - पूर्व्य युग तथा उत्तर युग ।[1] पूर्व्य युग में असत् से सत् की उत्पत्ति बताई गई है ।[2] ठीक यही बात नासदीय सूक्त में भी आई है, जिसमें सत् के बन्धु को असत् में प्राप्त करने की बात कही गई है ।[3] ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में सत् और असत् दोनों को परम व्योम में स्थित बताया गया है तथा वहीं दक्ष एवं अदिति के जन्म दर्शाए गए हैं ।[4] इसी तथ्य को शतपथब्राह्मण में और भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है - यह असत् ही सर्वप्रथम था । वह असत् क्या था ? प्रारम्भ में ऋषि ही असत् थे । वह ऋषि कौन थे ? प्राण ही ऋषि थे ।[5] इस प्रकार सर्वप्रथम ऋषियों की सृष्टि बताई गई है । वह ऋषि प्राण के प्रतीक हैं । अतः प्राणसृष्टि असत् है तथा भूतसृष्टि सत् । इस प्रकार असत् द्वारा ही सत् की सृष्टि प्रमाणित होती है । यही सदसद्वाद है ।

---

1. ऋग्वेद 10.72.1.
2. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत । वही, 10.72.2.
3. वही, 10.129.4.
4. असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे । वही, 10.5.7.
5. असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीदिति । ऋषयो वाव ते अग्रे असदासीत् । तदाहुः के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः । शतपथब्राह्मण 6.1.1.1.

(2) रजोवाद :- नासदीय सूक्त में निहित दूसरा सिद्धान्त रजोवाद है । रजस् को सृष्टि का आरम्भण या उपादान कारण कहा गया है ।[1] सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही रजस् की सत्ता का निषेध किया गया है । अन्यत्र कहा गया है कि सभी देवता जल में स्थित थे । सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के समय सारे देवता नृत्य करने लगे । देवों के नृत्य से रेणु के गर्भ कण ऊपर उठे ।[2] यह रेणु ही रजोरूप है तथा सृष्टि का उपादान कारण है ।

ऋग्वेद में हमें रजस् की एक अन्य धारणा भी उपलब्ध होती है । इसके अनुसार रजस् के दो भेद हैं – कृष्णरजस् और शुक्लरजस् ।[3] कृष्णरजस् का सम्बन्ध मूलतत्त्व से है तथा शुक्लरजस् का इस विकसित जगत् से । ये दोनों एक–दूसरे को पुष्ट करते हैं तथा पूरक भी हैं । इन्हें रात और दिन के रूप में भी देखा जा सकता है । ये दोनों रजस् चक्रवत् घूमते रहते हैं । ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि कृष्ण और शुक्ल यह दो रोचनाओं का युग्म है। इनमें से जो कृष्ण है, वह दीप्त नहीं होती तथा जो शुक्ल है, वह चमकती रहती है । इन दोनों का जन्म एक ही मातृ–पितृ–तत्त्व से होता है अतः ये दोनों बहनें हैं । जिससे ये दोनों जन्म ग्रहण करती हैं, वह महत् देवतत्त्व है तथा एक ही प्राणतत्त्व से युक्त है ।[4] वैदिक रजस् को गतितत्त्व भी कहा जा सकता है तथा इसके विपरीत दूसरा तत्त्व स्थिति है । स्थितितत्त्व का सम्बन्ध "अज" से है और रजस् या गति का सम्बन्ध इस सृष्ट जगत् से । इनमें से अजतत्त्व अव्यय पुरुष है तथा रजस् अक्षर पुरुष से सम्बद्ध है । अज तत्त्व से छः रजों का जन्म हुआ ।[5] ऋग्वेद में इन रजों को षड्उर्वी कहा गया है ।[6] इस प्रकार रजोवाद के बीज हमें नासदीय सूक्त में उपलब्ध हो जाते हैं ।

---

1. "आरम्भणं तत्त्वमिहोच्यते रजः" । अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण, स्पार्क्स फ्राम द वैदिक फायर, पृष्ठ 61 पर उद्धृत.
2. यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ।। ऋग्वेद 10.72.6.
3. अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि । वही, 6.9.1.
4. वही, 3.55.11.
5. वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् । वही, 1.164.6.
6. षडुर्वीरेकमिद् बृहत् । वही 10.14.16 तथा – देवीः षडुर्वीरुरु । वही 10.128.5.

(3) **व्योमवाद** :- इस सिद्धान्त का सम्बन्ध व्योम से है, जो आकाश के रूप में जाना जाता है । व्योम समस्त पदार्थों का मूलतत्त्व है, क्योंकि इसी के आश्रय में सबका अस्तित्व है । ऋग्वेद में भी परमव्योम का अनेक बार उल्लेख हुआ है । इसे सारे देवों तथा वाक् के आश्रय के रूप में चित्रित किया गया है । यह अमृत है । इसका क्षय कभी नहीं होता । वस्तुतः व्योम के दो रूप हैं – परम व्योम तथा व्योम । परम व्योम अमर्त्य तथा व्योम मर्त्य है । परम व्योम दैवी है तथा व्योम भौतिक तत्त्व है । परमव्योम में स्थित "वाक्" को अमर्त्या वाक् कहते हैं । मनुष्यों की वाक् मर्त्या वाक् है तथा इसका सम्बन्ध मर्त्याकाश या व्योम से है, जो प्रलय में नष्ट हो जाता है तथा सृष्टि के समय पुनः उद्भूत होता है । अमृता वाक् को ही "सहस्राक्षरा वाक्" कहते हैं ।[1]

(4) **परावरवाद** :- इसकी एक सञ्ज्ञा "अपरवाद" भी है । इसका सम्बन्ध दो सापेक्ष शब्दों – पर और अपर से है । इन्हें कुछ और युग्मों के साथ समझा जा सकता है – पूर्ण और सापेक्ष, दिव्य और लौकिक, ऊर्ध्व तथा अधः और एक तथा बहुधा । परावरवाद की धारणा भी सृष्टि की मौलिक धारणा है । इसे ही नासदीय सूक्त में अवस्तात् तथा परस्तात् कहा गया है ।[2] विश्वरूपी वृक्ष की जड़ें ऊर्ध्व में स्थित हैं तथा इसकी शाखाएँ अधस्तात् हैं । गीता में इसे अश्वत्थ वृक्ष के रूप में प्रतिपादित किया गया है ।[3] परतत्त्व अन्तरजायमान है तथा अपरतत्त्व बहुधा विजायमान है । यही वैदिक परावरवाद है । पर का प्रतीक इन्द्र है तथा अवर या अर्वाक् का सोम । ये दोनों ही परस्पर अवियोज्य युग्म के रूप में सम्बद्ध होकर गतिशील रहते हैं ।[4]

(5) **आवरणवाद** :- नासदीय सूक्त की प्रथम पङ्क्ति में ही इस सिद्धान्त के बीज दृष्टिगत होते हैं । वहाँ विश्व के मापक के बारे में पूछा गया है, जो निर्मित होने वाले तत्त्वों का परिमाण बताता है । सृष्टि के रूप में आकार ग्रहण करने वाली सभी वस्तुएँ सीमित होती हैं ।

---

1. सहस्राक्षरा परमे व्योमन् । ऋग्वेद 1.164.41.
2. वही, 10.129.5.
3. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
   छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। गीता 15.1.
4. इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति । ऋग्वेद 1.164.19.

आवरण के द्वारा ही जायमान विश्व की मर्यादा तथा माप सुनिश्चित होती है । जितने भी उत्पन्न पदार्थ हैं, सबके पृथक्–पृथक् द्यावापृथिवी हैं । अर्थात् उनको जन्म देने वाले मातृ–पितृ–तत्त्वों के युग्म पृथक् हैं । बिना द्यावापृथिवी की उद्भावना के वैदिक सृष्टि–प्रक्रिया हो ही नहीं सकती । इन दोनों में भी पृथिवी भौतिक सृष्टि का प्रतीक है, जो मर्त्य है और द्युलोक अव्यक्त स्रोत का प्रतीक है, जो अमृत है । पृथिवी मातृस्वरूपा है तथा विशाल धरित्री है ।[1] माता शब्द का अर्थ ही यह है कि जो माप करे । माता की कुक्षि ही इस बात का निश्चय करती है कि किसी भी उत्पन्न पदार्थ की सीमा और मर्यादा या माप क्या होगी । पिता वह अमृत तत्त्व है, जिससे की मर्त्य गर्भ माता के द्वारा जन्म लेता है ।

आवरणवाद को माया के रूप में भी देखा जा सकता है । जिस शक्ति से सभी पदार्थों का मान या मापन होता है, वही माया है । परम व्योम का अधिष्ठातृ स्वरूप इन्द्र बहुधा भावों को अपनी माया शक्ति से ही धारण करता है ।[2] किसी भी उत्पन्न होने वाली वस्तु के लिए दो बातों का होना आवश्यक है – आकार एवं स्वरूप । आकार से केन्द्र या नाभि का निर्धारण होता है और स्वरूप से परिधि या मण्डल का । ऋग्वेद में ही प्रमा और प्रतिमा के बारे में जिज्ञासा की गई है ।[3] नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में आया "शर्मन्" पद भी आवरण का ही द्योतक है, क्योंकि यह आश्रय का वाचक है और आश्रय में ही व्यक्ति वेष्टित या सीमित रहता है ।

(6) **अम्भोवाद** :– यह भी वैदिक ऋषियों का एक मूलभूत दर्शन था । इसके अनुसार अथाह जलराशि ही इस सृष्टि का मूल स्रोत है । ऋग्वेद में जलों के लिए अम्भः, आपः, सलिलम्, समुद्रः, सोमः, ऋतम्, अर्णवः इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है । जल का अर्थ है, वह स्थितिशील अवस्था, जिसमें सम्पूर्ण प्रकृति लीन थी और वह अभी व्यक्त रूप में नहीं आई थी । उस प्रकार की अव्यक्त कृष्ण या स्थितिशील व्यवस्था से गति या प्रकाश का जन्म होता है । वह प्रकाश ही अग्नि

---

1. वाजसनेयी संहिता – 23.10.
2. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
   इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ।। ऋग्वेद 6.47.18.
3. कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानम् । वही, 10.130.3.

है । वही अग्नि ऋत का प्रथमजा है ।[1] ऋग्वेद में अग्नि को गर्भ में धारण करने वाली जलराशि की चर्चा की गई है ।[2] और भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें जलों द्वारा गर्भ-धारण करने का प्रसङ्ग आया है ।[3] अग्नि को "अपांगर्भः" कहा गया है ।[4] ऋग्वेद में ही अग्नि द्वारा जलों में प्रवेश करने की बात कही गई है ।[5] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि देवों ने सुन्दर अग्नि को जलों के अन्दर प्राप्त किया ।[6] इस प्रकार इस सृष्टि के लिए जल मूल तत्त्व है । इसी को "अम्भोवाद" के नाम से जाना जाता है । नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का चतुर्थ पाद इसी तथ्य को निर्दिष्ट करता है ।

[7] **अमृत–मृत्युवाद** :– नासदीय सूक्त का दूसरा मन्त्र, सुप्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त "अमृत–मृत्युवाद" को जन्म देता है । अमृत पद देवताओं का द्योतक है और मृत्युतत्त्व भूतों का । एक ऊर्जा है, तो दूसरा द्रव्य या पदार्थ है,एक दैवी है, तो दूसरा मानवीय । एक देश–कालातीत है, तो दूसरा देशकालपरिच्छिन्न । एक स्थिति तत्त्व को द्योतित करता है, तो दूसरा गतितत्त्व को । पण्डित ओझा ने अमृत और मृत्यु को समझाते हुए कहा है कि अमृत और मृत्यु, ये दोनों विश्व के मूल हैं । इनमें जो अविनाशी है, वह स्थितिलक्षण है तथा जो गतिमान् है, वह विनश्वर या मृत्युरूपी लक्षण वाला है ।[7] अमृत के प्रतीक देवता हैं और मृत्यु के भूत । अग्नि का सम्बन्ध दोनों से है । यह देव तथा भूत दोनों में प्रविष्ट है ।[8] ओझा जी के शब्दों में – इस सृष्टि में अमृत तत्त्व रसप्रधान है और मृत्युतत्त्व बलप्रधान ।[9] प्रजा का अर्थ है – जन्म तथा मृत्यु का मरण । इस आशय का एक मन्त्र

---

1. ऋग्वेद 10.5.7.
2. वही, 10.121.7.
3. वही, 10.82.5 तथा 6.
4. वही, 3.5.3.
5. वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु । वही, 7.49.4.
6. वही, 3.1.3.
7. अमृतं मृत्युरिति द्वयमेतद् विश्वस्य मूलमिति विद्यात् ।
   अविनाशी स्थितिलक्षणममृतं गतिमान् विनश्वरो मृत्युः । ओझा, मधुसूदन – दशवादरहस्य, पृ.15.
8. भूतानि मृत्योरमृतं च देवास्तेषूभयेष्वग्निरयं निविष्टः । वही, पृष्ठ 16.
9. रसोबलं चेत्यमृतं च मृत्यूरसप्रधानान्यमृतानि सृष्ट्याम् ।
   बलप्रधानास्त्विह मृत्यवः स्युर्न मृत्यवः सन्त्यमृतातिरेकात् ।। वही, पृष्ठ 17.

हमें ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है ।[1] अमृत और मृत्यु ये दोनों एक ही वृत्त के दो भाग हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि नासदीय सूक्त में अमृतमृत्युवाद का सिद्धान्त बीजरूप में विद्यमान है ।

{8} **अहोरात्रवाद** :- अहोरात्रवाद, कालसिद्धान्त का ही एक रूप है, जिसके अनुसार काल को सृष्टि का प्रमुख कारण माना जाता है । अथर्ववेद में इस सिद्धान्त की तत्त्वमीमांसा का भलीभाँति प्रतिपादन किया गया है । उसमें काल को सर्वातिशायी तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।[2] सृष्टि में उत्पादित सभी वस्तुएँ काल रूपी रथ के चक्र हैं । काल सर्वव्यापी है ।दिन तथा रात उसके दो रूप हैं । इसके अन्य अनेक रूप भी हैं । जैसे – प्रकाश और अन्धकार, शुक्ल और कृष्ण, सोम और अग्नि, सृष्टि और प्रलय, जन्म और मृत्यु, स्वर्ग और पृथिवी इत्यादि । ऋग्वेद में अहोरात्र के लिए अहः पद का प्रयोग किया गया है ।[3] गीता में भी अहोरात्रवाद का उल्लेख किया गया है । वहाँ सहस्रों युगों को ब्रह्मा का एक दिन तथा सहस्रों युगों की ही उनकी एक रात बतायी गई है ।[4] अहः गति का प्रतीक है तथा रात्रि प्रकृति का । अहः जागरण है तथा रात्रि निद्रा है ।अहः तथा रात्रि – ये दोनों महाकाल के प्रतीक हैं, जो इस सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त है । वह काल या समय के प्रत्येक क्षण में प्रविष्ट है । अहः सृष्टि का प्रतीक है तथा रात्रि या प्रकृति प्रलय का । ओझा जी ने भी रात्रि को स्वयं प्रकृति के रूप में तथा अहः को उसके विकार के रूप में प्रतिपादित किया है।[5] अहोरात्रवाद का यह वैदिक सिद्धान्त भी नासदीय सूक्त के द्वितीय मन्त्र में ही उपलब्ध होता है, जिसमें सृष्टि के पूर्व रात्रि तथा दिन के प्रज्ञापक तत्त्व का अभाव प्रतिपादित किया गया है ।

---

1. ऋग्वेद 10.72.9.
2. इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
   सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ।।
   अथर्ववेद 19.54.5 तथा द्रष्टव्य वही, 19.53.2, 5, 8 तथा 19.54.2, 3, 4.
3. ऋग्वेद 6.9.1.
4. सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
   रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।। गीता – 8.17.
5. रात्रिः पुरस्ताद् तदहश्च पश्चादहः परस्तात् स्वयमेव रात्रिः ।
   विकारतोऽहः प्रकृतिस्तु रात्रिः सैषा गतिः सा प्रभवः प्रतिष्ठा ।।
   ओझा, मधुसूदन – दशवादरहस्य, पृष्ठ 20.

(9) देववाद :– नासदीय सूक्त के छठें मन्त्र में देवों की चर्चा आई है । हमें वहाँ एक ऐसी प्राक्कल्पना का आभास मिलता है कि यह सृष्टि देवों द्वारा की गई है, किन्तुसम्भवतः इस परिकल्पना के मन में आते ही ऋषि ने इसका निराकरण इस प्रकार कर दिया है कि "देवता इस सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, अतः वे इसके रहस्य या आदिम स्रोत को नहीं जान सकते । यह सृष्टि एक यज्ञ है । यज्ञ का निष्पादन देवों के बिना सम्भव नहीं है । यहाँ तक कि पुरुष–सूक्त (ऋग्वेद 10.90) में देवता ही सृष्टि–यज्ञ का निष्पादन करते बताए गए हैं ।[1] इस प्रकार यज्ञीय या सृष्टि–प्रक्रिया से उनकी पूर्णतः अभिज्ञता प्रकट है । देवतत्त्व का निर्देश ऋग्वेद की प्रथम ऋचा में ही कर दिया गया है ।[2] शतपथ[3] तथा ऐतरेय[4] ब्राह्मणों में अग्नि को सर्वदेवमय बताया गया है । ऋग्वेद में भी अग्नि को ऋत का प्रथमजा कहा गया है ।[5] अग्नि में सभी देवों की सत्ता वर्तमान रहती है, क्योंकि उसी के मुख द्वारा वे सभी भोजन करते हैं । वह सभी देवों का आह्वान भी करता है ।[6] इस प्रकार अग्नि में सभी देवताओं की भावना प्रमाणित है । वह अग्नि प्रथम जन्म लेने वाला तथा प्रथम पूज्य है, अतः देवत्व निश्चित रूप से सृष्टि–विद्या का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । देवता दैवी सृष्टि के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान हैं । इस सृष्टि के मूल–मनस्, प्राण तथा भूत हैं और ऋषियों के इस ज्ञान के प्रति थोड़ा भी संशय नहीं किया जा सकता है कि उनके मन में देवताओं की शक्ति (क्षमता) के विषय में कोई शङ्का थी । देवतत्त्व वस्तुतः प्रकाश का द्योतक है, जो सभी स्थानों तथा सभी कालों में देदीप्यमान है । देवताओं की दिव्यता प्राणतत्त्व के रूप में है । यह प्राणतत्त्व देवताओं का भी आधार है । ऋग्वेद के ही एक मन्त्रांश द्वारा इनकी प्राणतत्त्वशीलता को प्रतिपादित किया गया है, जहाँ सभी देवों में एक महत् असुरत्व की भावना की गई है।[7] "असु" प्राण को कहते हैं, अतः

---

1. ऋग्वेद – 10.90.6–7.
2. यज्ञस्य देवम् । ऋग्वेद 1.1.1.
3. सर्वदेवत्योऽग्निः । शतपथब्राह्मण – 6.1.2.28.
4. अग्निः सर्वा देवताः । ऐतरेय ब्राह्मण 2.3.
5. ऋग्वेद 10..5.7.
6. स देवाँ एह वक्षति । वही, 1.1.2.
7. महद्देवानामसुरत्वमेकम् । ऋग्वेद 3.55.1.

"असुर" (प्राणदायक) शब्द द्वारा ही देवताओं की प्राणमत्ता प्रतिपादित हो जाती है । यह सृष्टि भी प्राण बिना निष्प्राण (निर्जीव) है,अतः इसके मूल कारण के रूप में देवताओं की स्थिति सिद्ध है । इस प्रकार "नासदीय सूक्त" में ही हमें देववाद के मूल बिन्दु प्राप्त हो जाते हैं ।

(10) संशयवाद :- यह वैदिक दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसके दो भेद किये जा सकते हैं - संशयवाद और ब्रह्मवाद । नासदीय सूक्त के छठें तथा सातवें मन्त्रों में संशयवाद को पर्याप्त आधार प्रदान किया गया है । उनमें ऋषि ने संशय उपस्थित करते हुए कहा है कि यहाँ वस्तुतः कौन जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से जन्म ग्रहण करके आई है? देव भी इस सृष्टि के बाद हुए हैं, अतः दूसरा कौन बता सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई ? संशय की चरम स्थिति वहाँ आती है, जब ऋषि ने इसके अध्यक्ष में ही इसके ज्ञान को निहित बताया, तथा आगे चलकर उसके ज्ञान के प्रति भी संशय ही प्रकट किया । इस प्रकार की संशयवादी प्रवृत्ति हमें ऋग्वेद में ही अन्य स्थलों पर भी उपलब्ध होती है । एक मन्त्र में कहा गया है कि तुम उसे नहीं जान सकते, जिसने इस विश्व को जन्म दिया है ?[1]

संशयवाद का दूसरा पक्ष "ब्रह्मवाद" है । नासदीय सूक्त में ही इसके बीज भी हमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं । यद्यपि उसमें स्पष्ट रूप से कहीं भी "ब्रह्म" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि वहाँ हमें अनेक तद्वाचक शब्द उपलब्ध हो जाते हैं । ऐसे शब्दों में द्वितीय मन्त्र के तृतीय पाद में आया "तदेकम्" पद है । इसके ही आगे आने वाला दूसरा पद "तस्मात्" भी परमतत्त्व को ही द्योतित करता है । पुनश्च तीसरे मन्त्र में आया "आभु" शब्द भी ब्रह्म के अर्थ में ही प्रयुक्त प्रतीत होता है । इसी मन्त्र के अन्तिम पद "एकम्" से भी ब्रह्म का ही निर्देश प्राप्त होता है । अन्ततः सातवें मन्त्र में "अध्यक्ष" शब्द का प्रयोग किया गया है, जो परमव्योम में निवास करता है । निश्चित रूप से यह शब्द भी ब्रह्म या परमतत्त्व का ही प्रतीक है ।इस प्रकार ऋषि ने संशय उठाकर उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है । ऋग्वेद में अन्यत्र भी हमें संशयवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं ।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संशयवाद तथा ब्रह्मवाद, इन दोनों की आधारभूमि नासदीय सूक्त ही है ।

---

1. न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । ऋग्वेद 10.82.7.
2. किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस । ऋग्वेद 10.81.4.

नासदीय सूक्त एक नहीं, अनेकानेक दार्शनिक सिद्धान्तों का जन्मस्थान है । यह विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिन्तनधारा का मौलिक परिचायक है। वस्तुतः इसमें सृष्टि की तत्त्वमीमांसीय समीक्षा प्रस्तुत की गई है । द्वितीय मन्त्र में आया "एकम्" पद प्राण का प्रतीक है । इस दृष्टि से वह तत्त्व श्वास ले रहा है, किन्तु इसके लिए उसको भौतिक वायु की आवश्यकता नहीं है । वह अपनी ही स्वधा से प्राणन–क्रिया कर रहा है । यह एक अज्ञात रहस्य है, जिसकी विचिकित्सा स्वाभाविक है । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नासदीय सूक्त दार्शनिक दृष्टि से ऋग्वेद का सर्वोच्च निदर्शन है । इसमें जितनी स्पष्टता के साथ तत्त्वों को विवेचित किया गया है, प्रायः वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

अध्याय – 9

"अघमर्षणसूक्त" (ऋग्वेद – 10.190) एवं उसमें प्रतिपादित सृष्टि

(क) सूक्त का परिचय

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा

- (1) ऋतम्
- (2) सत्यम्
- (3) अभीद्ध तपस्
- (4) विश्वस्य मिषतो वशी
- (5) धाता

(ग) सूक्त में प्रतिपादित सृष्टि

(क) सूक्त का परिचय :-

ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ नब्बेवाँ सूक्त "अघमर्षण सूक्त" या "ऋतं च सत्यं च" सूक्त के नाम से जाना जाता है । इसके ऋषि मधुच्छन्दस् के पुत्र अघमर्षण तथा देवता "भाववृत्त" हैं। सायण ने इस सूक्त के देवता का निर्धारण करते हुए बताया है कि इसमें रात्रि इत्यादि भावों के सृष्ट्यादि का प्रतिपादक होने से उन्हीं के रूप में देवता की कल्पना की गई है ।[1] विल्सन के अनुसार इसके प्रत्येक छन्द (मन्त्र) का अभिप्राय ही इसका देवता है ।[2] ग्रिफिथ "सृष्टि" को देवता के रूप में मानते हैं ।[3] इस सूक्त में अनुष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध मात्र तीन ऋचाएँ हैं ।[4]

प्रस्तुत सूक्त अत्यन्त लोकप्रिय है । इसकी प्रसिद्धि एवं महत्ता इसी से प्रतिपादित होती है कि दैनिक सन्ध्योपासन कर्म में इसके तीनों मन्त्रों का प्रयोग दो बार (आचमन तथा पापनिरसन) किया जाता है । इस सूक्त में सृष्टि को किसी पहेली या रहस्य के रूप में न प्रकट कर के बड़े ही सरल एवं स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है ।

(ख) सूक्तस्थ विभिन्न पदों की समीक्षा :-

प्रस्तुत सूक्त में यद्यपि सरल एवं बोधगम्य पदों का प्रयोग किया गया है, तथापि इसमें प्रयुक्त कुछ पदों की तात्त्विक एवं आलोचनात्मक समीक्षा अपेक्षित है । इस दृष्टि से निम्नलिखित शब्दों पर विचार किया जा सकता है ।

(1) **ऋतम्** :- वैदिक साहित्य में "ऋत" शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थों में किया गया है ।[5] सायण ने प्रकृत स्थल पर इसका अर्थ - "यथार्थसङ्कल्पन" किया है ।[6] विल्सन

---

1. रात्र्यादीनां भावानां सृष्ट्यादिप्रतिपादकत्वात् तादृग्रूपं एवार्थो देवता ।
   ऋग्वेद 10.190 पर सायणभाष्य की भूमिका.
2. The purport of each verse is its deity.
   वही, विल्सन की भूमिका.
3. वही, ग्रिफिथ - द हिम्स ऑफ द ऋग्वेद, पृष्ठ 651.
4. सूक्त की तीनों ऋचाएँ तथा उनका हिन्दी-अनुवाद परिशिष्ट "क" में दिया गया है.
5. द्रष्टव्य - प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अध्याय - 3 (ऋग्वेद में "ऋत").
6. ऋतमिति सत्यनाम। ऋतं मानसं यथार्थसङ्कल्पनम्। ऋग्वेद 10.190.1 पर सायणभाष्य.

इसे "वैचारिक सत्य"[1] तथा ग्रिफिथ "शाश्वत नियम" मानते हैं ।[2] वस्तुतः "ऋत" एक ऐसा तत्त्व है, जो सृष्टि के मूल में है । इस जगत् का सारा व्यवहार "ऋत" के अधीन है । प्रकृत स्थल पर सबसे पहले "ऋत" की उत्पत्ति बताने का तात्पर्य यही है कि बाद में उत्पद्यमान अन्य समस्त पदार्थों का मूल कारण "ऋत" ही है । अतः यहाँ इसका अर्थ प्रथम उत्पन्न आदिकारण के रूप में लिया जा सकता है ।

(2) **सत्यम्** :– "ऋत" के समान "सत्य" का भी वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है ।[3] प्रकृत स्थल पर सायण ने "सत्य" का अर्थ – "वाचिक यथार्थ भाषण" से लिया है । उनके अनुसार मन्त्र में दो बार आए "च" द्वारा अन्य भी शास्त्रीय धर्मों की उत्पत्ति का अर्थ ग्रहण किया जा सकताहै ।[4] विल्सन ने भी सायण का ही अनुगमन किया है ।[5] ग्रिफिथ भी "सत्य" का सामान्य अर्थ ही ग्रहण करते हैं ।[6]

वस्तुतः "ऋत" के साथ ही "सत्य" की उत्पत्ति का निर्देश प्राप्त होने से यह प्रमाणित होता है कि ऋषि को "ऋत" तथा "सत्य" दोनों ही समान रूप से इष्ट हैं । बिना सत्य के इस सृष्टि का व्यवहार नहीं चल सकता है । अतः सत्य का अर्थ यहाँ सृष्टि के आधारभूत तत्त्व के रूप में करना चाहिए ।

(3) **अभीद्ध तपस्** :– प्रथम मन्त्र में "ऋत" और "सत्य" को अभीद्ध तपस् से उत्पन्न होने वाला बताया गया है । सायण ने इसका अर्थ – ब्रह्मा द्वारा पहले सृष्टि–हेतु किए गए अभितप्त

---

1. Truth (of thought) ऋग्वेद 10.190.1 पर विल्सन का अनुवाद.
2. Eternal Law वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
3. द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का अध्याय–3 ('सत्याचरण' शीर्षक).
4. सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणम् । चकाराभ्यामन्यदपि शास्त्रीयं धर्मजातं समुच्चीयते ।
   ऋग्वेद 10.190.1 पर सायणभाष्य.
5. Truthfulness (of speech).
   वही, विल्सन का अनुवाद.
6. वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.

तप से किया है । उन्होंने वैकल्पिक रूप से इसका अर्थ – "अभितः प्रकाशमान मायाधिष्ठानरूप उपादानभूत परमात्मा से" भी किया है ।[1] स्पष्ट है कि सायण का द्वितीय अर्थ अद्वैत वेदान्त से पूर्णतः प्रभावित है । विल्सन और ग्रिफिथ ने इसका अर्थ "कठोर तपस्या" से ही लिया है ।[2] अब प्रश्न यह है कि कठिन तपस्या क्या है अथवा किसने की ? इस सम्बन्ध में नासदीय सूक्त का भी वह मन्त्र ध्यातव्य है, जिसमें "एक" को "तपस्" की महिमा से उत्पन्न हुआ, बताया गया है ।[3] शतपथब्राह्मण में बताया गया है – प्रारम्भ में प्रजापति अकेला था । उसने विचार किया कि कैसे मैं प्रजारूप में हो जाऊँ ? उसने श्रम किया । उसने तपस्या की तथा प्रजा की सृष्टि की ।[4] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह अभीद्ध तपस् ब्रह्मा द्वारा ही किया गया था ।

मनुस्मृति में यह बताया गया है कि सृष्टि की इच्छा करने वाले स्वयम्भू ने अपने शरीर से पहले जल की सृष्टि की और बीज डाला । वज बीज सूर्य के समान प्रकाश वाला स्वर्णिम अण्ड हो गया । उसमें से सम्पूर्ण लोक के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए ।[5] शतपथब्राह्मण में एक स्थल पर बताया गया है कि "पहले सर्वत्र जल था । उन जलों ने सोचा कि कैसे प्रजनन किया जाए । ऐसा सोचकर उन्होंने तपस्या की ।[6] हिरण्यगर्भ सूक्त में आपः को गर्भ धारण करने वाली तथा अग्नि को उत्पन्न करने वाली कहा गया है ।[7] वाक् सूक्त में वाक् ने अपना उत्पत्तिस्थान जलों के भीतर समुद्र में बताते हुए स्वयं को जगन्निर्मात्री कहा है ।[8] तैत्तिरीय संहिता में भी प्रारम्भ में जल की ही

---

1. तत्सर्वमभीद्धादभितप्ताद्ब्रह्मणा पुरा सृष्ट्यर्थं कृतात्तपसोऽधि..... तपश्चात्र परमात्मनो मायाधिष्ठानरूपादुपादानभूतात् । ऋग्वेद 10.190.1 पर सायणभाष्य.
2. द्रष्टव्य – वही, विल्सन एवं ग्रिफिथ के अनुवाद तथा टिप्पणियाँ.
3. ऋग्वेद 10.129.3.
4. शतपथब्राह्मण 2.5.1.1.
5. मनुस्मृति 1.8–9, 12–13.
6. शतपथब्राह्मण 11.1.6.1.
7. ऋग्वेद 10.121.7.
8. वही, 10.125.7 एवं 8.

सत्ता स्वीकार की गई है ।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि "जल ही पहले थे । उन जलों ने सत्य की रचना की, सत्य ने ब्रह्म की तथा ब्रह्म ने प्रजापति की रचना की ।"[2] इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जलतत्त्व निश्चित रूप से विद्यमान था । अतः प्रकृत स्थल पर यह कहा जा सकता है कि सृष्टि-हेतु घोर तपस्या जलों ने की तथा उनसे ही सृष्टि का क्रम प्रवर्तित हुआ ।

(4) विश्वस्य मिषतो वशी :- प्रकृत मन्त्रांश का भाष्य करते हुए सायण ने "मिषतः" को "विश्वस्य" का विशेषण मानकर "निमिषादियुक्त विश्व का अर्थात् सभी प्राणिसमूह का स्वामी" ऐसा अर्थ किया है ।[3] ग्रिफिथ ने इसका अर्थ - आँखें बन्द करने वाला सबका स्वामी, किया है ।[4] विल्सन इसे "प्रत्येक क्षण के स्वामी" के अर्थ में ग्रहण करते हैं ।[5] वस्तुतः यहाँ "मिषतः" का अर्थ नेत्रोन्मीलन तथा निमीलन करने वाले प्राणियों से लेना चाहिए । यहाँ यह पद जङ्गम जगत् का प्रतीक प्रतीत होता है । पूरे सूक्त में अन्यत्र कहीं भी ऋषि ने जङ्गम का उल्लेख नहीं किया है । मन्त्र में आए "वशी" पद का तात्पर्य यह है कि वह जगत्स्रष्टा जड़-चेतन सबको अपने वश में अर्थात् अधीन रखने वाला है । उसकी इच्छा के विपरीत कुछ भी हो पाना सम्भव नहीं है । यह भी ध्यातव्य है कि सूक्त में ऋत और सत्य को तपस्या से उत्पन्न बताते हुए रात्रि, समुद्र तथा संवत्सर की उत्पत्ति बताई गई है । कर्तृपद का प्रयोग अहोरात्र के लिए प्रथम बार "वशी" के रूप में ही किया गया है । अतः यहाँ "वशी" पद का तात्पर्य ब्रह्मा या प्रजापति से लिया जा सकता है ।

---

1. तैत्तिरीय संहिता - 5.7.5.
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 5.5.1.
3. मिषतो निमिषादियुक्तस्य विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य वशी स्वामी भूत्वा वर्तते ।
   ऋग्वेद 10.190.2 पर सायणभाष्य.
4. Lord over all, who close the eye.
   वही, ग्रिफिथ का अनुवाद.
5. The ruler of every moment.
   वही, विल्सन का अनुवाद.

[5] **धाता** :– तीसरे मन्त्र में "वशी" को "धाता" के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए, उसे सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वः का स्रष्टा बताया गया है । यहाँ भी "धाता" का अर्थ प्रजापति या ब्रह्मा लेना उचित प्रतीत होता है । अन्यत्र "धाता" तथा "विधाता" का उल्लेख एक साथ ही किया गया है ।[1] निरुक्त में धाता को सबका विधाता कहा गया है ।[2] इस प्रकार दूसरे मन्त्र में जो "वशी" के रूप में उल्लिखित है, वही यहाँ धाता के रूप में ।

[ग] सूक्त में प्रतिपादित सृष्टि :–

अघमर्षण सूक्त में बताया गया है कि कठोर तपस्या द्वारा सर्वप्रथम "ऋत" और "सत्य" की सृष्टि हुई । इसके पश्चात् रात्रि की उत्पत्ति बताई गई है । सृष्टि के अगले चरण में जल से आपूरित समुद्र की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है । जलापूरित समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ तथा इसके बाद अहोरात्र की सृष्टि की चर्चा की गई है । इसके अनन्तर विधाता द्वारा पूर्व की सृष्टियों के समान ही सूर्य–चन्द्र की सृष्टि करने की बात कही गई है । अन्ततः द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्लोक की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है ।

सूक्तस्थ सृष्टिक्रम पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि रात्रि की उत्पत्ति दो बार बताई गई है – पहले मन्त्र में अकेले तथा द्वितीय मन्त्र में दिन के साथ । सूक्ष्मता पूर्वक देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम मन्त्र में आया "रात्रि" शब्द किसी अन्य तत्त्व का आधायक है । दूसरी बात यह है कि काल की अवधारणा स्पष्ट होने के बाद ही रात–दिन, सूर्य–चन्द्रादि की अवधारणा का होना उचित प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में "संवत्सर" रूपी काल की चर्चा दूसरे मन्त्र में ही आई है । इसके तुरन्त बाद आया "अहोरात्र" पद ही वस्तुतः दिन और रात के लिए प्रयुक्त है। इस दृष्टि से प्रथम मन्त्र में आया "रात्रि" शब्द अन्धकार या "तमस्" का बोधक प्रतीत होता है । इसे नासदीय सूक्त [10·129·3] में आए "तमः" पद के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है ।

प्रकृत सूक्त की अन्य सृष्टिपरक सूक्तों के साथ तुलना करने की दृष्टि से विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि पुरुष सूक्त में सृष्टि, पुरुष के हवि के द्वारा बताई गई है,[3] जबकि यहाँ

---

1. ऋग्वेद 10·82·2·
2. धाता सर्वस्य विधाता । निरुक्त 11·10·
3. ऋग्वेद 10·90·6·

तपस्या द्वारा । पुरुष सूक्त के समान वैविध्यपूर्ण वर्णन न होकर यहाँ सीधे–सीधे संक्षेप में सृष्टि–क्रम का प्रतिपादन किया गया है । इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्त में हिरण्यगर्भ के द्वारा ही सृष्टि का उपपादन किया गया है । जलों के गर्भ के रूप में "हिरण्यगर्भ" ही है ।[1] वाक् सूक्त के अनुसार वाक् का उत्पत्तिस्थल समुद्र है तथा वह "वहीं" से जगत् की सृष्टि प्रारम्भ करती है ।[2] इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त के "तपस्" के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है । नासदीय सूक्त में तो स्पष्टतः "तपस्" का उल्लेख ही किया गया है ।[3]

ऊपर किये गए विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूक्त में ऋषि ने बिना किसी आडम्बरपूर्ण शैली को अपनाए ही सरल और स्पष्ट शब्दों में सृष्टि के गूढ़ विषयों का प्रतिपादन किया है । इसमें न तो कोई रहस्य है और न कोई पहेली ही, जिसे समझने में कठिनाई का अनुभव हो । एक अन्य तथ्य यह है कि इस सूक्त में "ऋत" और 'सत्य' के साथ–साथ 'संवत्सर' की उत्पत्ति की भी चर्चा की गई है, जो इस सूक्त की वैदिक साहित्य को मौलिक देन है । ऋग्वेद में अन्य कहीं भी हमें इन तीनों तत्त्वों की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं प्राप्त होता । हाँ, इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले अन्य पदार्थों या तत्त्वों का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है ।[4] यद्यपि अस्यवामीय सूक्त में संवत्सर की विस्तृत चर्चा की गई है, किन्तु वहाँ भी हमें इसकी उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं दृष्टिगत होता, अपितु अन्य सभी पदार्थ इसी की पृष्ठभूमि में विद्यमान प्रतीत होते हैं ।

---

1. ऋग्वेद 10·121·1 तथा 7·
2. ऋग्वेद 10·125·7 तथा 8·
3. वही, 10·129·3·
4. द्रष्टव्य – ऋग्वेद 1·113·12, 189·6, 2·23·15, 3·54·13, 4·40·5, 7·66·13, 10·5·7, 10·65·8, 10·37·2 तथा 10·85·1·

उपसंहार

वैदिक संहिताएँ हिन्दू विचारधाराओं तथा परम्पराओं के मूल स्रोत हैं । ये विचारधाराएँ अपने मूल उत्स से लेकर परवर्ती साहित्य तथा आधुनिक युग तक भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही हैं । अतः संहिताओं का अध्ययन परवर्ती विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में ही करना अपेक्षित है । चारों संहिताओं में ऋग्वेद का स्थान सर्वोपरि है । पुरुष सूक्त में ही इसका आविर्भाव सर्वप्रथम बताया गया है । हमें इसमें वैदिक ऋषियों की पूर्ण एवं व्यापक दृष्टि का ज्ञान प्राप्त होता है । ऋग्वेद संहिमा मूलतः विभिन्न देवताओं को समर्पित की गई प्रार्थनाओं या स्तुतियों का सङ्ग्रह है । स्तुति का विषय या तो कोई अकेला देव है, अथवा देवताओं का समूह, जिसे "विश्वेदेवाः" के नाम से जाना जाता है । ये स्तुतियाँ ऋषियों द्वारा देवताओं के प्रति प्रकट किये गए वे उद्गार हैं, जो उनकी भक्ति–भावना से ओतप्रोत हैं, तथा जिनकी प्रेरणा ऋषियों ने साक्षात् उन देवताओं द्वारा ही प्राप्त की ।

ऋग्वेद में वैचारिक दृष्टिकोण से "देवत्व" की अवधारणा मूल बिन्दु के रूप में अभिव्यक्त प्रतीत होती है । ऋषियों ने इसी "देवत्व" की व्यक्तावस्था को विभिन्न देवों के रूप में प्रतिष्ठित किया है । उन्होंने इस देवतत्त्व को प्रकृति में साक्षात् अनुभव किया तथा इसके विभिन्न उपादानों को देवताओं के आश्रयस्थान के रूप में माना । वे देवता प्रकृति में अनुस्यूत होकर ऋषियों को प्रेरणा देते रहे । इसीलिए उन्होंने देव तथा प्रकृति को पृथक् नहीं माना । जो गुण प्राकृतिक उपादानों के थे, ऋषियों ने उन्हें तत्तद् देवताओं में भावित किया । उनके सम्मुख प्रकृति ने अपने मौलिक गुणों के साथ ही साथ देवत्व को भी प्रकट किया । इस तथ्य को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि इस नामरूपात्मक जगत् या प्रकृति का परम स्रोत देवत्व है तथा उसी देवत्व की सहज अभिव्यक्ति यह प्रकृति है । अतः ये दोनों आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं तथा एक–दूसरे को प्रकट करते रहते हैं ।

देवों के प्राकृतिक स्वरूप में भी हमें इनके दो भेद दृष्टिगत होते हैं – प्रथमतः किसी भी देवता का वैयक्तिक स्वरूप और द्वितीय उसका वैश्वदेवात्मक या सामूहिक स्वरूप । वैयक्तिक स्वरूप के अन्तर्गत वे गुण आते हैं, जो उस देव-विशेष में ही पाए जाते हैं तथा जिनके आधार पर अन्य देवताओं से उसका पार्थक्य–बोध होता है । किसी भी देवता का वैश्वदेवात्मक स्वरूप वह है, जो सभी देवताओं में सामान्य रूप से पाया जाता है । इस दृष्टि से देवताओं का यज्ञों में आना, हविष्य

ग्रहण करना, धन–पुत्रादि प्रदान करना इत्यादि विचारणीय हैं । इन सबको देवतत्त्व के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । ये देवत्वाधायक गुण देवताओं के पार्थक्य का निषेध करते हैं । इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी देवताओं में एक ही "देवत्व" विद्यमान है । अतः अनेक नामों द्वारा अभिहित होने पर भी उनके एकत्व में कोई शङ्का नहीं की जा सकती । देवतत्त्व की दृष्टि से इसे ही वैदिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है । इसके अन्तर्गत हमें सभी देवताओं में आन्तरिक रूप से सर्वत्र सामञ्जस्य परिलक्षित होता है । ये देवता जहाँ एक तरफ प्रकृति के किसी भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं दूसरी तरफ अपने "देवत्व" का भी भान कराते हैं ।

उक्त प्रकार के स्तुतिपरक सूक्तों के अतिरिक्त हमें ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी सूक्त उपलब्ध होते हैं, जिनमें आत्मतत्त्व, सृष्टिविद्या इत्यादि का निरूपण किया गया है । ये सूक्त भी भक्तिभावना से ही अनुप्राणित हैं । इनका वैलक्षण्य यह है कि ये किसी ऐसे देव-विशेष को नहीं सम्बोधित किये गए हैं, जिसे प्रकृति के किसी उपादान के रूप में पहचाना जा सके अथवा जिसका नामरूपात्मक वर्णन किया जा सके । इस प्रकार के सूक्तों का सामान्य स्वरूप संशयात्मक है । इन सूक्तों में आदिकारण के ज्ञान को अगम्य प्रतिपादित किया गया है । इस प्रकार का ज्ञान न केवल मनुष्यों के लिए ही दुष्कर है, अपितु देवता भी इसे नहीं जानते, क्योंकि उनकी उत्पत्ति भी सृष्टि–क्रम में बाद में ही हुई है । इसके विपरीत देवताओं को सम्बोधित सूक्तों में ऐसी संशयात्मिका प्रवृत्ति के दर्शन हमें नहीं प्राप्त होते, भले ही वे सूक्त किसी एक देवता को समर्पित किये गए हों, या "विश्वेदेवाः" को । उनमें देवताओं के प्रति ऋषियों के मन में पूर्ण भक्ति–भावना तथा आस्था परिलक्षित होती है । मात्र एक सूक्त (ऋग्वेद 2.12) में इन्द्र के अस्तित्व के बारे में शङ्का उपस्थित की गई है, किन्तु वह शङ्का भी ऋषिकृत नहीं है, क्योंकि ऋषि ने पूरे सूक्त में इन्द्र के विभिन्न महान् कार्यों का उल्लेख करते हुए लोगों के मन में प्रविष्ट इन्द्र-विषयक सन्देह का प्रत्याख्यान किया है ।

सृष्टि-हेतु कल्पित अमूर्त देवताओं में "हिरण्यगर्भ" प्रमुख है । "वाक्" भी इस प्रकार की ही देवता है । ऋग्वेद में सृष्टि–प्रक्रिया को अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है । इसमें कहीं पुरुष की "हवि" से सृष्टि होती है, तो कहीं जलराशि से उद्भूत 'हिरण्यगर्भ' से । कहीं "वाक्" स्वयं को जगत् की उत्पादयित्री कहती है, तो कहीं "भाववृत्त" के रूप में ऋषियों ने परमात्मा के स्वयं के विस्तार के रूप में इस सृष्टि को देखा है । सृष्टि–विद्या को किसी भी प्रकार से समझाया जाए, वस्तुतः इसके तत्त्व को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है ।

ऋग्वेद के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इसे प्रारम्भिक रचना कहकर इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार परवर्त्ती भारतीय विचारधारा को वेदों की सीमा से हटकर नहीं समझा जा सकता है । ऐसा मानने पर दोनों धाराओं में सैद्धान्तिक रिक्तता हो जाएगी, जिसे पूर्ण कर पाना सम्भव नहीं होगा । जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषदों का सार माना जाता है, उसी प्रकार परवर्त्ती उपनिषत्साहित्य भी वैदिक संहिताओं से नितान्त सम्पृक्त है । दोनों को पृथक् दृष्टि से देखकर भारतीय विचारधारा को मूलतः नहीं समझा जा सकता। आज के परिप्रेक्ष्य में भी अभी ऋग्वेद के तात्त्विक परिशीलन की आवश्यकता है, जिससे उसमें निहित पहेलियों के प्रतिपाद्य स्पष्ट हो जाएँ तथा परवर्त्ती साहित्य में उनके विकसित रूपों को देखा और समझा जा सके ।

ऋग्वेदाख्यमहाम्भोधेर्दर्शनानि विचिन्वता ।
कृतं वै पाठकेनेदं शोधकार्यं प्रयत्नतः ।।

इति शम्

परिशिष्ट

(क) ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त एवं उनका हिन्दी-अनुवाद :-

(1) अस्यवामीयसूक्तम् (ऋग्वेदः, 1.164)

ऋषिः-दीर्घतमा औचथ्यः । देवता - 1-41 विश्वेदेवाः, 42 आद्यर्धर्चस्य वाक्, द्वितीयस्य आपः; 43 आद्यर्धर्चस्य शकधूमः, द्वितीयस्य सोमः ; 44 केशिनः (अग्निः सूर्यो वायुश्च) ; 45 वाक् ; 46-47 सूर्यः ; 48 संवत्सरकालचक्रम् ; 49 सरस्वती ; 50 साध्याः ; 51 सूर्यः, पर्जन्यः, अग्नयो वा ; 52 सरस्वान्, सूर्यो वा ।

छन्दः - 12, 15, 23, 29, 36, 41 जगत्यः ; 42 प्रस्तारपङ्क्तिः ; 51 अनुष्टुप् ; शिष्टास्त्रिष्टुभः ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।। ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :- इस प्रिय या सुन्दर, वृद्ध (पालक ?) होता (आदित्य) का मध्यमभ्राता सर्वत्र व्याप्त या भक्षणशील (वायु) है । इसका तृतीय भ्राता घृताक्त शरीर वाला (अग्नि) है । यहाँ मैंने सात पुत्रों (किरणों) से युक्त प्रजाओं के स्वामी (सूर्य) का साक्षात्कार कर लिया है ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :- एक चक्र वाले रथ में सात (घोड़े) संयुक्त किये जाते हैं । सात नामों वाला एक ही अश्व उस रथ को वहन करता है । (रथ का) चक्र अजर (कभी नष्ट न होने वाला), अप्रतिहत तथा तीन नाभियों वाला है, जिसके आश्रय में ये सभी लोक अथवा प्राणी स्थित हैं ।

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद :- सात चक्रों वाले इस रथ के आश्रय में जो सात (अश्व) स्थित हैं, वे ही सातों अश्व इसे वहन करते हैं । सात बहनें इसके समक्ष एक साथ स्तुति करती हैं, जहाँ (जिस रथ में) वाणी या गाय के सात नाम निहित हैं ।

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद :- सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले उसे किसने देखा, जिस अस्थिमान् को अस्थिरहित ने धारण किया था ? भूमि के प्राण, रक्त और आत्मा (उस समय) कहाँ थे ? इस (तथ्य) को पूछने के लिए विद्वान् के पास कौन गया ?

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :- अपरिपक्व बुद्धिवाला मैं मन से (तत्त्व को) न जानते हुए देवताओं के इन निहित स्थानों के बारे में पूछता हूँ । (इस) अल्पवय वाले वत्स (संसार) के आश्रय में कवियों ने सात धागों को बुनने के लिए फैलाया है ।

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद :- न जानने वाला तथा न जानते हुए मैं यहाँ (इस विषय में) जानने वाले प्रसिद्ध कवियों से ज्ञानार्थ पूछ रहा हूँ कि जिसने अज के रूप में इन छः लोकों को विविध प्रकार से स्तब्ध (व्यवस्थित) किया है, वह "एक" तत्त्व कौन है ?

इह ब्रवीतु य ईमङ्गवेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद :- जो इस प्रिय या सुन्दर पक्षी (आदित्य) के इस गुप्त स्थान को निःसन्देह जानता है, वह यहाँ उसे बताए । (सूर्य की) किरणें इसके सिर से क्षीर (जल) का दोहन करती हैं तथा सुन्दर वस्त्र धारण करके अपने पैरों से जल ग्रहण करती हैं ।

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद :– माता (पृथ्वी) ने विचारपूर्वक मन से जल प्राप्त करने हेतु पिता (द्युलोक) के साथ सम्पर्क किया । गर्भ धारण करने की इच्छा वाली (अथवा भीत) वह गर्भ के रस से पूर्ण हो गई (इसके पश्चात्) अन्नादि की कामना करने वाले मनुष्य स्तुति करने के लिए उसके पास गए ।

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ।।9।।

हिन्दी-अनुवाद :– माता (पृथ्वी) दक्षिण धुरी से (दक्षिणायन सूर्य से) युक्त हो गई । (तब) मेघ-पङ्क्तियों में (जलरूपी) गर्भ स्थित हो गया । वत्स (मेघ) ने तीन योजनों में विश्वरूपवती गो को (अथवा गो का अनुगमन करते हुए विश्व के सभी रूपों को) देखा तथा हुङ्कार करने लगा (बादल गरजने लगे) ।

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।10।।

हिन्दी-अनुवाद :– अकेला संवत्सरात्मा काल तीन माताओं (पृथ्वी, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष) और तीन पिताओं (अग्नि, आदित्य एवं वायु) को धारण करते हुए ऊपर स्थित है । ये (सभी) उसे श्रान्त नहीं करते (कष्ट नहीं पहुँचाते) । (देवगण) इस द्युलोक (अथवा प्रकाशमान संवत्सर) की पृष्ठभूमि में सबको जानने वाली अथवा सबके द्वारा वेद्य और सबसे अज्ञायमान परिमाण वाली वाणी के विषय में मन्त्रणा करते हैं ।

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।11।।

हिन्दी-अनुवाद :– बारह अरों (तीलियों) वाला (प्राकृतिक नियमों के विधायक) ऋत का चक्र द्युलोक के चारों ओर घूमता रहता है । वह जीर्ण होने वाला नहीं (है) । हे अग्ने । इस रथ में सात सौ बीस युग्म पुत्र स्थित हैं ।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ।।12।।

हिन्दी-अनुवाद :– पाँच पैरों वाले, बारह स्वरूपों वाले तथा जल से युक्त पिता (आदित्य) को (विद्वान् लोग) द्युलोक के दूसरे या दूरस्थ भाग में स्थित कहते हैं तथा अन्य लोग इसे सात चक्रों तथा छः अरों वाले रथ पर आरूढ़ विचक्षण (सर्वद्रष्टा) कहते हैं ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ।।13।।

हिन्दी-अनुवाद :– पाँच अरों वाले भ्रमणशील चक्र में सम्पूर्ण लोक (पूर्णतः) स्थित हैं । उसका अक्ष (धुरी) अधिक भार ढोने वाला होने पर भी उष्ण नहीं होता तथा नाभिसहित वह रथ सनातनकाल से ही विशीर्ण नहीं होता ।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ।।14।।

हिन्दी-अनुवाद :– नेमिसहित (तथा) जीर्ण न होने वाला (यह) चक्र सदा घूमता रहता है । विस्तृत (क्षेत्र) में इसे दश युक्त (घोड़े) वहन करते हैं । सूर्य की दृष्टि लोकों से आवृत होकर (लोकों का निरीक्षण करती हुई) आगे जाती है । उसमें (चक्र या सूर्य की दृष्टि में) सारे लोक अधिष्ठित हैं ।

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ।।15।।

हिन्दी-अनुवाद :– (कालतत्त्ववेत्ता लोग) एक साथ ही उत्पन्न सात में से सप्तम को "अकेले उत्पन्न हुआ" कहते हैं । (इनमें से) छः युग्म हैं । ऋषि देवताओं से उत्पन्न होने वाले हैं । इनके ईप्सित अपने उचित स्थानों पर प्रतिष्ठित हैं । वे विभिन्न रूपों में अपने आश्रय (की पृष्ठभूमि) में विचरण करते हैं ।

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ।।16।।

हिन्दी-अनुवाद :- स्त्रियाँ होती हुई भी उन्हें मुझसे (तत्त्वज्ञ लोग) पुरुष कहते हैं । (इसे) आँखवाला व्यक्ति ही देख सकता है, अन्धा नहीं जान सकता । जो पुत्र कवि अर्थात् ज्ञानी है, वही इसे (तत्त्व को) जानता है । जो इन्हें (तत्त्वों को) जानता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है।

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्तः ।।17।।

हिन्दी-अनुवाद :- ऊर्ध्वस्थित (द्युलोक) से नीचे तथा इस निम्नस्थित (पृथ्वी) से ऊपर वत्स को पैर से धारण करती हुई "गौ" ऊपर स्थित हो गई । वह कहाँ जाने वाली है तथा किस अर्ध भाग से परे चली गई ? (वह अपने बछड़े को) कहाँ उत्पन्न करती है ? (क्योंकि) अपने समूह में तो नहीं (उत्पन्न करती है) ।

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ।।18।।

हिन्दी-अनुवाद :- ऊर्ध्वस्थित (द्युलोक) से नीचे तथा इस अधः स्थित (पृथिवीलोक) से ऊपर इसके (जगत् के) पिता को जो भलीभाँति जानता है, (ऐसा) कवि के समान आचरण करने वाला कौन व्यक्ति यहाँ यह (भी) बताएगा कि यह दिव्य मन कहाँ से उत्पन्न हुआ है ?

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ।।19।।

हिन्दी-अनुवाद :- जो निकटस्थ हैं (तत्त्वज्ञ लोग) उन्हें दूरस्थ कहते हैं, जो दूरस्थ हैं, उन्हें निकटस्थ कहते हैं । हे सोम, जिन (तेजोमण्डलों) को इन्द्र तथा तुमने निर्मित किया है, वे रथ की धुरी में युक्त (अश्वों) के समान लोकों को वहन करते हैं ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।20।।

हिन्दी-अनुवाद :– दो सुन्दर पङ्खों वाले, समान योग वाले, मित्र पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय ग्रहण किये हुए हैं । उनमें से एक (जीवात्मा) स्वादिष्ट फल को खा रहा है तथा दूसरा (परमात्मा) न खाते हुए मात्र देख रहा है (अथवा प्रकाशित हो रहा है) ।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ।।21।।

हिन्दी-अनुवाद :– जहाँ (जिस वृक्ष पर) सुन्दर पङ्खों वाले पक्षी अपने ज्ञान द्वारा निरन्तर अमृतांश की स्तुति करते रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण संसार के स्वामी तथा रक्षक उस बुद्धिमान् (ज्ञानी परमात्मा) ने अपरिपक्व मुझमें प्रवेश किया ।

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ।।22।।

हिन्दी-अनुवाद :– जिस वृक्ष पर मधु ग्रहण करने वाले, सुन्दर पङ्खों वाले पक्षी निवास करते हैं तथा इस विश्व (वृक्ष) के आश्रय में (प्रजाओं की) उत्पत्ति करते हैं, उसी (विश्व) के ऊर्ध्व भाग पर (विद्वान्) स्वादिष्ट फल (का होना) बताते हैं । जो पिता (परमात्मा) को नहीं जानता है, वह उस (फल) को नहीं प्राप्त करता है ।

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ।।23।।

हिन्दी-अनुवाद :– जो गायत्री के ऊपर गायत्री को स्थापित किया गया है अथवा त्रैष्टुभ से त्रिष्टुप् की रचना की गई है या जो जगती के चरण को जगती पर स्थापित किया गया है, इस तत्त्व को जो लोग सम्यक् जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं । (तात्पर्य यह है कि छन्दों का रहस्य जानने वाला अमर हो जाता है ।)

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ।।24।।

हिन्दी-अनुवाद :– (वह) गायत्री (छन्द) से अर्क (ऋक्) की रचना करता है (नापता है) अर्क से साम तथा त्रैष्टुभ से वाक (की रचना करता है) । (वह) वाक से वाक (का निर्माण करता है) । (वे तत्त्वज्ञ लोग) दो चरणों वाले तथा चार चरणों वाले अक्षर से सात प्रकार की वाणियों का निर्माण करते हैं (मापते हैं) ।

जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ।।25।।

हिन्दी-अनुवाद :– (उसने) जगती (छन्द) से द्युलोक में सिन्धु (जल) को स्थापित किया । (उसने) रथ के अन्दर सूर्य को चारों ओर से देखा । (विद्वानों ने) गायत्री (छन्द) की तीन समिधाएँ बताई हैं । इसी कारण से (वह गायत्री) अपनी शक्ति तथा महत्ता से प्रकृष्ट रूप से उद्भासित होती है ।

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम् ।।26।।

हिन्दी-अनुवाद :– मैं शोभन दूध देने वाली इस गाय का आह्वान करता हूँ । दक्ष हाथों वाला दोग्धा इसे दुहे । सविता हमारे प्रति श्रेष्ठ दूध को प्रेरित करे । पात्र तप्त हो चुका है । मैं इसे भलीभाँति (जानकर) कह रहा हूँ ।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ।।27।।

हिन्दी-अनुवाद :– शब्द करती हुई, वसुओं की स्वामिनी (अथवा, पालिका) तथा अपने वत्स को हृदय से चाहती हुई (गौ) आ गई है । अहननशीला यह (गाय) अश्विनों के लिए दुग्ध प्रदान करे । वह महान् सौभाग्य के लिए वृद्धि प्राप्त करे ।

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्.ङ.कृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ।।28।।

हिन्दी-अनुवाद :- (गाय ने) आँखें खोले हुए वत्स के प्रति शब्द किया (रम्भाया) । उसने (वत्स का) सिर नापने (चाटने) के लिए (पुनः) शब्द किया । (वत्स के) मुख को अपने गर्म थन के पास ले जाने की इच्छा करती हुई (वह गाय) शब्द करती जाती है तथा दुग्ध-धारा से वत्स को सिञ्चित करती जाती है । (अर्थात् प्रभूत दूध पिलाकर उसे तृप्त करती है)

अयं स शिङ्.क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ।।29।।

हिन्दी-अनुवाद :- जिसके द्वारा गौ आच्छादित की गई है, यह वही (वत्स) शब्द कर रहा है । वह (गाय) अपने आश्रय में स्थित होकर शब्द करती है । उसने अपने ज्ञान (चैतन्य) से मनुष्यों को नीचे कर दिया तथा प्रकाशस्वरूपा होती हुई वह अपने रूप को प्रकाशित (प्रकट) करती है ।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।।30।।

हिन्दी-अनुवाद :- शीघ्र गमनशील, श्वास लेने वाला जीव (शरीर को छोड़कर) चला जाता है (शरीर) घर के मध्य में निश्चेष्ट होकर पड़ा रह जाता है । मर्त्य (शरीर) के समान उत्पत्तिस्थान वाला मृतक का अमर्त्य जीव अपनी इच्छा शक्ति द्वारा भ्रमण करता रहता है ।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ।।31।।

हिन्दी-अनुवाद :- कभी न गिरने वाले (विचलित न होने वाले), पार्श्वस्थ तथा दूरस्थ मार्गों से विचरण करने वाले रक्षक (सूर्य या आत्मतत्त्व) को (मैंने) देख लिया है । साथ चलने वाला, सर्वत्र चलने वाला (तथा अन्यों को) आच्छादित करने वाला वह लोकों के भीतर बार-बार स्थित होता है ।

य ई चकार न सो अस्य वेद य ई ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ।।32।।

हिन्दी अनुवाद :– जिस (पिता) ने इस (जीव) को उत्पन्न किया है, वह भी इसे नहीं जानता । जिसने इसे देखा, उससे भी यह अन्तर्हित (छिपा हुआ) है । माता के गर्भ के भीतर चारों ओर से घिरा हुआ वह (जीव) बहुत सन्तान वाला या बहुत बार जन्म लेने वाला होकर अतिशय दुःखों को प्राप्त करता है ।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो ३ योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।।33।।

हिन्दी अनुवाद :– द्युलोक मेरा उत्पादक तथा पालक है । मेरी नाभि यहाँ है । यह विशाल पृथ्वी मेरी माता तथा बन्धु है । ऊपर तने हुए दो पात्रों – द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य में (जो) योनि (अन्तरिक्ष) है, इसी में पिता (द्युलोक) ने दूर स्थित (पृथ्वी) में गर्भ (के रूप में जल) को स्थापित किया ।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।।34।।

हिन्दी अनुवाद :– (मैं) तुमसे पृथिवी की पराकाष्ठा पूछता हूँ । (मैं) जहाँ भुवन की नाभि (केन्द्रबिन्दु) है, (उसे) पूछता हूँ । (मैं) तुमसे शक्तिशाली अश्व (आदित्य) के रेतस् के बारे में पूछता हूँ । (मैं) वाणी के परम स्थान के विषय में पूछता हूँ ।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।।35।।

हिन्दी अनुवाद :– यह वेदि पृथिवी की पराकाष्ठा है । यह यज्ञ भुवन की नाभि (केन्द्रबिन्दु) है । यह सोम शक्तिशाली अश्व का रेतस् (वीर्य) है । यह ब्रह्मा वाणी का परम स्थान (उत्पत्तिस्थान) है।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ।।36।।

हिन्दी-अनुवाद :– सात अर्ध (अपरिपक्व) गर्भभूत तत्त्व लोकों के रेतस् (बीज या कारण) के रूप में विष्णु के आदेशानुसार अपने-अपने कर्मों में स्थित हैं । धारणा शक्ति तथा मन से विद्वान् और व्यापनशील वे (इस जगत् को) चारों ओर से आवेष्टित करते हैं ।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ।।37।।

हिन्दी-अनुवाद :– (मैं) यह नहीं जानता कि किसके समान हूँ । निण्य (तिरोभाव) से सन्नद्ध हुआ (मैं) मन से (विचार पूर्वक) विचरण करता हूँ । जब ऋत के प्रथम उत्पन्न (तत्त्व) मेरे पास आए, ठीक उसी के बाद से (मैं) इस वाणी के भाग (रहस्य) को प्राप्त कर रहा हूँ ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।38।।

हिन्दी-अनुवाद :– मर्त्य (शरीर) के समान उत्पत्ति स्थान वाला अमरणधर्मा (जीवात्मा) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (स्वेच्छानुसार) नीचे तथा ऊपर जाता है । शाश्वत तथा सर्वत्र जाने वाले वे दोनों (जीवात्मा एवं शरीर) विपरीत दिशाओं में जाने वाले हैं । (विद्वान् लोग उनमें से) एक (शरीर) को जानते हैं तथा दूसरे (आत्मा) को नहीं जानते ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।39।।

हिन्दी-अनुवाद :– परम व्योम में, ऋचाओं के (जिस) अक्षर में सभी देवता स्थित हैं, उसे (उस तत्त्व को) जो नहीं जानता है, (वह) ऋचा से क्या लाभ उठाएगा ? जो उस (तत्त्व) को सम्यक् जानते हैं, वे ही (देवताओं के) साथ बैठते हैं ।

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धितृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।।40।।

हिन्दी-अनुवाद :– हे अहन्तव्ये (गो), तुम उत्तम यव का भक्षण करती हुई धनवती (सौभाग्यशालिनी) हो जाओ तथा हम लोग भी धनवान् हो जाएँ । सदा तृण का भक्षण करो तथा (हमारी तरफ) विचरण करती हुई शुद्ध जल का पान करो ।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।।41।।

हिन्दी-अनुवाद :– जलों को उत्पन्न करती हुई गौरी (वाणी या महिषी) ने शब्द किया । एक पद वाली, दो पदों वाली, चार पदों वाली, आठ पदों वाली तथा नव पदों वाली होती हुई वह परमाकाश में हजार अक्षरों वाली है ।

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ।।42।।

हिन्दी-अनुवाद :– उस (गौरी वाक्) से समुद्र इतस्ततः प्रवाहित होते हैं । उससे (समुद्र के जल से) चारों दिशाएं जीवित हैं । वहाँ से अक्षर प्रवाहित (निर्गत) होता है (तथा) उस पर सारा विश्व जीवित (आश्रित) है ।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।43।।

हिन्दी-अनुवाद :– मैंने शुष्क गोबर (के कण्डे) से उत्पन्न धूम को दूर से देखा । व्यापक इस अवर (निकृष्ट) धूम से पर (उसके कारणभूत अग्नि) को भी देखा । वीरों (यजमानों) ने पृश्नि वर्ण वाले (शुभ्र या चितकबरे) सोम को पकाया । वे प्राथमिक धर्म थे ।

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।।44।।

हिन्दी-अनुवाद :- तीन केशी (किरणों वाले) ऋतु के अनुसार देखते रहते हैं । इनमें से एक, संवत्सर में (एक बार) अपना भाग ग्रहण करता है । एक, (अन्य अपने) किरणों या कर्मों से विश्व का सर्वतः निरीक्षण करता है (तथा) एक की (केवल) गति दिखाई देती है, रूप नहीं (दिखाई देता) ।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।45।।

हिन्दी-अनुवाद :- वाणी के चार पद (स्थान) नापे गए हैं । जो मनीषी ब्रह्मवेत्ता (हैं, वे) उन्हें जानते हैं । (उनमें से) तीन (पद) गुफा में निहित हैं (जो) प्रकट नहीं होते । वाणी के चतुर्थ (रूप) को मनुष्य बोलते हैं ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।46।।

हिन्दी-अनुवाद :- (विद्वान् लोग) उसे इन्द्र, मित्र, वरुण (तथा) अग्नि कहते हैं । वही दिव्य, सुन्दर पङ्खों वाला पक्षी (गरुत्मान्) है । एक ही सत् है, विप्र लोग उसे अनेक प्रकार से प्रतिपादित करते हैं । (वे उसे) अग्नि, यम, (और) मातरिश्वा (भी) कहते हैं ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।।47।।

हिन्दी-अनुवाद :- जल को धारण करने वाली (तथा) रसों का हरण करने वाली या चमकीली (सूर्य की) किरणें कृष्ण मार्ग से द्युलोक में चली जाती हैं । वे ही ऋत के स्थान (आदित्य लोक) से (जब) इधर (पृथिवी की तरफ) लौट आती हैं, तो पृथिवी घृत (जल) से क्लिन्न (गीली) हो जाती है ।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।।48।।

हिन्दी-अनुवाद :- (संवत्सर रूपी रथ की) बारह प्रधियाँ, एक चक्र तथा तीन नाभियाँ हैं । उसे किसने सम्यक् जान लिया है ? (कौन जानता है ?) उसमें तीन सौ साठ गतिशील कीलें एक साथ लगाई गई हैं ।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वती तमिह धातवे कः ।।49।।

हिन्दी-अनुवाद :- (हे सरस्वती,) तुम्हारे शरीर में स्थित जो स्तन सुखकारक, रत्नों को धारण करने वाला, वसुओं को धारण करने वाला तथासुखकर दान देने वाला है (एवं) जिससे तुम समस्त वरणीय पदार्थों को पुष्ट करती हो, हे सरस्वती, (अपने) उस स्तन को (हमारे) पीने के लिए हमारी ओर कर दो ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।50।।

हिन्दी-अनुवाद :- देवताओं (यजमानों) ने यज्ञ द्वारा ही यज्ञ को सम्पन्न किया । वे प्राथमिक (उत्कृष्ट) धर्म थे । वे महिमशाली नाक (स्वर्ग) को प्राप्त किए, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते हैं ।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।।51।।

हिन्दी-अनुवाद :- एक ही जल दिनानुदिन (क्रमशः) ऊपर जाता है तथा नीचे (आता है) । पर्जन्य भूमि को तृप्त करते हैं तथा अग्नियाँ (हविष्य द्वारा) द्युलोक को तृप्त करती हैं ।

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ।।52।।

हिन्दी-अनुवाद :- द्युलोक में उत्पन्न होने वाले, सुन्दर पङ्खों वाले, महान् पक्षी (के रूप में स्थित),

जलों तथा ओषधियों के गर्भ (भूत), दर्शनीय तथा (वृष्टिकाल में) वर्षा द्वारा (सबको) तृप्त करने वाले सरस्वान् का (मैं दीर्घतमा) सहायता अथवा रक्षा के लिए बार-बार आह्वान करता हूँ ।

(2) **पुरुषसूक्तम् (ऋग्वेदः, 10.90)**

ऋषिः नारायणः । देवता पुरुषः । अन्त्या त्रिष्टुप् । शिष्टा अनुष्टुभः ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :- पुरुष सहस्रों शिरों वाला, सहस्रों नेत्रों वाला तथा सहस्रों पादों वाला है । वह भूमि को चारों तरफ से व्याप्त करके अथवा घेरकर दश अङ्गुल का अतिक्रमण करके स्थित हो गया ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :- यह सब (जो वर्तमान में है), जो हो चुका है तथा जो होने वाला है, पुरुष ही है और वह (पुरुष) अमरता का स्वामी है तथा जो अन्न से वृद्धि प्राप्त करता है (उसका भी स्वामी है) ।

**एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।3।।**

हिन्दी-अनुवाद :- इस (पुरुष) की इतनी महिमा है तथा पुरुष इससे भी बढ़कर है । इसके चतुर्थांश में सारे प्राणी हैं तथा इसका तीन चौथाई भाग द्युलोक में अमर है ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद :- पुरुष तीन चौथाई (भाग के साथ) ऊपर उठ गया । इसका एक चौथाई भाग पुनः इस लोक में स्थित हुआ । इसके पश्चात् (उसने) भोजन करने वाले तथा न करने वाले (सभी को) चारों तरफ से घेर लिया ।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :– उस पुरुष से विराज् उत्पन्न हुआ तथा विराज् से (जीवात्मा) पुरुष (उत्पन्न हुआ) उत्पन्न होते ही वह पीछे तथा आगे की भूमि का अतिक्रमण कर गया ।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद :– जब देवताओं ने पुरुष रूपी हवि से यज्ञ को सम्पन्न किया (उस समय) इस (यज्ञ) का वसन्त, आज्य (तपाया गया घृत) हुआ, ग्रीष्म–समिधा (हुआ) तथा शरद् ऋतु–हवि हुई ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद :– सबसे पहले उत्पन्न उस यज्ञ (के साधनभूत) पुरुष को (देवों ने) कुशाओं पर (रखकर) जल छिड़ककर प्रोक्षण किया । उस (पुरुष–पशु) से देवताओं, साध्यों तथा जो ऋषि थे (उन्होंने) यज्ञ किया ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद :– सब कुछ हवन कर दिये जाने वाले, सर्वहुत् नामक उस यज्ञ से आज्य की बूँदें भलीभाँति एकत्र कर ली गईं । उनसे वायुदेवता से सम्बद्ध, जङ्गली तथा जो ग्रामीण पशु थे (उन्हें) बनाया ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।9।।

हिन्दी-अनुवाद :– सब कुछ हवन कर दिये जाने वाले, सर्वहुत् नामक उस यज्ञ से ऋचाएँ तथा साम उत्पन्न हुए । उससे छन्द उत्पन्न हुए तथा उससे यजुष् उत्पन्न हुआ ।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ।।10।।

हिन्दी-अनुवाद :– (सर्वहुत नामक) उस (यज्ञ) से घोड़े तथा जो कोई दोनों ओर दाँत वाले (पशु हैं), उत्पन्न हुए । उससे गायें उत्पन्न हुई । उससे बकरियाँ तथा भेड़ें उत्पन्न हुई ।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ।।11।।

हिन्दी-अनुवाद :– जब (देवताओं ने) पुरुष को (यज्ञार्थ) विभक्त किया, तो (उसे) कितने भागों में कल्पित किया ? इसका मुख क्या था ? (इसकी) भुजाएँ क्या (हुई और) इसकी जाँघें तथा पैर क्या कहे जाते हैं ?

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।12।।

हिन्दी-अनुवाद :– इसका मुख ब्राह्मण था, दोनों भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया । इसकी जो दो जांघें (थीं), उन्हें वैश्य (बनाया गया) (और इसके) दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।।13।।

हिन्दी-अनुवाद :– (उस आदिपुरुष के) मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, दोनों आँखों से सूर्य उत्पन्न हुआ । (उसके) मुख से इन्द्र और अग्नि (उत्पन्न हुए) तथा प्राण (श्वास) से वायु उत्पन्न हुआ ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ।।14।।

हिन्दी-अनुवाद :– (उसकी) नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ (तथा) शिर से द्युलोक बना । (उसके) पैरों से भूमि (तथा) कान से दिशाएं (उत्पन्न हुई) । इसी प्रकार (देवों ने समस्त) लोकों को कल्पित किया (बनाया) ।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ।।15।।

हिन्दी-अनुवाद :- यज्ञ को सम्पन्न करते हुए देवताओं ने जब पुरुष-पशु को (यूप) में बाँधा (उस समय), इसकी सात परिधियाँ थीं (तथा) इक्कीस समिधाएँ बनाई गईं थी ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।16।।

हिन्दी-अनुवाद :- देवताओं ने यज्ञ से ही यज्ञ (पुरुष) का यजन किया । वे प्राथमिक धर्म थे । महिमशाली वे (देवता) स्वर्गलोक को प्राप्त किए, जहाँ पूर्वकालीन साध्यदेव (रहते) हैं ।

(3) हिरण्यगर्भसूक्तम् (ऋग्वेदः 10.121)

ऋषिः हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः । देवता कः प्रजापतिः । छन्दः त्रिष्टुप् ।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :- सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होते ही (वह) प्राणियों का एकमात्र स्वामी हो गया । उसने पृथिवी और इस द्युलोक को धारण किया । (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :- जो आत्मा (शरीर) को प्रदान करने वाला है, (जो) शक्ति को प्रदान करने वाला है, जिसकी आज्ञा को सभी (लोग) मानते हैं (तथा) जिसकी (आज्ञा को) देवता (भी मानते हैं), जिसकी छाया अमरता है, जिसकी (छाया) मृत्यु (है), (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद :– जो (अपनी) महिमा से अकेले ही श्वास लेते हुए तथा पलक झँपाते हुए विश्व का स्वामी हो गया, जो इस दो पैर वाले (तथा) चार पैर वाले (प्राणिजगत्) का शासन करता है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद :– जिसकी महिमा से ये (हिमालय इत्यादि सभी) पर्वत हैं, (विद्वान् लोग) नदियों के साथ समुद्रों को, जिसका कहते हैं, जिसकी ये दिशाएं (हैं तथा) भुजाएँ जिसकी (रक्षा करने वाली) हैं, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :– जिसके द्वारा द्युलोक ऊर्ध्व स्थित तथा पृथिवी दृढ कर दी गई, जिसके द्वारा स्वर्ग और नाकलोक स्तब्ध कर दिए गए तथा जो अन्तरिक्ष में लोकों को नापने वाला है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद :– सहायता के द्वारा स्थिर किए गए तथा मन से काँपते हुए द्युलोक एवं पृथिवीलोक जिसकी ओर देखते हैं, जहाँ पर सूर्य उदित होकर सुशोभित होता (चमकता) है, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद :– जब (प्रजापति रूप) गर्भ को धारण करती हुई तथा अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि विश्व में आई, तब देवताओं का एकमात्र प्राणतत्त्व (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न हुआ । (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद :– जिसने (अपनी) महिमा से दक्ष (उत्पादक शक्ति) को धारण करती हुई तथा यज्ञ को उत्पन्न करती हुई जलराशि को चारोंओर देखा, जो देवताओं में एकमात्र देव हो गया, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।9।।

हिन्दी-अनुवाद :– जो पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है अथवा सत्यरूपी धर्म (नियम) वाले जिसने द्युलोक को उत्पन्न किया (तथा) जिसने आह्लादकारी या देदीप्यमान विशाल जलराशि को उत्पन्न किया, वह हमें हिंसित न करे, (उसके अतिरिक्त) किस देवता के लिए हविष्य द्वारा विधान करें ?

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।10।।

हिन्दी-अनुवाद :– हे प्रजापति, तुमसे भिन्न (किसी दूसरे) ने इन समस्त उत्पन्न (पदार्थों) को चारों ओर से व्याप्त नहीं किया । हम जिस कामना वाले होकर (जिस कामना से) तुम्हें हविष्य प्रदान करते हैं (तुम्हें आहूत करते हैं) हमारी वह (कामना) पूर्ण हो जाए, हम धनों के स्वामी हो जाएँ ।

(4) वाक्सूक्तम् (ऋग्वेदः 10.125)

ऋषिः वागाम्भृणी । देवता परमात्मा । छन्दः द्वितीयस्यां जगती, शिष्टासु त्रिष्टुप् ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :- मैं (वाक्) रुद्रों तथा वसुओं के साथ विचरण करती हूँ, मैं आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ (विचरण करती हूँ), मैं मित्र एवं वरुण दोनों को धारण करती हूँ, मैं इन्द्र और अग्नि तथा मैं दोनों अश्विनों को धारण करती हूँ ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :- मैं उत्तेजना लाने वाले सोम को धारण करती हूँ, मैं त्वष्टा, पूषा तथा भग को (धारण करती हूँ) । मैं हविष्ययुक्त, भलीभाँति रक्षा या सहायता के योग्य (तथा) सोमाभिषव करते हुए यजमान के लिए धन धारण करती हूँ ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद :- मैं रानी (शासिका), धनों को एकत्र करने वाली (तथा) पूज्यों में प्रथम ज्ञानवाली (हूँ) । अनेक स्थलों पर रहने वाली तथा बहुतों में अपने को प्रवेश कराती हुई उस (प्रसिद्ध) मुझको देवताओं ने अनेक स्थानों पर विविध प्रकार से स्थापित किया है ।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद :- (जो) अन्न ग्रहण करता है, जो विविध प्रकार से देखता है, जो श्वास लेता है (तथा) जो इस (मेरे) कहे हुए को सुनता है, वह मेरे द्वारा ही (होता है) । मुझे न मानने वाले वे (सभी लोग मेरे) सम्मुख या पास ही नष्ट हो जाते हैं । हे विद्वन्, सुनो (मैं) तुम्हारे लिए विश्वसनीय (बात) बताती हूँ ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :– मैं स्वयं ही देवताओं तथा मनुष्यों के लिए अभीष्ट (वाञ्छित) इस (बात) को बताती हूँ । (मैं जिसे) जिसे चाहती हूँ, उसे उसे शक्तिशाली, उसे ब्रह्मा (मन्त्रकर्त्ता या स्तोता), उसे ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) (तथा) उसे शोभनप्रज्ञ बना देती हूँ ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद :– मैं मन्त्रद्वेषी हिंसक को मारने के लिएं रुद्र के धनुष को तान देती हूँ । मैं लोगों के लिए युद्ध करती हूँ । मैं द्युलोक तथा पृथिवीलोक में (सर्वतः) अनुप्रविष्ट हूँ ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूंद्यांवर्ष्मणोप स्पृशामि ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद :– मैं इस (जगत्) के ऊपर पिता द्युलोक को उत्पन्न करती हूँ । मेरा उत्पत्तिस्थान जलों के भीतर समुद्र में है । वहाँ से (मैं) सारे भुवनों में विविध प्रकार से व्याप्त होती हूँ तथा इस द्युलोक को अपनी शिखा या चोटी द्वारा समीप से स्पर्श करती हूँ ।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ।।8।।

हिन्दी-अनुवाद :– मैं ही सारे लोकों (की सृष्टि) को प्रारम्भ करती हुई वायु के समान प्रवहित (क्रियाशील) होती हूँ । द्युलोक से परे तथा इस पृथिवी से भी परे (मैं) (अपनी) महिमा से इतनी (व्यापक या महीयसी) हो गई हूँ ।

(5) नासदीयसूक्तम् (ऋग्वेदः 10.129)

ऋषिः प्रजापतिः परमेष्ठी । देवता परमात्मा (भाववृत्तम्) । छन्दः त्रिष्टुप् ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :– उस समय न असत् (कारण) था, न सत् (कार्यभूत पृथिवी इत्यादि भाव) था । न रजस् (लोक) था (और) न आकाश था जो ऊपर स्थित है । कौन आवरण करने वाला था (तथा) कौन कहाँ किसके आश्रय में था ? क्या (उस समय) अथाह गहरा जल था ?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।।2।।

हिन्दी-अनुवाद :– तब न (तो) मृत्यु थी और न अमृत । रात और दिन का ज्ञापक (भेदक तत्त्व) (सूर्य और चन्द्रमा) भी नहीं था । वह एक तत्त्व ही वायु के बिना (भी) (अपनी) आन्तरिक शक्ति से श्वास ले रहा था । निश्चित रूप से उससे बढ़कर, पृथक् कोई तत्त्व नहीं था ।

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।3।।

हिन्दी-अनुवाद :– प्रारम्भ में अन्धकार से ढका हुआ अन्धकार (ही) था । यह सब कुछ अप्रकेत (विभक्त न हो पाने वाला या अथाह) सलिल (जगत्कारण) ही था । जो आभु (सर्वत्र स्थित अर्थात् ब्रह्म) था (वह भी) तुच्छ्य (सीमाभाव, परिधि, शून्यता अथवा भावरुपी अज्ञान) से घिरा हुआ था । तपस् की महिमा से वह एक (तत्त्व) उत्पन्न हुआ ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।4।।

हिन्दी-अनुवाद :– उस (सृष्टि) के प्रारम्भ में काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ, जो मनस् का प्रथम रेतस् (बीज) था । कवियों (विद्वानों) ने (अपने) हृदय में बुद्धि से विचार कर के सत् (कार्यरूप भावपदार्थ) के बन्धु (हेतु या कारण) को असत् (अव्यक्त कारण) में प्राप्त कर लिया ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३ दुपरिस्विदासी३ त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ।।5।।

हिन्दी-अनुवाद :– इनका (वियदादि की सृष्टि करने वालों का) (कार्यवर्ग) किरणों के समान तिरश्चीन

(तिरछा या आर–पार) फैला हुआ था । क्या (वह) नीचे था ? अथवा क्या (वह) ऊपर था ? रेतोधा: (बीज धारण करने वाले) (भोक्ता) थे, महिमानः (आकाश इत्यादि भोग्य पदार्थ) थे । स्वधा (भोग्य प्रपञ्च) नीचे था (तथा) प्रयति (भोक्ता) ऊपर था ।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुतइयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्यविसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद :– कौन वस्तुतः जानता है, कौन यहाँ बताएगा कि यह (सृष्टि) कहाँ से आई ? यह विविध प्रकार की सृष्टि कहाँ से (उत्पन्न हुई) ? देवगण इस सृष्टि से अर्वाचीन हैं । तब जहाँ से (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई, उसे कौन जानता है ?

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।7।।

हिन्दी-अनुवाद :– यह विविधरूपा सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुई, (उसे किसी ने) धारण किया था या नहीं ? परम व्योम में स्थित जो इस (सृष्टि) का अध्यक्ष (स्वामी) है, वह भी वस्तुतः जानता है अथवा नहीं जानता है (यह मैं नहीं जानता) । (अथवा परम व्योम में स्थित इसका अध्यक्ष ही वस्तुतः जानता है । यदि वह नहीं जानता, (तो फिर कौन जानता है) ।

(6) अघमर्षणसूक्तम् (ऋग्वेदः 10.190)

ऋषिः अघमर्षणः । देवता भाववृत्तम् । छन्दः अनुष्टुप् ।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।1।।

हिन्दी-अनुवाद :– अभितप्त (प्रकृष्ट) तपस् से ऋत एवं सत्य-उत्पन्न हुए । इसके बाद रात्रि उत्पन्न हुई । इसके अनन्तर जल से भरा समुद्र (उत्पन्न हुआ) ।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ।।2।।

हिन्दी अनुवाद :– जल से भरे समुद्र द्वारा संवत्सर उत्पन्न हुआ । दिन तथा रात की सृष्टि करते हुए, निमेषादि करने वाले समस्त प्राणियों का (वह स्रष्टा) स्वामी (नियन्त्रक) हुआ ।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।।3।।

हिन्दी अनुवाद :– इस धाता (स्रष्टा) ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वः को पूर्व (की सृष्टि) के अनुसार कल्पित किया ।

(ख) सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ-सूची :-

(अ) आधार-ग्रन्थ :-

1.	अथर्ववेद-संहिता	दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1957
2.	ऋग्वेद-संहिता	सायणभाष्य, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित	आक्सफोर्ड, 1892
3.	ऋग्वेद-संहिता	सायणभाष्य (5 खण्ड)	वैदिक संशोधन-मण्डल, पूना, 1972, 1976, 1978, 1983
4.	ऋग्वेद	सुबोधभाष्य (हिन्दी) दामोदर सातवलेकर (10 भाग)	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत 1985
5.	ऋग्वेदः	स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव तथा मुद्गलभाष्य सहित (8 भाग)	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, 1963
6.	ऋग्वेद-संहिता	दयानन्दभाष्य	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1972
7.	ऋग्वेद भाष्यभूमिका	सायण, सम्पादक-बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1934
8.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	स्वामी दयानन्द	वैदिक पुस्तकालय दयानन्द आश्रम, अजमेर, 1972
9.	ऐतरेयारण्यक	आर. मित्र सम्पादित	इण्डिका, कलकत्ता, 1881
10.	ऐतरेय ब्राह्मण	सायणभाष्य	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1930
11.	कालिका पुराण	वेदव्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2030
12.	कूर्म पुराण	वेद व्यास	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1983
13.	तर्कभाषा (केशव मिश्र)	बदरीनाथ शुक्ल	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1976
14.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	सामशास्त्री सम्पादित	मैसूर, 1921
15.	तैत्तिरीय संहिता	दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत 1980
16.	तैत्तिरीय संहिता	महादेव शास्त्री सम्पादित	मैसूर, 1884
17.	दशोपनिषद्	कुन्हन राजा सम्पादित	अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, 1935
18.	देवी भागवत	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2027
19.	निरुक्त (यास्क)	राजवाड़े सम्पादित	पूना, 1904
20.	निरुक्त (यास्क)	दुर्गाचार्य की टीका सहित	श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई 1942
21.	परमलघुमञ्जूषा	नागेश भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वारापसी, 1960

22.	बृहदारण्यकोपनिषद्	शाङ्करभाष्य सहित	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2031
23.	बृहद्देवता	मैकडॉनेल (हिन्दी अनुवाद)	चौखम्भा, वाराणसी, 1964
24.	ब्रह्मसूत्र	शाङ्करभाष्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1968
25.	मत्स्य पुराण	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2035
26.	मनुस्मृति	कुल्लूभट्ट की टीका सहित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, 1964
27.	महाभारत	वेद व्यास	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1983
28.	मार्कण्डेय पुराण (श्री दुर्गासप्तशती)	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2035
29.	मैत्रायणी संहिता	(मूलमात्र) दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल पारडी, संवत् 1998
30.	यजुर्वेद संहिता	उव्वट–महीधरभाष्य सहित	चौखम्भा, वाराणसी, 1912
31.	यजुर्वेद–संहिता	दयानन्दभाष्य	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1929
32.	रघुवंशम् (कालिदास)	डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1975
33.	लिङ्ग पुराण	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2040
34.	वाक्यपदीयम् (भर्तृहरि)	सम्पादक – रामगोविन्द शुक्ल	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, 1980
35.	वाजसनेयी–संहिता	उव्वट–महीधरभाष्य सहित	निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई 1929
36.	वेदान्तसार (सदानन्द)	रामशरण त्रिपाठी	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1980
37.	शतपथब्राह्मण	सायणभाष्य सहित	वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1940
38.	शाकुन्तलम् (कालिदास)	रमाशङ्कर त्रिपाठी	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1985
39.	श्रीमद्भगवद्गीता	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2031
40.	साङ्ख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण)	श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1980
41.	साङ्ख्यसूत्र	विज्ञानभिक्षु	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी 1972
42.	हरिवंश–पुराण	वेद व्यास	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2035

(ब) सहायक ग्रन्थ :–

43.	अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण	वेदरश्मि	स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत 1964
44.	अग्रवाल डॉ. वासुदेवशरण	वेद विद्या	रामप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा, 1970
45.	उपाध्याय बलदेव	भारतीय दर्शन	शारदा मन्दिर, वाराणसी 1960
46.	उपाध्याय बलदेव	वैदिक साहित्य और संस्कृति	शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1967
47.	उपाध्याय भरतसिंह	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (प्रथम भाग)	बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, 1954
48.	जोशी, हरिशङ्कर	वैदिक विश्वदर्शन	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 1975
49.	त्रिपाठी डॉ. विश्वम्भरनाथ	वेदचयनम्	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1980
50.	त्रिपाठी डॉ. हरिशङ्कर	ऋग्भाष्यसङ्ग्रह	रामनारायण लाल एन्ड कम्पनी, इलाहाबाद, 1988
51.	त्रिपाठी डॉ. हरिशङ्कर	सूक्तवाक्	वेदपीठ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
52.	दामोदरन्, के.	भारतीय चिन्तन की परम्परा (हिन्दी–अनुवाद)	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1975
53.	दिवेकर, ह.रा.	वेदविद्या	रामप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा, 1970
54.	देवराज, डॉ. नन्दकिशोर	भारतीय दर्शन का इतिहास	हिन्दुस्तानी अकादेमी, इलाहाबाद 1954
55.	पाण्डेय सङ्गमलाल	भारतीय दर्शन की कहानी	रामनारायण लाल, बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1963
56.	मिश्र, डॉ. उमेश	भारतीय दर्शन	हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975
57.	मैकडॉनेल, ए.ए.	वैदिक माइथॉलॉजी (हिन्दी अनुवाद)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1964
58.	मैकडॉनेल, ए.ए.	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (हिन्दी–अनुवाद)	दिल्ली, 1970
59.	राधाकृष्णन्, डॉ. सर्वपल्ली	भारतीय दर्शन, भाग – 1 (हिन्दी–अनुवाद)	राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली, 1969
60.	रेउ विश्वेश्वरनाथ	ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970
61.	वेदालङ्कार, जयदेव	वैदिक दर्शन	भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1991

62.	शर्मा, डॉ. गणेशदत्त	ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व	विमल प्रकाशन, गाजियाबाद, 1977
63.	शर्मा, डॉ. मुंशीराम	वेदार्थ–चन्द्रिका	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1971
64.	शास्त्री, डॉ. उदयवीर	साङ्ख्यसिद्धान्त	विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान, गाजियाबाद
65.	शास्त्री मङ्गलदेव	भारतीय संस्कृति का विकास	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1960
66.	सिंह, डॉ. फतह	वैदिक दर्शन	संस्कृति–सदन, कोटा, राजस्थान 1969
67.	Agrawala, Dr.V.S.	Sparks From The Vedic Fire	Banaras Hindu University, 1962
68.	Agrawala, Dr.V.S.	Vedic Lectures	Banaras Hindu University, 1963
69.	Arnold	Vedic Metre	Oxford, 1893
70.	Bloomfield, M.	The Religion Of The Veda	I.B.House, Delhi, 1972
71.	Bose, Abinash Chandra	Hymns From The Vedas	Asia Publishing House, Bombay, 1970
72.	Bose, A.C.	The Call Of The Vedas	Bhartiya Vidya Bhavan Bombay, 1988
73.	Chakraborty, Chhanda	Common Life in the Ṛgveda and Atharvaveda	Punthi Pustak, Calcutta, 1977
74.	Chattarjee, Satischandra	The Problems of Philosophy	University of Calcutta, 1964
75.	Chattopadhyaya Dr.K.C.	Vedic Lectures	Tara Publishers, Varanasi, 1963
76.	Chaubey, B.B.	The New Vedic Selection (2 Vols.)	Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi 1973
77.	Chaubey, B.B.	Treatment of Nature in the Ṛgveda	Hoshiyarpur, 1970
78.	Das, A.C.	Ṛgvedic India	Calcutta, 1927

79.	Dasgupta, S.N.	A History of Indian Philosophy (Vol.1)	Cambridge University, Press, 1963
80.	Deussen, Pal	System of the Vedanta (English Translation).	Chicago, 1912
81.	Eliade, Mircea (Ed.in chief)	The Encyclopaedia Religion (Vols. 4, 6,10,11)	Mc'Millan Publishing Company, New York, 1960
82.	Ghate, V.S.	Lectures on the Ṛgveda	Oriental Book Agency, Poona, 1926 and 1959
83.	Griffith, R.T.H.	The Hymns of The Ṛgveda	Motilal Banarsidass Delhi, 1986
84.	Kaegi, A.	Der Regveda (Eng.Tr)	Boston, 1886
85.	Keith, A.B.	Religion and Philoso--phy of the Veda and Upanishads	Harvard Oriental Series, Nos.31, 32, 1925
86.	Macdonell, A.A.	A History of Sinskrit Literature	Motilal Banarsidass Delhi, 1962
87.	Macdonell, A.A.	Vedic Mythology	Motilal Banarsidass Delhi, 1974.
88.	Macdonell, A.A.	Vedic Reader for Students	Oxford University, Press, 1917
89.	Maxmuller, F.	A History of Anciant Sanskrit Literature	London, 1860
90.	Maxmuller, F.	India, What Can it Teach Us	Longmans Green & Co. London, 1899
91.	Maxmuller, F.	The Six Systems of Indian philosophy	Oxford University Press, London, 1898
92.	Maxmuller, F.	Lectures on the Origin and Growth of Religion.	London, 1878

93. Maxmuller, F. Natural Religion — London, 1898

94. Muir, J. Original Sanskrit Texts (5 Vols.) — London, 1858 - 72

95. Narhari, H.G. Atman — Adyar Library, Madras, 1944

96. Peterson, P. Hymns from the Rgveda — Bombay, 1898

97. Purani, A.B. Studies in Vedic Interpretation — Choukhambha Prakashan Varanasi, 1963

98. Radhakrishnan S. Indian Philosophy (Vol.1) — George Allen and Unwin Ltd. London, 1940

99. Rai, R.R.M. The Vedas — Nag Publishers, Delhi 1977

100. Raja, C. Kunhan Asya Vamasya Hymn — Ganesh & Co. Madras 1956

101. Raja, C. Kunhan Some Fundamental Problems in Indian Philosophy — Motilal Banarsidass Delhi, 1960

102. Renou, Louis Vedic India (English Translation) — Calcutta, 1890

103. Schroeder, L. Indiens Literature und Kultur (Eng.Tr.) — Leipzig, 1887

104. Shankutala, R. Aspirations From A Fresh World — Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1954.

105. Sharma, Dr.C.D. A Critical Survey of Indian Philosophy — Motilal Banarsidass Delhi, 1973

106. Wallis, H. Cosmology of the Ṛgveda — London, 1887

107. Winternitz, M. A History of Indian Literature, Vol.1 (English Translation) — University of Calcutta 1927

108. Wilson, H.H. Ṛgveda Samhita (6 Vols.) — Nag Publishers, Delhi, 1977

(स) कोश-ग्रन्थ :-

104.	आप्टे, वामन शिवराम	संस्कृत-हिन्दी-कोश	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984
110.	Dandekar, R.N.	Vedic Bibliography Ist Volume, IInd Volume	Karnataka Publishing House, Bombay, 1946 University of Poona 1961
111.	Macdonell, A.A. and Keith, A.B.	Vedic Index of Names and Subjects 2 Volumes	Motilal Banarsidass Varanasi, 1958
112.	Pathak, R.C. (Editor)	Bhargava's Anglo-Hindi Dictionary	Bhargava Book Depot Varanasi, 1987

* * * * *